श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तकों की शुभ नामावली निम्न प्रकार हैं:—

१	श्रीमान् ला०	महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ	२००१)
२	,,	,, मित्रसैन जी नाहरसिंह जी जैन मुजफ्फरनगर	१००१)
३	,,	,, प्रेमचन्द जी ओमप्रकाश जी निवार वर्कस मेरठ	१००१)
४	,,	,, सलेखचन्द जी लाल चन्द जी मुजफ्फरनगर	११०१)
५	,,	,, कृष्णचन्द जी जैन रईस देहरादून	११०१)
६	,,	,, दीपचन्द जी जैन रईस देहरादून	१००१)
७	,,	,, वारूमल जी प्रेमचन्द जी जैन मंसूरी	११०१)
८	,,	,, बाबूराम जी मुरारीलाल जी जैन ज्वालापुर	१००१)
९	,,	,, केवलराम जी उग्रसैन जी जगाधरी	१००१)
१०	,,	,, गेंदामल जी दगड़ूसाह जी जैन सनावद	१००१)
११	,,	,, मुकन्दलालजी गुलशनरायजी जैन नईमंडीमु०	१००१)
१२	,,	,, कैलाशचन्द जी जैन देहरादून	१००१)
१३†	,,	,, शीतल प्रसाद जी जैन मेरठ सदर	१००१)
१४†	,,	,, सुखवीरसिंह जी हेमचन्द जी सर्राफ बड़ौत	१००१)
१५†	,,	,, बाबूरामजी अकलंक प्रसादजी जैन रईस तिस्सा	१००१)
१६†	,,	,, जय कुमार वीरसैन जी सर्राफ मेरठ	१०००)
१७†	,,	,, फूलचन्द वैजनाथ जी जैन मुजफ्फरनगर	१०००)
१८†	,,	,, सेठमोहनलालजी ताराचन्दजी बड़जात्या जयपुर	१००१)
१९†	,,	,, सेठ भंवरीलाल जी जैन कोडरमा	१०००)
२०†	,,	,, बा दयाराम जी जैन S. D. O. मेरठ	१०००)
२१†	,,	,, मुन्नालाल यादवराय जी जैन मेरठ सदर	१०००)
२२×	,,	,, जिनेश्वरदास जी श्रीपाल जी जैन शिमला	१००१)
२३×	,,	,, बनवारीलाल जी निरंजनलाल जी शिमला	१००१)

नोट:— जिनके कुछ रुपये आगये हैं उनके पहले † यह चिन्ह अंकित है।
×इनके रुपये इन्हीं के पास हैं। और सबके रु० आ गये हैं।

॥ यत्किञ्चित् ॥

प्रिय पाठकवृन्द ! प्रवचनसार के प्रवचन में पहिले पीठिका की १४ गाथावों पर का प्रवचन प्रकाशित हो चुका है उसके बाद प्रवचन सार की १५ वीं गाथा से यह प्रवचन इस द्वितीय भाग में प्रकाशित किया जा रहा है। इस भाग में अनेक गूढ़ और वैज्ञानिक विषयों का विशद वर्णन किया गया है जैसे–आत्मस्वभाव-निरपेक्षता, शुद्ध स्वभाव में उत्पाद व्यय, अतीन्द्रियज्ञान की विशेषता, भगवान की सर्वव्यापकता, ज्ञान ज्ञेय का परस्पर संबंध व अत्यन्ताभाव, सर्वज्ञ व सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ के ज्ञान के कार्य की प्रणाली की समानता, ज्ञेय की अपेक्षा विना स्वत एव ज्ञान में परिणमनशीलता, सर्व-ज्ञान व आत्म-ज्ञान की अविनाभाविता आदि विषयों का विवरण हुवा है।

उक्त प्रवचनों का साहित्य श्री दि० जैन समाज जयपुर से प्राप्त हुआ है,जैनसमाज जयपुरने अपने यहां सन्१९५३में महाराजश्रीका वर्षा योग करानेके समय ये सब प्रवचन नोट करा लिये थे उन्हीं प्रवचनों को जिज्ञासु बन्धुओं के सन्मुख लाने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ है इसके लिये हम जयपुर समाज के आभारी हैं।

समाज सेवकः–
महावीर प्रशाद जैन
वैंकर्स,

उपाध्यक्षः–
श्री सहजानन्द शास्त्र माला
मेरठ सदर यू. पी.

आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज द्वारा विरचित

—:०★०:—

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥टेक॥

१

मैं वह हूँ जो हैं भगवान । जो मैं हूँ वह हैं भगवान ॥
अन्तर यही ऊपरी जान । वे विराग यहँ रागवितान ॥

२

मम स्वरूप है सिद्ध समान । अमितशक्तिसुखज्ञाननिधान ॥
किन्तु आशवश खोया ज्ञान । बना भिखारी निपट अजान ॥

३

सुख-दुख दाता कोइ न आन । मोह राग रुष दुखकी खान ॥
निजको निज परको परजान । फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

४

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम । विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ॥
राग त्यागि पहुँचू निजधाम । आकुलताका फिर क्या काम ॥

५

होता स्वयं जगत परिणाम । मैं जगका करता क्या काम ॥
दूर हटो परकृत परिणाम । 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

॥ ॐ नमः सिद्धम् ॥

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमत्सहजानंदजी

वर्णी जी का प्रवचनसार पर प्रवचन

(२ भाग)

परम पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्द देव द्वारा विरचित प्रवचनसार ग्रन्थ की पहली १४ गाथाओं में मुख्यता से शुद्धोपयोग, शुद्धोपयोगी और शुद्धोपयोगफल का वर्णन किया था। शुद्धोपयोग समस्त मोहक्षोभ से से रहित निर्विकार चैतन्य के परिणमन को कहते हैं और जो ऐसा शुद्धोपयोग रूप से परिणम रहा है वह है हमारा व्यवहार में आराध्य आदर्श उत्कृष्ट आत्मा। ऐसे शुद्धोपयोग रूप से परिणमनेका फल शाश्वत अविचल सत्य सुख है। आत्मा का मुख्य स्वभाव चैतन्य है, चैतन्य के परिणमन के २ प्रकार हैं १ सामान्य प्रतिभास अथवा अन्तमुर्ख चित्प्रकाश, २ विशेष प्रतिभास अथवा वहिर्मुख चितप्रकाश। कोईभी गुण दो पर्यायों से नहीं परिणमता इस लिये जब परिणमन भेद पर दृष्टि दी जावे तो गुण भेद की दृष्टि अवश्य हो जावेगी सो अन्तर्मुख चित्प्रकाश की शक्ति का नाम तो दर्शन समझिये और वहिर्मुख चित्प्रकाश की शक्ति का नाम ज्ञान समझिये। इन दोनों को चूंकि चेतन कार्य दोनों का है इस लिये चैतन्य में गर्भित किया है। वस्तुतः आत्मा अभेदस्वरूप एक अखंड सत् है उसके स्वभाव का विचार करने पर उत्तर आता है चैतन्य स्वभाव और उसका परिणमन देखने पर मिलेगा परिणमन प्रतिसमय में एक एक। अब इस अभेद स्वरूपी आत्माको समझाने का उपक्रम किया जावे तो आत्मा के अनेक सामर्थ्य और अनेक परिणमन को बताने का आवश्यक उपाय किया जाता है इस उपायको व्यवहारनय से पर्यायों और गुणों को विविध प्रकार से समझ कर पर्यायों को

पर्यायों के स्रोत गुणों में अन्तर्लीन करदें और भेद रूप गुणों को एक अभेदस्वभाव में लीन करदें और आभेद स्वभाव को स्वभावी वस्तु में लीन करदें पुनश्च ऐसा पथिक भव्यात्मा सर्व विकल्प श्रम से दूर होकर मात्र चित्प्रतिभास मय रहकर परम आनन्द का भोक्ता होता है। प्रारंभ से लेकर अन्त तक ज्ञान स्वभाव की परिणतियाँ होती रहती हैं, इन्हीं में संसार, संसारमार्ग, और मोक्ष के विभाग हैं—ये सब परिणतियां मुख्यतया तीन भागों में विभक्त कीजिये —१ अशुभोपयोग, २ शुभोपयोग, ३ शुद्धोपयोग। वस्तुतः संसार मोक्ष की व्यवस्था श्रद्धा चारित्र गुण से है परन्तु ज्ञान बिना किसी का कुछ उपयोग संभव नहीं है अतः श्रद्धा चारित्र जिसके अन्तर्गत हैं ऐसे ज्ञान स्वभावकी मुख्यता से वर्णन होना पड़ता है। अशुभोपयोग तो इंद्रिय विषयकषाय के परिणाम हैं वह अशुभराग व द्वेष का अविनाभावी है। शुभोपयोग देव-भक्ति, शील, व्रत, दान, सेवा आदि धर्मानुराग के परिणाम हैं। किन्तु शुद्धोपयोग समस्त राग द्वेष से रहित समतापूर्ण चैतन्य के विकास रूप शुद्ध परिणाम हैं। ऐसे निर्दोष शुद्धोपयोग को जिन्होंने प्राप्त किया है उन श्रेष्ठ आत्माओं के स्वरूप का वर्णन चौदहवीं गाथा में हो चुका है।

अब शुद्धोपयोग के लाभ के अनंतर होने वाले विशुद्ध आत्मस्वभाव के लाभ का अभिनन्दन करते हैं। अथ (अब) यह शब्द किसी उत्तम बात के कहने से पहले प्रयोग में आता जैसे दो भाई विवाद कर रहे हों तो कोई कहे देखो जैसा जो कुछ हुआ सो ठीक है "अबतो"। आप सोचिये इस के बाद क्या कहना अभीष्ट है क्या यह कि अब तो सिर फुटौवल करो, नहीं। अब तो विरोध छोड़ो, संगठन करो, शांति करो, क्षमा करो आदि। इसी प्रकार यहाँ शुद्धोपयोग से विशुद्ध परमात्मा के लाभ का अभिनन्दन अथ शब्द से सूचित कर प्रारम्भ करते हैं। अथवा किसी विशिष्ट श्रमसाध्य कार्य करते हुए बीच में "अबतो" शब्द से नया कदम प्रयत्न करने को सावधान सोत्साह किया जाता है जैसे अब यह करो बहुत श्रम बाद अब यह करो कर चुकने के बाद अब यह

करो आदि। इसी प्रकार अब शुद्धोपयोग के फल को देखो उस के बाद अब शुद्धोपयोग में परिणत आत्माको देखो, अब शुद्धोपयोगसे विशुद्ध परमात्मा स्वभावके लाभ का अभिनन्दन करते हैं। देखो भैया! यहां उस परमात्माकी प्राप्ति का अभिनन्दन है जिसके लाभ का अभिनन्दन हों, स्वागत हो, प्रतीक्षा हो उस वस्तु का तो अभिनन्दन कहने से भी अधिक ढंग से गर्भित हो ही गया। इस प्रकार से श्री अमृतचन्द्र सूरि जी श्री मत्कुन्दकुंदाचार्यके इस गाथा के प्रारंभिक भाव को स्पष्ट करते हैं। अथ शुद्धोपयोगलाभान्तर भाविविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति—अथ शुद्धोपयोग की प्राप्ति के अनन्तर स्वयं होने वाले विशुद्ध आत्मस्वभाव के लाभ का अभिनन्दन करते हैं

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥१५॥

जो उपयोग से विशुद्ध होकर या चार घातिया कर्मोंसे रहित हो जाता है वह समस्त ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को स्वयं पा जाता है। वह उपयोग कौनसा है जिसके द्वारा विशुद्ध होता है. वह चैतन्य परिणाम रूप उपयोग है शुद्धोपयोरूप है अनादि अनन्त अखंड निर्मल शुद्ध चैतन्य का लक्ष्य अनुभावन अनुभव से जो यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तता है। यथाशक्ति से प्रयोजन स्थिरता एकाग्रता जिसकी जैसी है उस प्रकार से। इस अखंड चैतन्य भावका अवलोकन चौथे गुणस्थान में हो जाता है परन्तु अविरति भाव होने से उसमें स्थिरता नहीं हो पाती। पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम होने से देश संयम होता है कुछ अविरति भाव समाप्त हो जाता है अतः कुछ स्थिरता होती है छटे गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणकषाय का भी क्षयोपशम होता है वहाँ अविरतिभाव नहीं रहता वहां कुछ ही विशेष स्थिरता होती। आगे प्रमादरहित गुणस्थान में करणत्रयवर्तियों में सूक्ष्मसाम्पराय में उपशान्तमोह क्षीणमोह में अधिकस्थिरता रहती है

क्षपक श्रेणी में उपशान्त मोहभाव नहीं होता किन्तु क्षीणमोह होता है।

इस प्रकार यथाशक्ति विशुद्ध होकर मोक्षमार्ग के सफल योगी शुद्धोपयोग की चरम सीमा पर पहुंचते हैं। यह सब उस अखंड चैतन्य भाव के लक्ष्य का फल है जो अनादि से हम ही में है परन्तु उस ओर पर्याय-बुद्धि के संस्कार से रुचि उत्सुकता नहीं हुई थी। उस भाव के समझने के लिये कुछ अध्यात्मोपयोगी नयों का जानना आवश्यक है—अध्यात्म दृष्टि से नयों को संक्षेप से चार रूप में रख लीजिये-१ परमशुद्धनिश्चयनय, २ शुद्धनिश्चयनय, ३ अशुद्धनिश्चयनय, ४ व्यवहारनय। यहां निश्चयनय और व्यवहारनयको अपने घरू शब्दोंमें ऐसा समझिये कि जो उस ही वस्तु में दिखावे सो निश्चयनय और अन्य द्रव्य के सम्बन्ध की कथा करते हुए उस सम्बन्ध में जो कहा जावे सो व्यवहारनय। अब उन तीनों निश्चयनयों में यह अपने आप घटा लेना कि निश्चयनय का स्वरूप घट (गया) या नहीं। देखिये व्यवहारनय से ऐसी बातों का प्रतिपादन है—कि आत्मा के क्षेत्र में कर्मवर्गणा का भी सम्बन्ध है, कर्म के निमित्त से रागादि होते हैं आदि। अशुद्ध निश्चयनय का विषय यह हैजैसे-आत्मामें राग,रागी अशुद्धआत्मा आदि,शुद्धनिश्चयनय व अशुद्ध निश्चयनय पर्याय का अवलोकन करते हैं परन्तु शुद्धनिश्चयनय तो शुद्ध अवस्था को और अशुद्धनिश्चयनय अशुद्ध अवस्था को देखता है। शुद्धनिश्चयनय अखंड वस्तु की श्रद्धा कर गुण गुण को भेद रूप से भी देखता है। अशुद्धनिश्चयनय के उदाहरण में यह बात प्रकट होती है कि राग आत्मा के चरित्र गुण का विकार है। वह जीव का स्वतत्त्व है जीव में वह अशुद्धता जीवके गुणोंकी है। उसी वस्तुकी अशुद्धावस्था उसी वस्तु में बताई। शुद्धनिश्चयनय के उदाहरण ये है जीव की सिद्ध पर्याय, आत्मा का अनन्तसुख तथा आत्मा के ज्ञान दर्शन गुण आदि। यहां जीव की शुद्धावस्था जीव की कही गई तथा जीव के गुण जीव में ही बताये गये। अब परम शुद्धनिश्चयनय को देखिये जिसके विषयकी दृष्टि लक्ष्य पर्याय की निर्मलता का संपादक है परमशुद्धनिश्चयनय वस्तु

के अनादि अनंत सामान्य स्वभाव को देखता है। वह पर्यायों व भेद विकल्पोंको गौण करके ही देख पाता है. धर्मी को देखताहै अभेद रूपसे, आत्माका अनादि अनंत सामान्य स्वभाव है चैतन्य भाव। यह निगोद अवस्थामें भी था और सब अवस्थाओं में भी है सिद्धपर्याय में भी है। इसके नाम परमपारिणामिक भाव, कारणसमयसार, सामान्य स्वभाव आदि अनेक हैं। इस कारण समयसार के लक्ष्यमें रत्नत्रय परिणाममें उत्तरोत्तर निर्मलता होती है और अन्तमें पूर्ण शुद्ध अर्थात् कार्यसमय सार रूप हो जाता है। कार्य समयसार रूप होने पर भी सामान्य स्वभाव या कारणसमयसार कहीं नष्ट नहीं हो जाता है रहता ही है परन्तु सदृश बात होने के कारण सामान्य स्वभाव में वह विशेष मिल जाताहै। उन्हें अब कारणसमयसार यह संज्ञा इस लिये नहीं दी जाती कि वे परमात्मा कार्यसमयसार होगये हैं अब उनको कारण या लक्ष्य की आवश्यकता नहीं। कारण शब्द सापेक्ष है अतः उनके लिये कारण समयसार यह संज्ञा भलेही न रहो परन्तु वह सामान्य स्वभाव है ही। उस भाव का लक्ष्य परमसुख रूप है अनन्त सुखका कारण है।

इस तरह ज्ञायकके लक्ष्यके अनंतर जो पूर्ण निज अनुभव हुआ वह अर्थ है, अर्थ अनुभवनीय है द्रव्य गुण पर्याय ज्ञानके लिये हैं। मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्यके त्यागसे पवित्र बुद्धिसे अपनी पात्रता बना कर इस ही निज शुद्ध चैतन्य सामान्याभव रूप भगवानकी अराधना करो। जगतमें कुछ सार व हित नहीं है। यह ही सार है, हित है। इसलिये उपयोगसे विशुद्ध होनेका प्रयत्नकरो, आत्मा अन्य कर ही क्या सकता जो कर सकता है उन्हींमें सार तत्त्वको बताया है। उपयोग ३ प्रकारके होते हैं अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। आत्माभी इनके सम्बन्धसे ४ प्रकारके हैं अशुभोपयोगी, शुभोपयोगी, शुद्धोपयोगी और शुद्धोपयोगफल प्राप्त कर लेने वाले। इनमें अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यक्त्वी व सम्यग्मिथ्यादृष्टि है इनमें उत्तरोत्तर अशुभोपयोगकी मंदता है। शुभोपयोगी अविरतसम्यग्दृष्टि देशसंयत व

प्रमत्तविरंत इन तीन गुख स्थानों में हैं इनमेंभी शुभोपयोगकी तरतमता है। करणानुयोगकी अपेक्षासे जहाँ से शुल्कध्यान हो वहांसे शुद्धोपयोग मानना चाहिये। अध्यात्मदृष्टिमें प्रमादरहित अवस्था होनेके कारण सप्तमें शुद्धोपयोगका लाभ दीखता है। इस ग्रन्थके रचयिता शुभोपयोग व शुद्धोपयोगमें अन्तर्मुहूर्तमें परिवर्तन करते करते हुए थे तभी इनकी वाणीमें शुद्धोपयोगका यह सत्य संदेश निकला। कि जो चैतन्य परिणामय इसी शुद्धोपयोगमें रहते हैं वे समस्तघातियाकर्मोंका नाश करके स्वयं सर्वज्ञ हो जाते हैं। उस परमशुद्ध तत्त्वका दृढ संक्रान्तिरहित एक अन्तर्मुहूर्तको उपयोग हो तब घातीशक्ति टिक नहीं सकती विशुद्ध आत्मस्वभवका लाभ अवश्यंभावी है।

हमको काम एक ही करना है, अनेक काम नहीं करने! वह क्या! निज चैतन्य भगवानकी उपासना करना या शुद्धात्माकी अराधना करना लेकिन उसके साथ कोई भी विकार नही होना चाहिये। आराधना कहते किसे हैं! भगवानकी अराधना निर्विकाररूपकी साधना करना है। जबकि भगवानकी अराधना की जाय तो आत्मामें कोई भी विकार नहीं होना चाहिये।

बड़े २ ऋषी मुनी संसारमें होते हैं वे यही तो किया करते हैं। लौकिकोंको दीखता है कि वो अपने शरीरको कष्ट देते हैं। गृहस्थोंको भी उचित है कि लक्ष्य उसी शुद्ध तत्त्वका रखें इस ही प्रयोजनके लिये सब कुछ करें इन्द्रियोंको अच्छे रास्ते पर लगावें। हम हमारी न्द्रियों से ही हमारा बुरा भी कर सकते हैं व कल्याणभी कर सकते हैं।

यही शरीर हाथ है इनसे दूसरोंका वैयावृत्यभी कर सकते हैं अनेक उपकार कर सकते हैं, इसीसे मोहीजन विषय सेवन करते हैं इसमें प्रथम वात तो यह है कि यह सब दोष इन्द्रियोंका नहीं, भीतरी कषाय है कपायका तीव्रज रहे तो बुरा काम न करें। इसी तरह यह रसना देखो इससे गुणियोंके गुणगानभी कर सकते इसीसे मूर्ख लोग

गालियां देते।

नाक तो कोई खास कामकी चीज नहीं। बेकार ही इसको मुँह के आगे लगा दिया हैं। लेकिन इससे बिगाड़ कितना? अगर किसीको कह दिया जाय कि तेरा तो नाक कट गया तो उसको कितना गुस्सा आता है और वह तुमसे लड़नेको तैयार हो जाता है। तो इस नाकसे मनुष्यका बिगाड़ भी हो जाता है। इसी तरह आँख मनुष्यको लगी है। हम चाहे ती कइयोंका भला कर सकते हैं और यही आंख बुरा-भी कर सकती है। इसी तरह जीभ है। इससेभी हम कइयोंका भला कर सकते हैं और बुराभी कर सकते हैं

ये ही कान है जिनकेद्वारा अध्यात्मवाणी व तत्त्वज्ञानकी बातें सुनकरके अपने हितमें लग सकते हैं और इन्हींसे मोही रागभरी विकथायें रागनियां सुनकर आत्माके अहितमें लग जाते हैं। इन सब बातों-में भैया हम सबको अपनी बोली पर अधिक ध्यान देना चाहिये, बोली ही व्यवहारमें मनुष्यका सर्वस्व है।

जीभसे याने वाणीसे हम कई तरहके दुर्लभ काम भी बड़ी आसानीसे कर सकते है। इस जीभसे कभी ऐसी वाणी नहीं निकालनी चाहिये जिससे किसी मनुष्यको दुःख हो। जीभसे हमेशा दूसरों के गुणोंका वर्णन करना चाहिये। कभी जीभसे ऐसी वाणी न बोलो जिससे दूसरोंका और खुदका अहित हो। खराब वाणीसे कई समय दूसरे मनुष्योंका नाश हो जाता है। एक लकडहारा और एक शेर था। शेरके काटा लगा इसलिये उसने अपना पंजा लकडहारेके सामने रख दिया। लकड़हारा समझ गया कि शेरके कांटा लगा है। और उसने शेरके पंजेमेंसे काटा निकाल दिया। शेर उसका कृतज्ञ हो गया और उससे कहा कि तुम जो बोझ लादकर ले जाते हो अब उस बोझके लिये मेरी पीठ तैयार है दूसरे रोजसे उसकी पीठपर लकड़ी लाने लगा। वो खुद २५ सेर लाता था तो शेर पर दूसरे रोज १ मन लादी, तीसरे रोज २ मन लादी चौथे रोज ३ मन लादी इस तरह उसका लालच बढ़ता

गया। १५ दिन बाद वह धनवान बन गया। किसी पड़ोसीने उसे धनवान बननेका कारण पूछा तो उसने कहा कि एक ऐसा गधा हाथ लगा है जो मेरा बोझ लाद लाता है। शेर यह बात सुन रहा था। जब दूसरे दिन वह उस पर लकड़ियां लादने लगा तो शेरने उससे कहा कि तुम अपनी कुल्हाडीसे मेरी गर्दन काट दो अगर नहीं काटोगे तो मैं तुमको मार डालूंगा। लकडहारेने सोचा कि नहीं मारूंगा तो मैं मारा जाऊंगा इसलिये उसने जोरसे कुल्हाडीकी धारसे गर्दन काट दी मगर वह शेर मरता २ बोला कि मैं तुम्हारी कुल्हाडीकी धार सहन कर सकता हूं किन्तु तुम्हारी वाणी या वचन जो कि तुमने मुझे गधा कहा मैं सहन नहीं कर सका। इसलिये वाणी कभी खराब नहीं निकालनी चाहिये। इस वाणीसे हमको दूसरोंके लिये अच्छे शब्द निकालने चाहिये। यह वाणी अच्छे कामोंके लिये प्रयोगमें लानी चाहिये इस तरह हमको हमारी सब इंद्रियां अपने वसमें रखनी चाहिये।

अगर हम मन और इंद्रियोंको वसमें रखेंगे तो हमारा मोह सब दूर हो जायेगा। मोहकी गांठसे मनुष्यका छूटना बड़ा ही मुश्किल है। स्त्री पुरुषका मोह, पिता पुत्रका मोह, भाई भाईका मोह यह सब मोह मनुष्यको मोक्ष-मार्गमें से हटाकर खराब रस्ते लेजाता है। मनुष्य पांच २ पीढियोंतक अपने पोतो, पडपोतों, सड़पोतों में लिपटा रहता है। संसारी जालमें बंधा रहता है। ऐसे मनुष्यका मोह कैसे छूट सकता है। बल्कि हमारे यहां जब कि मनुष्यके पडपोते हो जाते हैं और फिर वह मरता है तो उसकी खुशियां मनाते हैं और समझाते हैं कि यह तो स्वर्ग जायगा। बल्कि जब वो मरता है तो उसकी चिता पर सोनेकी सिढ्ढियां बना कर रख देते हैं कि यह तो स्वर्ग में चढ जायगा। मगर यह मालूम नहीं कि ये सिढ्ढियां ऊपर चढाती है तो नीचे भी उतारती हैं। जो मनुष्य सारी जिन्दगी भर मोहके जालमें फंसा रहा उसकी कैसे आशा की जाय कि वह मोक्ष प्राप्त करेगा यहां तो उत्सवभी प्रायः मोहमें फंसनेकी खुशीके है। देखो प्रायः

जितने भी बाजे बजते हैं ये सब मोहके आगमनके बाजे बजते हैं। सगाई हुई तो बाजे. वे किस बातके बाजे ! अब इसके मोहमें फंसने की बात पक्की करदी, विवाह हो तो बाजे वे किस बातके ? अब इसके मोहमें फसनेका साधन जुटा दिया गया। अगर किसीके लड़का हुआ तो उसकी खुशीमें बाजे बजेगें लेकिन यह खयाल नहीं कि मोह रूपी इस दुष्ट शत्रुके चुंगलमें फसानेके लिये और कोई संसारमें आगया। इस लियें ये जितने भी बाजे बजते हैं सब मोहके आगमनके बजते हैं।

मनुष्य धनसे मोह करता है । धन कमाने के लिये कई तरह के प्रयत्न करता है। कई तरहकी जालसाजी करता है। करोड़ों रुपये इकट्ठा करता है। खूब धन इस संसार में जमा करता है लेकिन मरने के बाद सब धन यहांके यहाँ रह जाता है और वह इस छोटे से मनुष्य कालमें अपने आगे साथ चलनेके लिये कुछ भी नहीं कर पाता है। क्योंकि जो धन उसने कमाया है वह मरने पर उसका साथ छोड़ देता है। और मोह रूपी पापकी गांठ उसके लिये आगे चली जाती है। मनुष्य अपने धन, जायदाद आदि के पीछे पागलसा हो जाता है और मोह में फंस जाताहै। अगर वो मोह छोड़कर परमात्मामें अपना ध्यान लगाये तो यहां तो उसकी थोड़ीसी जायदाद है मगर भगवानके ध्यानमें वो तीनों लोकों का स्थायी अधिपति हो सकता है । तीन लोक ३४३ घन राजू है जब कि एक राजूका प्रमाण इतना है जिसमें असंख्याते द्वीप समुद्र हैं बल्कि ये भी एक राजू से कम ही है। ऐसे तीनों लोकों में ३४३ घन राजू हैं। जिसमें मनुष्य १० या १२ कोसकी जगह केलिये मोहमें फंस जाता है और अपना आगेका जीवन नष्ट कर देता है।

यह मनुष्य भगवानके सामने बैठ कर जाप करता है तो भी मोह उसकी गोद में बैठा रहता है । जैसे कि एक मनुष्य माला जप रहा है। तो गोदमें तो अपने बच्चों को बैठा रखा है और हाथमें माला जप रहा है। इस प्रकार मनुष्य मोहको तो भगवान के सामने भी नहीं छोड़ता है ।

यदि मनुष्य मोहकी गांठ अपने मनमें से खत्म करदे तो उसके अपने आप ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय ये तीनों खत्म हो जायेंगे और वह सच्चे स्वरूपसे युक्त अनन्तसुखी हो जायगा। नहीं तो मोह की गांठ तो पीड़ा ही देवेगी।

जिस तरह कि पुष्पडाल मुनी तो होगये लेकिन फिर भी उनके मनमें मोहने जगह रखी। उनके मनमें यह ख्याल रहा कि मैं मेरी स्त्री (जो कि कानी थी) को कहकर नहीं आया। वह बेचारी कैसे रहती होगी। कैसे काम करती होगी। इस तरहका मोह मुनी होने पर भी उनके मनमें रहा। जब वारिषेण मुनीने यह हाल देखा तो सोचा कि इनके मनमें से मोह नहीं छूटा है। ये अभी मोह रूपी जालमें बंधे हैं। साधु होगये हैं मगर ये मोह के संसारमें भटके हुये हैं। यह भाव देख करके वारिषेण मुनीको दुख हुआ और वो उनका मोह भाव छुड़ाने के लिये प्रयत्न करने लगे।

उन्होंने अपनी माताको कहला भेजा कि मैं आरहा हूं। तुम मेरी ३२ रानियों को सजाकर अच्छे अच्छे वस्त्र, आभूषण पहनाकर तैयार रखना। मां बहुत दुविधामें पड़ गई कि बेटा तो मोहको छोड़कर मुनी हो गया था अब उसे इस मोहने कैसे पकड़ लिया। लेकिन माताने फिर सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता है उसने खराब भावना रखकर रानियोंको नहीं सजवाया है। वह मोहमें अब नहीं फंस सकता है और उसने रानियों को खूब अच्छी तरह सजाया। उसने उसके लिये दो सिंहासन लगवा दिये। एक तो सोनें का और दूसरा काठका। जब दोनों मुनी आये तो खुद वारिसेण मुनि तो काठके सिंहासन पर बैठ गये और पुष्पडाल मुनी को सोने के सिंहासन पर बैठाया। मुनियों को स्वयं सोनेके सिंहासन पर बैठनेसे राग होताहै मगर कोई बैठाये तो पाप के भागी नहीं होते। इतने पर जब पुष्पडाल मुनि ने ३२ रानियों को देखा तो उनको ताज्जुब हुआ कि वारिषेण मुनिके ३२ रानियां हैं और वो हैं भी बहुत सुन्दर, फिर भी इन्हें जरा भी मोह नहीं और मैं मेरी

कानी स्त्री पर इतना मोह रखता हूं । तो उनको बहुत शर्म आई और उनका उस समयसे मोह की तरफ से ध्यान हट गया । इसलिये मोहको खत्म किये बिना हम भगवान की सच्चे स्वरूपमें आराधना नहीं कर सकते हैं । सुखार्थी को किसी भी रूपमें किसीभी चीजका मोह नहीं होना चाहिये ।

अब तो भैया ऐसा करें जैसे और लोग पेन्सनर रिटायर वृद्ध होने पर तीर्थ क्षेत्र में भजन भक्तिके लिये चले जाते हैं वैसे अपनेको भी अधिक अवस्था होनेपर सर्व था मोह छोड़कर सत्संग या उत्तम क्षेत्रों पर भगवदाराधना में जीवन लगाना चाहिये । शेर, सज्जन पुरुष और हाथी इनको अपनी जगह का मोह नहीं होता, ये अपनी जगह छोड़ देते हैं और कौवा, मोही और हिरण ये अपनी जगह कभी नहीं छोड़ते हैं । ये अपनी जगहसे मोह बहुत रखते हैं । अपनी जगह ही मरेंगे । जैसे कौवा हमेशा अपने ही गांव में रहता है कभी अपने गांवको छोड़ कर दूसरे गांवमें नहीं जायेगा । ये लोग भी मोहमें बंधे रहते हैं । उत्तम पुरुष वो ही हैं जो अपने घरमें नहीं मरे । अपने घरकी लकड़ी अपने न लगवाये अर्थात् मोहके वातावरणमें न मरें । किसी दूसरे जगह जा कर मरे और किसी साधर्मी की लकड़ियां लगवावें अर्थात् सहधर्मियोंके वातावरण में समाधि मरण कर अपना मोह बिल्कुल छोड़ देवें । जहां मनुष्य वृद्ध अवस्थामें पहुंचा कि उसको घरवार छोड़ देने चाहिये और जंगल में या सत्संग में जाकर भगवान का जप करना चाहिये । और अपने मोह से छुटकारा पा लेना चाहिये ।

सब से पहले आत्माको मोहसे छुटकारा पाना चाहिये इसके बाद धीरे धीरे अन्य सब खराबियां दूर हो जाती हैं । मोहसे मुक्त होनेका मूल उपाय विशुद्ध चैतन्य स्वभाव का ऐसा ही मैं हूं इस विश्वास गर्भित लक्ष्य होना है इस ही से विशुद्धता पर्याय निर्मलता स्वयं प्रकट होती है तब यह पर्याय कर्मगत संवर निर्जरा पर्यायका निमित्त होताहै इस प्रकार आत्माकी शुद्ध चैतन्य व्यक्ति अथवा भेद रूपसे ज्ञान, दर्शन व शक्तिका

घात करने वाले घातित्रय का अभाव हो जाता है सम्यक्त्व व सुखका घात करने वाले दर्शनमोहनीय व चारित्र मोहनीयका पहिले ही आभाव हो जाता है। यहां इस शुद्धात्मा की शक्ति अप्रतीघात प्रवृद्ध हो जाती है सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। यही विशुद्धात्मस्वभाव का लाभ है। विशुद्ध ज्ञान होने पर यह इतना ही जाने ऐसी सीमाका कोई कारण नहीं है अतः सर्वज्ञेयके ग्रहण (जानना) रूप निज ज्ञान व्यक्तिको रखता है क्यों कि आत्मा तो ज्ञान स्वभाव है ज्ञानका जानना स्वभाव है—कार्य है, जानन अर्थविषयक होता है सो अर्थ–ज्ञेय जितना है उतना ही ज्ञान कहलाता है इस कारण शुद्धवस्तुके श्रद्धा लक्ष्य भावना अनुभवन परिणमनके प्रसादसे यह विशुद्ध आत्मा सर्वज्ञेयों को (उपचारसे) निज सर्वज्ञेयाकारोंमें रहनेवाले ज्ञानस्वभाव वाले अपने आपको पालेता है। ऐसे शुद्धात्मस्वभावका लाभ जिसमें कि अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख अनंतशक्तिका अनंत सुविलास है शुद्धोपयोगसे प्रसिद्ध होता है।

अब कहते हैं कि ऐसा शुद्धोपयोगजन्य शुद्धात्मस्वभावका लाभ किसी भिन्न किसी कारककी अपेक्षा नहीं रखता है अर्थात् विकास अपनेमें अपने द्वारा अपनेलिये अपनेसे अपनेआप प्रकट होता है अर्थात् वह बिलकुल निज आत्माधीन है ऐसी स्वाधीनताको द्योतते हैं प्रकाश करते हैं जगमगाते हैं यह जगमगाहट स्वयंको पानेपर ही होता है तब यही सिद्ध हुआ कि आचार्य महात्मा स्वयं अधिक्रान्त होते हैं और व्यवहारसे जगत्को प्रकट करते हैं निज परम ज्ञान व सुख रंचभी परके आधीन नहीं है ऐसी द्योतना करते हैं–

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६ ॥

इस प्रकार प्राप्त किया है स्वभाव जिसने, सर्वका ज्ञाता सर्वलोक (त्रिलोक) के अधिपति असुरेन्द्र चक्रवर्ती सुरेन्द्रोंकेद्वारा सादर सभक्ति महित पूजित परमनिर्मल शुद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त आत्मा स्वयं होता

है इसीलिये यह भगवान स्वयंभू है ऐसा वीतराग उपदेष्टावोंने निर्देश किया है।

निश्चयसे यह ही आत्मा शुद्धस्वभावकी भावनाके प्रभावसे शुद्ध अनन्त शक्ति चैतन्य स्वभाव के पूर्ण विकास वाला होता है इस आत्मा में समझने योग २ मुख्य उपाय हैं? १—प्रदेश, २—ज्ञान अथवा चैतन्य इनमें समस्त संसारियों, संज्ञियों की दृष्टि वस्तुनिर्णय के समय प्रादेशिकी होती है चैतन्य भाव की दृष्टि से सर्व निर्णय करना विरले समाधि प्राप्त महात्माका कार्य रह गया है। प्रदेश दृष्टि-स्थूल दृष्टि है जिस से विस्तार का अनुमान रहता है। चैतन्य दृष्टि सूक्ष्मदृष्टि है जिस में इस ज्ञेय तत्त्व की देशकालकी सीमा नहीं होती अर्थात् देशकालसे परे चैतन्यभाव होता है। आत्मा का वर्णन जब प्रदेश सापेक्ष होता है तब वह जगद्व्यापी नहीं रहता और चैतन्य स्वरूप का दर्शन रहता है. वहाँ निर्विकल्प स्थिति होती है और वह चैतन्यस्वरूप सामान्यविशेषात्मक होने से सामान्यशक्ति अर्थात् दर्शनके द्वारा सर्वदृष्टा तथा विशेषशक्ति अर्थात् ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञाता रहता है अतः वह चैतन्यात्मक परमात्मा सर्वव्यापी है फिर भी न व्यापी है न अव्यापी है ऐसा सर्वव्यापी है। उस ही चैतन्य सामान्यका विशेष अर्थात् प्रकाश यह सर्व परिचित है। सूक्ष्मदृष्टि द्वारा ज्ञेय सर्वव्यापी चैतन्य भगवान् का यह प्रकाश है इस वर्णनपरम्परा से वर्णन तो मुख्य रहगया और सूक्ष्मदृष्टि के स्थान को प्रदेशमुखी स्थूलदृष्टि ने ग्रहण किया अतः कितने ही अध्यात्मप्रयत्नशील साधुवोंने, विद्वानोंने, इसे इस स्वरूप में समझ लिया कि लोकमें व्यापी एक निर्विकार परमेश्वर है जिस की छाया अन्तःकरणों पर पड़ने से और अन्तःकरण का जीवात्मा से संबंध होने से उस जीव को सुख दुख का भ्रम हो गया सुख दुख तो अन्तःकरण को ही होते हैं। यहाँ तत्त्व समझने केलिये विकल्प कीजिये कि क्या जीव और अन्तःकरण क्या ये २ पदार्थ हैं या वर्तमानमें एक रूप हैं यदि ये २ पदार्थ हैं तब अन्तःकरण ज्ञानमय है या जड़ यदि जड़ है तो उसमें

सुख दुख का वेदन नहीं हो सकता यदि ज्ञानमय है तो उसके सुख-दुख का वेदन उसमें ही रहा यदि इस प्रक्रियाको देखकर जीवने भ्रम-वश सुख दुख किया तो वह सुख दुख का परिणमन जीव का जीव में रहा और ऐसी अवस्थामें दोनों पृथक् स्वरूपास्तित्वमय हुए अर्थात् दोनों चेतन द्रव्य हो गये और फिर उनके स्वयं ज्ञानमय होने से पृथक् परमेश की छाया की आवश्यकता क्या रही। यदि वे स्वयं अचेतन हैं तो चेतन की छायासे भी क्या चेतन का काम निकल सकता ? नहीं। इस प्रकार इस सुख दुख की अवस्थामें भी यह वही आत्मा है जो इस अव-स्थाके त्याग पूर्वक शुद्ध अवस्था प्रकट करके स्वयं परमात्मा होता है। आत्मा तो ध्रुव पदार्थ है फिर भी प्रति समय अपनी अवस्था रखता है। क्योंकि पर्याय (अवस्था) के विना द्रव्य नहीं रहता। ऐसा अनंत ज्ञानशक्तिक यह आत्मा निमित्त नैमित्तिक भावकी प्राकृतिक व्यवस्थाके कारण कर्मोदाधिवशसमागत रागद्वेषादि रूप अज्ञानपर्यायमें रहता है रागद्वेषादि का संचेतन विना मन वाले जीवों के संज्ञा शब्द से कहा गया है और मन वाले जीवों को मन शब्दसे कहा है जो मूर्तिक द्रव्य-मनके आश्रयसे जन्म होता है इस तरह समल आत्माकी एक अवस्थाका नाम मन है। इस अवस्थाका त्याग निज शुद्ध परमात्माके लक्ष्यके प्रसादसे होता है सो यह ही आत्मा जब स्वपरभेद विज्ञानके उपायसे निज ब्रह्मका सहजस्वरूपास्तित्व समझ लेता है और उसे अभेदशैली से भाता है तब उस शुद्ध चैतन्यकी भावनाके प्रभाव से अर्थात् इस विशुद्ध निर्मल पर्यायके निमित्तको पानेसे मोहनीय ज्ञानावरण दर्शना-वरण अन्तराय ये चारों घातियां कर्म अस्तमित हो जाते हैं। यह सारा जगत् जिसमें कोई द्रव्य स्वभावपरिणत हो या कोई द्रव्य विभावपरि-णत हो सर्व, किसी न किसी वाह्य पदार्थ के सद्भाव या अभावके निमित्तको पाकर अर्थात् निमित्त नैमित्तिक भाव की व्यवस्थासे परिणम रहा है यहां जो परस्पर उनका सम्बन्ध सोचता उन की संयोगाधीन दृष्टि है जो संसार परिभ्रमण का कारण है और जो स्वचतुष्टय परिणति

से ही सर्व परिणमते हैं इस निश्चयके कारण किसी भी द्रव्यकी परिणति से ही उस ही की परिणति होती हुई निरखते हैं वे स्वरूपास्तित्वदृष्टि वाले हैं। स्वरूपास्तित्वका सब दर्शन आस्तिक्य भाव है ।

इस प्रकार निज अखण्ड शुद्ध परमात्माके भावन से घातिया-कर्मोंके संपर्कसे रहित होने वाला जीव स्वयं निज शुद्ध अनन्तशक्तिक चित्स्वभाव को समुपलब्ध कर लेता है—पालेता है। अहो यह चैतन्य स्वभाव स्वयं स्वयंमें है इसलिये समुपलब्ध शब्द दिया है अर्थात् लब्ध का भाव है प्राप्त किया, उप का भाव है समीपमें अथवा अपने में और सम् का भाव है सम्यक् प्रकार स्वाधीनता निर्विपादेन समपरिणाम भावेन आदि। इस तरह यह पूर्ण अखण्ड निर्मल चैतन्य स्वभावको स्वपरिणतिसे प्राप्त करता है वहाँ उस शुद्ध अनन्तशक्तिमय ज्ञायक स्वभावसे स्वतन्त्रतया परिणमता है इसलिये कर्तृत्वका अधिकार आत्मा ने ऐसा स्वतन्त्र पाया है सूत्र भी यही कहता है स्वतन्त्रः कर्ता। शुद्ध-ज्ञायक स्वभावसे परिणमता हुआ आत्मा विना अन्य की परिणति लिये निरपेक्ष होकर परिणमता है। यह तो शुद्ध आत्माकी बात है। अशुद्ध अर्थ भी विना अन्य की परिणति लिये निरपेक्ष होकर परिणमता है कोई भी द्रव्य अपनी परिणति करने के लिये किसी निमित्त आदि की अपेक्षा प्रतीक्षा नहीं करता है कि मुझे ऐसा परिणमना है सो इसके अनुकूल कोई निमित्त मिल जावे। जो भी वाह्य अर्थ का सद्भावरूप निमित्त हो या अभावरूप निमित्त हो या केवल काल द्रव्य निमित्त हो निमित्ताभाव तो कभी रहता ही नहीं सो जैसा निमित्त हो उसको निमित्त मात्र पाकर वस्तु अपने परिणमन स्वभावके कारण अपनी चतुष्टय परिणति से ही परिणमता है। यहां विशुद्ध आत्मा परिणम रहा है वह अपने शुद्ध चित्स्वभाव से स्वतन्त्रतया परिणम रहा है इस लिये विशुद्ध आत्मस्वभाव लाभ का अन्य कोई अर्थ कर्ताकारक नहीं है। प्रत्येक पदार्थोंमें भी जो कार्य होते हैं वह उसकी ही परिणति से होते हैं। वाह्यसे अन्यका कोई परिणमन नहीं होता। चित्स्वभाव का

स्वभाव विकास होना धर्म है यही शांतिका स्रोत है। यह निर्विकल्प स्व के लक्ष्य से आविर्भूत होता है। कोई कहे कि मुझे धर्म करना है अतः ये दस हजार रुपये मैं किसी जगह लगाना चाहता हूं उस दस हजार के लगाने से धर्म हो जायगा यह नहीं है। रुपया तो जड़ पौद्गलिक है उसकी किसी परिणति से उसका ही परिणमन उसकी ग्रहणत्याग अवस्था (विशिष्टदेशावस्थितता) होने से तुम्हारा धर्म नहीं प्रकट होगा किन्तु धन पर वस्तु है पर का लक्ष्य छूटने से निज निर्विकल्प परमानंद में जो अवस्थिति है वह धर्म है। धनका मोह छूटने पर भी जो यह विकल्प रहता है कि इसे किसी अच्छे स्थान में लगादूं यह दया या भक्ति से भरा शुभ राग है जिसकी वेदना मेटनेका यह भी प्रतीकार है। वस्तु स्वरूप ठीक समझकर जो चेष्टा होती वह व्यवहार धर्म है। अन्यथा दस हजार रुपया देकर अपना नाम या कीर्ति का चाह करने का लोभ लगा लिया तब तो वह कषाय का ही सिञ्चन करने वाला हुआ। धर्म चित्स्वभाव की निर्मल व्यक्ति ही है, वह ज्ञायक आत्मा के स्वतंत्र तया प्रकट हुई है अतः विशुद्धात्म-स्वभाव लाभ का यही आत्मा कर्ता है।

यहां यह बतलाया जा रहा है कि शुद्ध उपयोग के लाभ के अनन्तर जो शुद्ध आत्मा का स्वभाव है, उसका लाभ कैसे होता है, क्या करने से होता है किस लिये होता है किस में होता है कौन करता है, किसको किया जाता है इनका उत्तर देते हुये बता रहे व बतावेंगे कि मेरे स्वरूप का लाभ—मेरे स्वरूपकी प्राप्ति अन्य पदार्थसे नहीं होती अन्य पदार्थ के द्वारा नहीं होती, अन्य पदार्थ रूप नहीं होती अन्य पदार्थके लिये नहीं होती है। जगत्के सभी पदार्थ इसी तरह हैं, सभी अभिन्न षट् कारकमें परिणमते हैं। इस प्रकार का यह चरित्र-वर्णन जो इस बात का द्योतन करता है प्रकाश करता है सो क्या दुनियां को देखता है अथवा अपने आपको ही प्रकाश करता है ? यह लाभ अपने आप की परिणति से होता है अतः अपने आपमें प्रकाश करता है। यह

लाभ अपने आपकी परिणति से होता है अतः अपने आप ही प्रकाश करता है। यह आध्यात्मिक संतों के वर्णन के अन्तर्भाव हैं। इसी प्रकार आत्मा भी जब स्वयं को ज्ञानमय प्रतीत करता है और वैसेही बनने को प्रयत्नशील होता है तब शुद्ध उपयोग के उपयोग से-भावना से स्वयं शुद्ध हो जाता है और वह आत्मा स्वयं ही स्वयंभू होता है। इस आत्मा का नाम स्वयंभू है अतः स्वयं में इसमें विकास होता है।

आत्मा ही स्वयं ज्ञान सुख का भण्डार है भण्डार क्या? तन्मय है। ज्ञान स्वयं ही स्वरूप है। वह अपने द्वारा अपने में ही परिणमित होता है। अन्य पदार्थव लोगों पर जो हमारी दृष्टि रहती है यही हमारे सुखका घात करने वाली है। हे प्रभो ! जगत् के सर्व प्राणी स्वतन्त्र भगवान् हैं हमभी वही भगवान् हैं ये भी-ये भी आप सब ही चैतन्य भगवान् हैं। परन्तु वह कहां है ? निज में ही चैतन्य भगवान् है। जैसे दूध में घी है पर विवेक करना है। इस बात को विचारना आवश्यक है। वह देव शक्ति में—स्वभाव में है। जैसे दूध को विलो कर उसमें से घी निकाला जाता है इसी प्रकार इसमें भी भेद विज्ञान के मन्थन से और पश्चात् अभेदमें पहुंचनेसे वह प्राप्त होगा। बाहर से तो न घी दूधमें प्रतीत होता और न जीवमें परमात्मा ही। कहां मालूम पड़ता ? कहां निकलता ? वह तत्त्व स्वभावमें है। उसीपर लक्ष्यकर उसी में लीन होकर देखें तो अनुभव होगा।

देखो भैया सब काम असार है केवल यह समयसार ही सार है यदि इसही शुद्ध वस्तु रूप समयसारकी है चर्चा करेंगे इसमें ध्यान रखेंगे सर्वविकल्प छोड़कर उस निर्विकल्प परमअर्थ पर एकाग्र लक्ष्यरूप रहेंगेतब यह आत्मा शुद्ध लक्ष्यके प्रतापसे शुद्ध हो जायगा। किन्तु आजकल प्रायः लोकोंकी दृष्टि मंत्र तंत्रपर रहती। हां चाहे तो हमारी दृष्टि शुद्ध चैतन्य तत्त्वमें जम सकती है। विवेककी आवश्यकता है। लोकमोह में ही जन्म गमा रहे हैं, मलमूत्रके शरीर पर बड़ी रुचि करते हैं, स्नान करते हैं, तो घण्टों लगा देते हैं देख देखकर हर्षमें फूलते हैं, इस प्रकार केवल

अपनेही विषयमें नहीं किन्तु दूसरोंके भी अधिष्ठित शरीरोंको देखकर खुश होते रहते हैं। वह रूप है क्या ? स्त्री बीमार बीमार हुई पीलापन आगया कुछ सफेदी हो गई सुन्दरता झलकने लग गई ऐसा मान लिया। स्त्रीको पुरुषके विषयमें और पुरुषको स्त्रीके विषयमें ऐसा ही लगता है। आत्मशक्ति भूलकर मोही इस मल मूत्र भरे देहमें ही आत्मदृष्टि लगाये रहते हैं।

भैया ! जिस चैतन्य भगवानकी कथा जो यह कही वह देव ऐसे मोही हृदयमें नहीं रहते। जिनके हृदय मोहसे कलुषित हैं ऐसे हृदयमें ज्ञानभावकी प्रेरणा हो सकती नहीं है। एक मेहमानको बुलाते हैं तो घरकी कितनी सफाई व सजावट करते हैं कमरेका क्या श्रृङ्गार करते हैं और हम भगवानको बुलाना चाहते है अर्थात हम अपने आपही ज्ञानस्वभावमय निज चैतन्य भगवानको अपने हृदयमें बैठाना चाहते हैं—अपने उपयोगमें लेना चाहते है उस अद्वैत एकस्वरूप निज चैतन्य भगवानको, तो वह अशुद्ध आसन पर विराजमान नहीं किये जा सकेंगे। वह मोही हृदयमें नहीं आवेंगे। भेद विज्ञानसे हृदयको मोह रहित करो भगवान तो स्वयं ही आजाते हैं। यह हमारी भाषा है—भगवान् प्रतीक्षा कर रहा है मानो, क्योंकि यह ब्रह्म है-ब्रह्म वह है जो अपने गुणोंसे बढ़े। जो अपने ज्ञानको बढ़ाये वह ज्ञानके विकास रूपको पाता ही है। इसके लिये हमको आवश्यक है अपने चित्त को निर्मल बनानेकी। चित्त जैसे निर्मल बने वैसे ही वह भगवान आ जाता है, किसीकी तो चर्चा ही की जाती यह तो मेरे स्वरूपमें सुखका भण्डार स्थित हैं। यह स्वयं ही अपनी साधकतमतासे अपने अपने आपको सुखमय देखता ही है। देखो जैसे सांपने कुण्डली बनाई अपने शरीरकी बनाई अपने शरीरसे बनाई अपने लिये बनाई अपनेमें ही बनाई अपने आप बनाई। किसी अन्य और वस्तुसे बनाई ही नहीं है। इसी तरह आत्मा स्वयंज्ञानसुखमय अपनेको बनाता है। वहाँ ऐसा नहीं है कि जैसे कोई लेखक लिखने बैठे तो स्याहीको लिखा

कुटीमें लिखा, कागज पर लिखा, हाथसे लिखा, किसी पुरुषके लिये लिखा आदि। यह तो भिन्न पट्कारकी बात है। आत्माका ज्ञान व सुख पर से प्रकट करनेपर नहीं होता बल्कि पर से प्रकट करनेकी दृष्टि ही ज्ञान और सुखका विकास नहीं होने देती। आत्मामें ज्ञान ज्ञप्ति-क्रियासे होता है। ज्ञान जो होता है वह दूसरे पदार्थसे-शास्त्र, गुरु, उपदेशक, वचन, दिव्यध्वनि आदि किसी की परिणतिसे नहीं होता है। निमित्तमात्रकी वात अन्य चर्चा है। इसका उत्पादक विकासक यह आत्मा स्वयं ही है। उत्पादकभी क्या आत्मा अपनी पूर्व अल्पज्ञान परिणतिसे हटकर पूर्ण ज्ञानी होता है वह उसीका विकास है।

अर्थात्— ज्ञान, ज्ञानकेद्वारा; ज्ञानके लिये ज्ञानमें स्वयं प्रकट होताहै शुद्ध आत्माका यहां प्रकरण है इसलिये शुद्ध आत्माके विषय पर यह कहा जा रहा है आत्माकी जितनी अवस्थाएं है वे अवस्थाएं स्वयं स्वरूपमें स्वरूपकेलिये प्रकट होती है। हे भगवान् तुम अनन्त सुखी हो वने रहो अपने घर वैठो रहो। तुमारे सुखके सम्प्रदान तो हम है नहीं तुमारा सुख तो तुमारे ही लिये है आपका सुख मेरे लिये नहीं हो सकता पर आपका स्मरण ध्यान करनेकी पर्यायमें आया हुआ जो मेरा परिणाम है उस अवस्थामें स्वयं उत्पन्न होता है जो उसमें सुख है वह सुख मेरे लिये है आपका सुख मेरे लिये नहीं है आपका विषय करके हुआजो स्मरण ध्यान उसके प्रतापसे स्वयं पैदा हुआ जो मेरा सुख वह मेरे लिये हैं वह उसमें ही पैदा हुआ है। इसका कर्ता यह ही है आप कर्ता नहीं है। यह मेरा ही काम है आपका काम नहीं है तुम तारण तरण हो आप पतितसे पावन पवित्र करने वाले हो इसका अर्थ यह है महाराज। आपका ध्यान करनेसे हम पतित स्वयं अपने ज्ञान को संभाल लेने से पवित्र हो जाते हैं पतितपावन तो हम हैं परंतु हमारे पतित पावन बननेकी चेष्टामें जो आप आश्रय विषय ख्यालके लिये रहते हो इतने कारणसे आपकी पतित पावन संज्ञा है। पतित पावन भगवान नहीं पतित पावन यह आत्मा है हमें पतितपावन बननेमें हमारे भगवान

निमित्त हैं उनका ध्यान करनेसे यह पतित आत्मा स्वयं पवित्र हो जाता है, अर्थात अत्यन्त पतितभी आत्मा आपके स्वरूपके ध्यानमय निज परिणतिके प्रतापसे पवित्र हो जाता है। बंगालका एक सच्चा किस्सा है एक द्रोपदि थी उसके ससुराल वालोंने उसकी उपेक्षा करदी सो पिता के घर रहने लगी. पिताने एक बाग बावड़ी उसकी आजीविका के लिये भेंट दे दी वह दुर्भाग्यसे दुराचारिणी हो गई बहुत दिनोंके बाद उसे अपने कल्याणका बड़ा ख्याल हुआ। पश्चात्ताप करने लगी। चित्त-की शुद्धि बढ़ी। तीर्थयात्राका निश्चय किया पिताजीसे अपना विचार कहा। तीर्थ यात्राकी तैयारी हुई। पिताके लिहाजके वशसे सब लोग पहुंचाने गये। तो मुंह पर रूमाल रखकर हँस रहे थे—बिल्ली चूहा खाकर हज्ज करने चली ; इसके दुराचार के कारण तो बावड़ी में कीड़े पड़ गये आम कडवे हो गये। यहां ये तीर्थका ढोंग करती तब द्रोपदी बोली कि मैं दुराचारिणी थी परन्तु मेरा अब चित्त अत्यन्त विरक्त है अब मैं तीर्थ धाम जा रही हूं। वहां पर भगवानपर मंत्र बोलती हुई जलधारा चढाऊंगी। जलधारा देते देते मेरी मृत्यु होगी और जावो देखो उस बावडीका पानी निर्मल है व आम मीठे है। वह तो गई, लोंगोने बावड़ीका जल पिया तो बड़ा मिष्ट आम मिष्ट। लोग तीर्थ पर गये तो जो कहा था वही हुआ आत्माका अचिन्त्य प्रभाव है लोग सोचते मैं पापी हूं कैसे उद्धार होगा अपने स्वरूपको देखो। स्वतंत्रता पहिचानो उद्धार निश्चित है, नही तो ऐसा कौन बचा जिसने पाप नहीं किये हों अनंतकाल तो इसीमें गया। पापका मूल मोह ही तो है। मोह पर्याय है यह भी एक अवस्था है जिसने अवस्था बनाई वह आत्मा ध्रुव है उससे ही भेद विज्ञानके बाद निज अभेदमें पहूंचकर धर्म पर्याय भी हो सकती है।

जिसने उस निज त्रैकालिक चैतन्य भावको देखा वही आत्मा धर्म स्वरूप हुआ, दुनिया बहुत देखी, दुनियां बहुत छानी, परिवारमें रह कर बहुत मोह किया—आजका परिवार आजसे ही नहीं मिला, ऐसा

परिवार भव २ में मिला है कोई नया सुख नहीं है आप कोई नया रूप नहीं देख रहे आपके कोई वैभव नही है, बड़े २ वडे वैभव पाये होंगे यह तो न कोई चीज है, वैभव पाकरभी संतोष न हुआ अब थोड़ेसे वैभवसे इतनी ममता रखकर क्यों उस असारको अपनाये रहते हैं इसका परिणाम क्या ? इसका परिणाम भावी संसारमें भटकना ही है। बचपनमें तो इस ओर दृष्टि दी नहीं, कभी चर्चा हुई तो बच्चोंने सोचा यह धर्म तो जवानोंका काम है, जवान हुआ तो साचा यह तो बूढोंका काम है, बूढ़े हुए तो सोचते यह धर्म जवानीमें और बालकपनमें करने का है बुढापेका नहीं। तीनों धर्मसे त्याग दे सकते हैं और विवेक करें तो बच्चो ! सोचो तुम बच्चे नहीं हो। अनन्त कालकी तुमारी स्थिति हो गई। अनन्तकालके बड़े हो। यह तो देहकी अवस्था है तुम तो बचपनसे ही धर्ममें लग जावो, ज्ञान मात्र आत्माको पहिचानों। जवानो ! सोचो यही तो संभलनेकी आयु है यहीं न संभले तो फिर क्या संभलोगे। वृद्ध भाइयो ! धर्म शरीरसे नहीं होता शरीर तो पर है। परसे धर्मभाव नहीं। धर्म अपना भाव है अपने ही में धर्म धारण करना है। विवेकी महात्मा अशक्त शरीरमें रहकर भी आत्मानुभवमें ही लगे रहते हैं।

आपको वैराग्य होना ही चाहिये। सब देख लिया राग किया सब कुछ किया। सब कुछकरते हुए देख तो लिया है

क्या निकला ? कुछ भी तो नहीं निकला। बुढ़ापा है तो शरीर का ही तो है शरीर कमजोर है तो रहने दो जैसा पड़ा, पड़ा रहने दो। उठने को बिमारी आगई, आ जाने दो। कैसी अवस्थामें ही हो पड़े २ रहने दो। अपने आप की निज ज्ञायक भावकी दृष्टि जो स्वाभाविक है उस स्वभावपर दृष्टी रखना धर्म होता है, वह सरल सीधे रूपमें ही तो धर्म होता है। लोगों को यह पता है कि आलसी पड़ा है पर धर्म की ज्योति जगती रहती है, धर्म कठिन नहीं है, धर्म अत्यन्त सरल है। पैसा कमाना कठिन है धर्म कमाना कठिन नहीं है। पैसा पर वस्तु है,

पर द्रव्य है कैसे आवे ? दुर्लभ है,अपनी चीज कठिन नहीं, धर्म सुलभ है, धर्म सरल है हमारे सामान्य स्वरूप की दृष्टी हुई और धर्म पैदा हो गया। पर भाई ! मोह भावके रहने पर तो कठिन ही नहीं असम्भव है अपने दिलका किसे पता नहीं—किसके दिलमें क्या बसा ? यदि पर वस्तु ही लक्ष्य है तो यही मलिनता है खुदके दिलका खुद निर्णय कर सकता कि मोह है अथवा नहीं। भैया ! अब तो भेद विज्ञान के द्वारा अपने को सबसे भिन्न समझ करके आत्माके स्वरूप का निर्णय करके ज्ञानकी सत्य अवस्थाको स्वरूप में देखते हुए सम्यग्दर्शनकी दृष्टि से अखण्ड पूर्ण निर्मल अपनेको देखो, ज्ञान स्वयं स्वरूपके अनुरूप पैदा हो जायगा। यह जो आत्मा है जिसके शुद्धोपयोगकी भावना से घातिनी वासना दूर हो गई है, ऐसे आत्माओंके बाह्य चमत्कार तो पैदा होते हैं परन्तु उनपर ज्ञानीकी दृष्टि नहीं, संसार में वैभव चमत्कार बनाना जिनका लक्ष्य है वे इसी चक्रमें सुमति खो बैठते हैं। आत्म-दृष्टिके बलसें कठिनसे कठिन जो आत्मसिद्धि है वह भी प्राप्त हो लेती है तो उस सन्मार्गके रहते हुए उस सिद्धिके लक्ष्यके प्रभावसे ६३ ऋद्धि-पैदा हो जाती हैं उसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं। जब शुद्धो-पयोगकी भावनासे केवल ज्ञान ऋद्धि पैदा हो लेती है तब ६३ ऋद्धि-यां या अन्य चमत्कारोंका हो जाना क्या बात है लेकिन जगतके चमत्कार पर ही मोही रीझ जाते हैं किसी साधु या किस गृहस्थी किसी सन्यासीने यदि चमत्कारका काम लेलिया तंत्र मन्त्र का यह काम ले लिया तो भाई १० में ६ बाततो ठीक निकलही जाती—साधारण लोगों की कही हुई भी आधी बातें तो ठीक निकल ही जाती हैं, अब इसमें जैसा जो इष्ट निकला तो लोगोंकी श्रद्धा बन गई। शुद्ध तत्त्वकी श्रद्धाके बिना, बाह्य व्यामोह नहीं छूट सकता। जिन्होंने शुद्धोपयोगकी भावना के बलसे विभावों को दूर किया उसके शुद्ध ज्ञानानन्द प्रगट होता है। शुद्धचैतन्य भगवानकी सिद्धिमें यह ऋद्धियाँ स्वयं आई परन्तु इस योगी केलिये यह रिद्धियां कोई महत्त्वमय रूप नहीं, ऐसी ज्ञानीके चित्तमें दृढ

श्रद्धा है वह तो ज्ञान भावसे ही ध्यान करता है, विशुद्ध लक्ष्य वालों के स्वयं अनन्त शक्ति चित्स्वभाव समुपलब्ध हो जाते हैं। समुपलब्ध शब्दमें ३ शब्द हैं सं-उप-लब्ध यहीं समीपमें मिले तो कहते हैं उपलब्ध दूरसे मिल जाय तो लब्ध और फिर सम् शब्द से स्वरूप रूपको अपने आप ही अपने आप में पाया सो समुपलब्ध जिसे निज स्वरूप मिला वह अनन्त सुखी है। स्वभाव प्रगट होता है अपने आपके लक्ष्यसे। जब तक वह बाह्यसे देखता तब तक हमारा वैभव नहीं मिलता। जब हम वैभवको बाह्यमें न देखें तो हमारा, वैभव स्वयं प्रगट होता है। हमारा यह कर्तव्य है कि हम बाह्यका लक्ष्य छोड़कर विश्रान्ति लें तो सत्य सुख स्वयं प्रगट हो जायगा—स्वयंके ही ज्ञान कार्य से स्वयंकी सिद्धि है. शुद्ध अनन्त चैतन्य स्वभावका प्रसाद यह है कि आत्मामें उस के प्रभावसे कर्म नहीं आने पाते और शुद्ध सुख प्रगट हो जाता है। यह तो परमात्मा की बात है यहां भी देखो गुरु शिष्यको क्या ज्ञान देता है ? नहीं। शिष्य अपनी साधकतासे ज्ञान पाता है यदि गुरु शिष्यको ज्ञान बांटने लगे तो १०० शिष्योंको ज्ञान देनेके बाद तो गुरु खाली हो जायगा पर होता यह है कि गुरु जैसे २ ज्ञान बाँटता तैसे तैसे उनका ज्ञान का विकास बढ़ता जाता है देखा जाता है उलटा। गुरु तो शिष्यपर करुणा दृष्टि करके शिष्यके आश्रय से अपने अनुराग के अनुरूप चेष्टासे अपनी चेष्टा करता है पर उसका निमित्त पाकर जिस शिष्य की योग्यता है वह अपने ज्ञानसे ज्ञानी बन जाता है। इसी तरह कोई किसी को सुख नहीं देता, कोई किसीको दुख नहीं देता,कोई किसीको मूरख नहीं बनाता, सब कुछ स्वयं बन जाता है। देखो भैया ! अभी किसी बच्चे को हम ऐसा कहें कि बड़ा मूरख है दस आदमी कहें बड़ा मूरख है, तो ऐसे मूरखपन का असर आजाता है। बच्चासे सभी कहते हैं बड़ा बुद्धिमान है तो निमित्त पाकर स्वयं उस बच्चेमें बुद्धिका विकास हो जाता है । कोई कहे इसे मूरख बनाया गया तो झूठ है कोई कुछ नहीं बनाता। हां निमित्त जरूर कोई होता है। आप

को तो ऐसा निमित्त बनना चाहिये कि दूसरेका उत्कर्ष हो सबसे श्रेष्ठ तो समाधि है, न समाधि रह सके तो ऐसा व्यवहार हो जिससे दूसरों का हित हो। निमित्त भी कोई बननेसे बनता नहीं है हां शुभभावसे पुण्य अवश्य बंधेगा, पाप वासना दूर होगी।

यदि किसीका गौरव बढाया जावे तो वह महान् बन जायगा किन्तु बाहर निन्दा शब्दको सुनकर मूर्ख बन जायगा यहां भी अपनी योग्यतासे सब कुछ बना यदि आत्मा स्वभावदर्शी है, बलिष्ट है तो वह कभी क्षोभ नहीं करता। किसी आत्मा को विरोधी आत्मा से मिलाने से क्या असर होता है? असर उसमें ही उसी से होता है। इस प्रकारसे यदि अपने एक अन्तरमें ज्ञायक भावकी भावना की, उसका अनुभव किया तो अनन्त सुख चैतन्य स्वभाव हमारा सुप्रकट होता है। हां ज्ञान खुद अपने आप हुआ और नाम निमित्त का होता है। आप ज्ञान स्वरूप स्वयंसे हुए या आपके बाप दादों ने करदिया? आपके ज्ञान का कोई क्या कर सकता है, किसी से मिलकरके आप ज्ञानी नहीं हुए मैं दूसरोंको समझाता हूं ऐसा भाव उन्मत्त चेष्टा है पर स्वयंको समझ से स्वयं को समझ प्रगट होती है। होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम। जैसे सुख ज्ञानकी बात है वैसी दुखकी बात है। कोई मुझे दुःख नहीं देता स्वयं ही कषायी होकर दुःखी होता हूं।

यह अनन्त चैतन्य स्वभाव इसमें स्वयं प्रगट होता है। इसको अपने आपको यदि सुखके मार्गमें रखनेकी भावना हो तो सच्चा निर्णय करके कदम उठाओ। केवल बात करनेमें ही तो कुछ नहीं होता बच्चा अपनेको बच्चा न समझे जवान अपनेको समझे करनेके दिन है, वृद्ध सब अवस्थाके स्वरूपको जानकर मोहमें से निकले, इस अज्ञानसे कदम हटाकर अपने अनन्य स्वभाव में लगे। पर का कोई कुछ नहीं करता मात्र अपने विकल्प ही करता है। धर्म कहो, सुख कहो वह वो अपनी ही अवस्थामें स्वयं होता। वस्तुका सत्त्व इसी हेतु व्यवस्थित

है कि किसीकी भी द्रव्यके गुण किसी अन्य द्रव्यमें उत्पन्न नहीं होते इस निर्मल दृष्टिको बनानेमें ही हमारा नरभव सफल है। नहीं तो अभीका पता नहीं क्या होना। आयुक्षय कब हो जाय आयुक्षय होने पर बस फिर अवसर गया। ज्ञानोपयोगी आत्मा जब वस्तुके ठीक २ स्वतंत्र स्वरूपको पा लेता है और उस अवस्था स्वरूपके बोधको पाकर अपने स्वरूपके महत्त्वको देखता है पर पदार्थका लक्ष्य छोड़ता है बाह्य पदार्थका उपयोग दूर हो जाता है, ऐसी हालतमें यह जीव स्वयं ज्ञानमय हो जाता है यहि चाह है कि इसको जान, अमुकको जान, ऐसा जाननेकी भी चाह जब होती है तब तक जानना पूरा नहीं होता और जाननेकी चाह मिट जाती तब जानना ३ लोक का हो जाता है। जगतके जीव दोनों ही को चाहते ज्ञान और आनंद, बडे २ लोग जिन्होने सब कुछ छोड़ भी दिया उपकारमें लगगये तौभी उनकेभी ज्ञानकी सनक है विज्ञानको चाहते हैं, प्रथम तो वे भी आनंदको चाहते हैं दूसरे कुछ जीव ऐसे भी हैं जिनकी ज्ञानकी ओर बुद्धि नहीं तो वे जिन्हे सुख कहते है उनको चाहते हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो आत्माका ज्ञान और आनंद सब चाहते हैं और उत्तम मनुष्य ज्ञान और आनंद दोनों चाहते हैं फिर भी अंतरंग अवस्थाके अनुभवमें कहें तब उसके ज्ञान और आनंद दोनोंकी चाह छूट जाती हैं। अनुभवके कालमें कोई प्रकारकी चाह नही होती इस प्रकारके भावसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है जिन्होंने शुद्ध तत्त्वकी और लक्ष्यकी भावना की अपने भावकर्मोंका नाश किया है उसने अपने अन्दर चैतन्य शक्तिको पालिया है तो वह चैतन्य शक्तिका स्वयं कर्ता है इस कारणसे कर्ताभी यही आत्मा है यहां शुद्धोपयोगकी बात स्वयं स्वरूपकी बात है शुद्ध स्वरूपको पाने वाला कर्ता स्वयं स्वरूप है इसी प्रकारसे कर्त्ताके द्वारा जो भाव अपने आपका अपनेमें अनुभव होता है वह भी स्वयं स्वरूप है भाव कर्म भी यह आत्मास्वरूप है। शुद्ध आनंद शक्ति चित्तस्वभावरूप मन स्वभावकेलिये साधकतम यह ज्ञानभाव ही हैं! ज्ञानके स्वरूपको देखा

प्रतीत होगा कि ज्ञानके निज स्वरूपसे ही परिणमन होता है

ज्ञान पाता कौन है ज्ञान किसलिये पाया जाता है। जाननेके लिये। जाननेके सिवाय और कोई मतलब नही। ज्ञानके साथ सुख तो है अविनाभावी ही है अर्थात् इसमें सुखका स्वरूप आही जाता है, ज्ञानको अभेद विवक्षासे देखो सुख नया कोई काम नहीं। ऐसा जानना बना रहना यही सुख है यह स्वयं निर्विकार स्वरूप है इसलिये यह जीव अपने इस आत्माको सुखमय ज्ञानका स्वयं कर्ता है और यह स्वयं कर्म है इसी तरह न ज्ञान भाव किसीके द्वारा है। स्वयं अनंत ज्ञानके विपरिणमन स्वभावसे समाश्रियमाण कौन है? अर्थात वह किसके लिये हो रहा है? वह उसके लिये ही है। किसके बलसे यह ज्ञान प्रगट होता है? पर्यायके लक्ष्यसे कहो—तो पर्याय विकार है विकारके लक्ष्यसे स्वभाव कैसे प्रकट होगा? यह निर्मल पर्याय त्रैकालिक ज्ञायक भावके लक्ष्यसे प्रगट होती और उसका सम्प्रदान भी आत्मा है। जहाँ स्वभाविक भी पर्याय है वहां भी वह स्वयंके द्रव्यसे आश्रित है, किसी अन्य द्रव्यके आश्रयमें कोई अन्य द्रव्य नहीं परिणमता, इसलिये पर्यायके लक्ष्यसे यह शुद्ध स्वभाव प्रकट नही होता। यह शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है भावस्वरूप आत्माके लक्ष्यसे। आत्मा में चार चीजे हैं द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव, द्रव्य तो कहलाता है पिंड, क्षेत्र कहलाता है उसकी जगह, काल कहलाता है उसकी पर्याय, भाव कहलाता है उसके प्राणवत् स्वभाव। तो आत्मामें जो हम द्रव्यकी दृष्टि में देखते हैं-वह यह है, आत्माको क्षेत्रकी दृस्टिसे देखे तो देह प्रमाण है। जब कालकी दृष्टिसे देखते हैं तो संसार अवस्थामें रागमय है, क्रोध मय है, अज्ञानमय है, इस प्रकारसे देखते हैं; और शुद्ध अवस्था में अनन्त ज्ञानमय, दर्शनमय है, अनन्त सुखमय है शक्ति मय है। शुद्ध पर्यायमें शुद्ध देखा जाता हैं। भावकी दृष्टि से भाव—आत्मा—चैतन्य प्रतीत होता है, जब हम चैतन्य भावकी दृष्टिसे देखते हैं तो, चैतन्य पिंडरूप नही। इस दृष्टिमें संख्या नही, चैतन्य पिंड रूप

नहीं। इस दृष्टिमें संख्या ही नहीं। पिंड तो द्रव्य दृष्टिसे है। इसलिये चैतन्य भावकी दृष्टिमें पिंड नहीं, जब पिंड नही वहां एक दो तीन चारकी गिनती ही नहीं है। वहां अनंतकी गिनती नहीं, वह चैतन्यभाव क्या है? एक भी नहीं है एक भी तो सापेक्ष है। वह चैतन्य चैतन्य है उस चैतन्यभावकी दृष्टिमें संख्या उड़ गई है। चैतन्यभावकी दृष्टिमें ऐसा नहीं है कि यह इतनी वात है इतने आकाशको घेरे हुए है इतना —शरीरप्रमाण है। चैतन्यकी दृष्टिमें आत्मा देह प्रमाण नहीं है। देखो भैया! जिस दृष्टिकी वातकी जा रही है उसके स्वरूपको देखकर अर्थात् उस ही दृष्टिसे निर्भय होकर उसके वितर्कमें रहना चाहिये तब पता पड़ेगा कि चैतन्यभावका स्वरूप कैसा है? वह क्षेत्र रूप नहीं, मात्र चैतन्यभावकी दृष्टिमें—अनंतज्ञान नहीं अनंत दर्शन नहीं। अशुद्ध तो अपने आप निषिद्ध हो जाता है। अनन्त सुख अनंतशक्ति भी नहीं शुद्ध तरंग भी नहीं उस एक भावमात्रकी दृष्टिमें।

अखंडित चैतन्य भावकी दृष्टिमें इस शुद्ध पर्याय रूप हम नही, अशुद्ध भी नही, रागद्वेष भी नही शुद्ध अवस्थाभी नही, फिर कैसा है वह? चैतन्य भाव जो—द्रव्य क्षेत्र काल व गुण भेदकी कल्पनासे परे हैं किसी सीमा रूप नहीं। उसका लक्ष्य होने पर पर्यायमें कैसा परिणमन होता है जिस लक्ष्यके होनेपर उसके उपयोगमें संख्या न रहे वहां लक्ष्यमें कुछ द्वैत ही न रहेगा और गुणके प्रतिरूपभी विकल्पमें नही रहते। ऐसी अवस्थामें यह पर्यायभी कुछ कालके वाद लक्ष्यके अनुरूप हो जाता है, जिन्हे कहते हैं वह परमात्मा एक हैं। वह परमात्मा एक किस ही में है। वह परमात्मा चैतन्यभावकी दृष्टिमें एक है जिस दृष्टिने पिंडको छोड़ रक्खा है, यह भाव दृष्टिसे वर्नन हो रहा है, वस्तुमें तो, द्रव्य क्षेत्रकाल भाव चतुष्टका यह स्वभाव गुम्फित है। द्रव्य, क्षेत्रकाल, भाव, को गौण करके मात्र चैतन्य भावकी दृष्टि को देखते हैं तो एक ही एक है। एक है यह विकल्प है, संख्याका मूल

है, उसे एक भी नही कह सकते केवल चैतन्यभाव हैं, उस चैतन्यभाव की अपेक्षा चैतन्यभाव है। परन्तु ज्ञान तो भावको भी जानता द्रव्य क्षेत्रकालकी अपेक्षा को भी जानता । में क्या क्या क्रमसे कम मानना है? प्रमाणसे जानना तत्त्वको। प्रमाणसे जाननेके बाद निश्चय का अवलंबन करे, ऐसा दृढ अवलम्बन करे, कि निश्चय पक्षसे भी छूट जाय तो फिर, प्रमाण,निश्चय व्यवहार तीनोंका ही व्यवहार नही रहता वह अवस्था शुद्ध स्वरूप रहता।

यहां पर आवश्यक है, परम दृष्टि रखनेकी सर्व नयोंसे जानकर सबको ठीक ठीक प्रमाण दृष्टि से सबके पूर्ण स्वरूप जाने, ऐसा ज्ञानी बनकर फिर व्यवहार का विरोध न करके, निश्चय का ऐसा अवलम्बन लिया जाय कि व्यवहारकी तो वात क्या निश्चय दृष्टि भी छूट जाय व्यवहार छोड़ने को चीज नहीं, निश्चय भी छोड़नेकी चीज नहीं। दोनों ही छूट जानेकी चीज है और प्रमाण दृष्टि भी छूटनेकी चीज है। प्रमाण नहीं छूटता, प्रमाणतो ज्ञानको कहते हैं। सर्वनय समूहकी दृष्टि छूट जाती है। परम पद में पहुंचनेपर ये आत्मा किसी भी विकल्प को नहीं करते हैं। चाहे आत्मा रागी है ऐसा कहें या रागी नहीं ऐसा कहें वह सब पक्षपात है, इस निर्विकार आत्माके अनुभव में आनेपर न व्यवहार नय उदित होता है और न निश्चय नय दोनों ही पक्ष हैं। जहां न नय है न प्रमाण का विकल्प है और न निक्षेप है और की वात क्या, जिसके अनुभव में आनेपर, अनुभव होने की दशामें और कुछ नहीं रहता तब देखो जैसा व्यवहार साधन है निश्चय की दृष्टि साध्य है इसी तरह निश्चय दृष्टि साधन है और अनुभव साध्य है। व्यवहार की दृष्टि साधन है परन्तु व्यवहार की दृष्टि कभी साध्य नहीं है इसी तरह इस ओर भी देखें—निश्चयके विषयमें विचारें—निश्चय दृष्टि भी साधन है साध्य नहीं, अनुभवमें आने की वात उपादेय है, इस दृष्टि में केवल व्यवहार ही हेय नहीं रहा किन्तु, निश्चय दृष्टि भी हेय होगई। फिरभी व्यवहार छोड़नेकी चीज नहीं;न निश्चय छोड़नेकी।

और दोनों ही छोड़नेकी चीज़। छोड़ने की नहीं, ये सब छूट जाने की चीज है। केवल अनुभव मात्र यह आत्मा है जैसा कि कोई विद्यार्थी पढ़े और उसे बी० ए० पास करना है तो लगता है ऐसा कि एफ० ए० तो छोड़ने की चीज है। छोड़ता नहीं, परन्तु पढ़ चुकने पर वेभी सभी गौण होने से छूट जाते, मात्र अनुभव और काम रहता है। अशुद्ध उपयोग हेय है और शुद्धोपयोग हेय है। निश्चय से स्वभाव उपादेय है ऐसा जब कहा जाता है वह व्यवहार में ही लिप्त रहने वाले के ही लिये कहा जाता है। व्यवहार छूटने के बाद निश्चय दृष्टि के दृढ़ अवलम्बन के ही द्वारा निश्चय का पक्ष भी छूट जाता है तब केवल अनुभव रहता है, इस दृष्टि वालेको जैसे व्यवहार दृष्टि तैसे निश्चय दृष्टि, यह भी संसार है यह दृस्टि भी जैसे छूट जाय वह अनुभवकी दशा है। देखो ओम बनता है इस तरह ॐ इसमें जो ३ ऐसी गुड़ेरी है, यह व्यवहार का प्रतीक है व्यवहार नय से उलझन होती, ये नाना रूप हैं, व्यवहारके विषय बहुत हैं, यह भी ३ जैसा है ३ का अर्थ बहुत है तो यह ३ का शब्द व्यवहार नय को सूचित करता है और उसके आगे में डण्डाको छोड़ कर शून्य है यह निश्चयनय का प्रतीक है, जिसमें न आदिका पता न मध्यका पता न अन्त का पता, इसमें ओर नहीं छोर नहीं, शून्य है। अब व्यवहार व निश्चयनय को जोड़नेवाला बीचका डंडा है यह प्रमाण का प्रतीक है। प्रमाण दोनों नयोंको सापेक्ष बताता है। यह डण्डा दोनों को छुए हुए है। परन्तु वह ऊपर वाली अर्ध चन्द्रकी कला वह खाली अनुभवकी कला अब भी यह कह रही है, तुम चाहे जितना ही मिले रहो हम तुमसे बिना छुए ही है। व्यवहार निश्चय नय व प्रमाण तुम तीनों से हम ऊपर हैं, यह अनुभव कला है, और अनुभवकला कैसी है कि मेरे इस कलाके बीच ही वह शून्य होगा, यह शून्य पूर्ण सुखी निर्दोष परमात्माका प्रतीक है। यह शुद्ध आत्मा ही शुद्ध देव है जिसमें कोई भी राग द्वेष आदि दोप नहीं हैं वहशुद्ध होगया। वह क्रोध, काम आदि सर्व दोषोंसे रहित है इस

लिये शून्य होगया। ऐसी अनुभव कलाके अन्दर आत्मा प्राप्त होगा। शुद्ध पर किया जानेवाला उपयोग रूप प्रयत्न भी हेय है। तब देखो अशुभोपयोग, शुभोपयोग हेय, शुद्धोपयोग हेय, किन्तु शुद्धोपयोग का फल उपादेय है। अहो उपादेय नहीं उपादान है उपादेय कुछ भी नहीं है। उपादान क्या है, उपादान, अर्थात् ग्रहण वह शुद्ध ही है तब हेय कुछ नहीं है, उपादेय कुछ नहीं है, ज्ञानका जैसा स्वरूप है उसका लक्ष्य रखो जो कोई हेय है वह छूट जायगा और जो उपादेय है वह मिल जायगा। कहीं कोई हेय रहता; न उपादेय रहता, किन्तु शुद्ध दशामें यह उपादान रहता है। उपादेयके माने ग्रहणके योग्य वह व्यवहार ग्रहण के योग्य नहीं रहता, ऐसा सुनकर जैसा निश्चयावलंबी व्यवहारको छोड़ देते हैं उसी तरह व्यवहारावलंबी निश्चयनय से छूट जाते हैं कहां क्या छूट जाता है ? इसका निर्णय ठीक करो, जो निश्चय नहीं जानते हैं वह व्यवहारको ही उपादेय कहते हैं। उन्हें व्यवहार हेय कहकर निश्चय नय के विषय पर प्रेरणा की है, निश्चितलक्ष्य में पहुंचने पर निश्चयनय भी छूट जाता है। इस लिये भैया एक वार इस निज तत्त्वको देखो, देख लेने पर भ्रम नहीं रहता उसका मार्ग ठीक आ जाता है। क्या कारण है ? अपने आप आजाता है। हां रागके प्रयोगमें दृष्टि उसके निर्विकार विकल्प रहित देवकी रहती है, समयसार में लिखा है जीवके कर्म बद्ध हैं ऐसा माने वह भी पक्षपातमें पड़ता है और कर्म नहीं बंधे ऐसा माने वहभी पक्षपातमें पड़ता है। दोनों ही अनुभव दशाको नहीं आपाते। यदि ऐसा विचारा है कि जीवके राग है तो भी पक्षपात रहा और राग नहीं तोभी पक्ष है, निश्चय का पक्ष छोड़ा तो व्यवहार पर पक्ष किा, व्यवहार पक्ष छोड़ा तो निश्चयपक्ष किया दोनों पक्षपातोंसे रहित अवस्था अनुभव ही है। प्रमाणित ज्ञान होनेके बादभी कोई दृष्टि बनी रहे कोई हानि नहीं परन्तु जब अनुभव करो, तब सब प्रकार की दृष्टिसे अतीत होकर शुद्धता अनुभव हो जाती है यह शुद्ध स्वरूपकी स्वतन्त्रता है वह शुद्ध स्वरूप उससे पैदा

उसने किया, या किया क्या ? उसके द्वारा हुआ उसमें हुआ उसकी ही एक अवस्थासे होकर दूसरी अवस्थामें आनेको हुआ, ऐसा स्वरूप अवस्था की स्वतंत्रतासे हो गया इस प्रकारकी निश्चयनयकी दृष्टिका अवलम्बन होता है फिर निश्चयनयकी दृष्टि ही हटकर जब अनुभव दशामें गये और उसमें स्थिर रहे तो उसके शुद्ध स्वभावकी अवस्था स्वयमेव हो गई। भैया अब जरा अपनी ओर तो देखो सब अवस्थाओंमें कहां क्या होता। बच्चा पैदा हुआ अब उसको करनेकी चीज क्या है बडा हुआ तब मंदिर चलो, दर्शन करो, पूजा करो और बड़ा हुआ ज्ञान हुआ। ज्ञान होने पर दृष्टि पर पदार्थ की ओर रखी और समझा हित स्वरूप यह ही है। उस पदार्थके स्वरूपमें इतना अनुरागी हुआ कि व्यवहारसे गिरकर भी उसका व्यवहार बना रहा कि जैसा करता था कर भी रहा परन्तु दृष्टिमें तत्त्व न पाया। जैसे वे व्यवहार को करते थे, उसमें उत्तम संशोधन नहीं हुआ कुछ ज्ञान होने पर निश्चय तत्त्वम स्थिरता होने लगी वहां भी व्यवहार चल रहा है परन्तु व्यवहार हमारा कारण ही है यह भी अंतरंगमें कल्पनाश्रद्धा नही रही ! तत्त्व के स्वाद होने पर उसके चित्तमें विषयवासना नहीं रहती गृहस्थ अवस्थामें। ऊपर तो सवाल ही क्या ? इसलिये यह सब झंझट छोड देना मैंने अपने स्वरूपको समझा अब घरके रहनेसे क्या प्रयोजन ! परिवारसे क्या प्रयोजन ? कुछ भी मेरा आत्मलाभ इसमें नही है, इस झंझटसे आत्मामें स्थिर नही रह पाता इस गृहस्थकी आगसे वह बचता है उसको त्यागकर साधु हो जाते है वहां भी सूक्ष्म व्यवहार निमित्त आदिके चलते हैं। वह सब सूक्ष्म व्यवहार रह गया वहां भी ज्ञानी की दृष्टि नहीं है मात्र ज्ञायकभाव पर दृष्टि है इसलिये शुरुसे अन्त तक ज्ञानी होने वाला यही करता है।

जब एक निश्चयनयकी दृष्टिका स्वावलम्बन लेता है तो वहाँ सुज्ञातकिया हुआ वह चैतन्य स्वभाव सम्यग्दर्शनका विषय है, निश्चयनयका विषय सम्यग्दर्शन नहीं वह खंडित परम आत्मा है, तब देखो

भव्य सम्यक्त्वानुभवमें निश्चयनयकी भी दृष्टि छोड़ देता है—जैसे व्यवहार नहीं छूटता व्यवहारनयकी दृष्टि छूटती है इसी तरह निश्चय-नयकी दृष्टि छूट जाती है। इस तरह व्यवहार दृष्टिभी छूटी निश्चय दृष्टि भीछूटी तव परमपदका अनुभव हुआ।

यह प्रकरण स्वयं सिद्धिका चल रहा है! वस्तु आत्मस्वभाव-वाले स्वयं ही हैं उनमें जिनमें विकाश हुआ है? वह तत्त्व स्वयं हुआ है उसको करनेवालाभी स्वयं, जो हुआ वह भी स्वयं, जिसके द्वारा हुआ वह भी स्वयं और जिसके लिये वह भी स्वयं। जिसमें हुआ वह मी स्वयं। वस्तुकी स्वतंत्रताका कहां तक दर्शन किया? यह शुद्ध आत्माकी वात है लो लौकिक दृष्टान्तको भी देखो तो स्वयं ही स्वयंका मूल है, दर्पण है—दर्पण अपने स्वयंके प्रतिविम्वके लिये किसी वस्तुकी प्रतीक्षा नही करता जो सामने चीज आजाय. वह चीज अपने चतुष्टयसे आई दर्पण तो अपने ही चतुष्टयसे अमुक रूपमें परिणमित हो गया इस वस्तुके प्रतिबिम्बरूपमें परिणमन किया यह दर्पण अपने से ही परिणमता है। कल्पना करो, यदि वह सामने चीज न हो तो दर्पण को यह घवडाहट नहीं कि अव कैसे परिणमन हो। वस्तु है द्रव्य है उसका परिणमन करना स्वभाव है, पपिणमता ही रहता है। अमुक.सामने उपस्थित है तोअमुक रूप परिणमजाय और अमुक रूप है तो और रूप परिणाम जाय कुछ न हो तो अपने आपमें ही स्वच्छ रूप परिणममा रहेगा दर्पणका परिणमन कितना स्वतंत्र है दर्पणके स्व-रूपमें लेकर देखो दर्पपणकी पर्याय अत्यन्त स्वतंत्र है इसी तरहसे अशुद्ध अवस्थामें भी यह आत्मा परिणमनमें अत्यन्त स्वतंत्र है अनन्तकालसे भाव कर्मसे मलीमस यह आत्मा अपने परिणामके व्रत के लिये चल रहा है; परिणमन इसका कभी समाप्त नही होगा। आये हुए कर्म कहीं अपने स्वरूप से आत्माको लपेटकर रागी नही वनाते कर्मउदया-वस्थाको प्राप्त होता है इसकी उपस्थितिमात्रसे यह आत्मा अपनी विभाव परिणतिसे परिणम कर खुद रागी वनता है यदि लोभमय अशुद्ध

परिणमन है वह। इसी तरह क्रोधादि परिणमनोंमें भी ऐसी ही स्वतंत्रता समझना चाहिये। यह सब परिणमन होता है अपने स्वरूपसे। एक वजनदार वस्तु ४ आदमी उठाते हैं उन चारों आदमियोंमें जो शक्तिका परिणमन होता है उन चारोंका उनका उनमें ही होता है, हर एकका कार्य हरएकमें २ हरएकके सम्बन्धमें भी उसीमें होता है किसी को कार्य किसी वस्तुमें नहीं होता और न किसी वस्तुके द्वारा होता है। यह बात अशुद्ध अवस्थामें भी मौजूद है, तब जो शुद्ध अवस्थामें होने वाले केवली हैं वे अपने स्वभावसे ही स्वभाव वाले हैं व ज्ञान भी। क्या वे सिद्ध लोकमें पहुंचे इसलिये शुद्ध हो गये, उनका स्व-रूप क्या देव देवता पूजने आगये इसलिये शुद्ध हो गया? या नये कोई गुरु आदिके कारण इनका स्वरूप शुद्ध हो गया अपने आप शुद्ध हो गया। यह चैतन्य भगवान जिसमें परिणमन भी है रहा जिसमें अंतरंगभाव पर्यायमें आरहा, इस तरंगका आधार भूत जो ध्रुव तत्त्व है वह चैतन्य स्वरूप आत्मा है, इसका ही लक्ष्य किया जाय वही हमारा सब कुछ रह जाय तो इस आत्माको स्वयंभु और स्वतंत्र बननेमें फिर विलम्ब नही होगा गीतामें एक साम्यका प्रकरण हो उसमें अपनी पर्याय बुद्धि हटनेकेलिये प्रथम ही प्रथम यशकी चाह पैदा न हो इसलिये वर्णन है कहा कि देखो भाईः तू यह चाहता है कि मेरी कीर्ति दुनियामें बहुत फैल जाय परन्तु तुम्हेंयाद है यह दुनिया कितनी बड़ी है ३४३ घन राजू है तेरी बातके फैलाव कितनी दूरमें हो पाते है तू अंदाज कर ३४३ घनराजुके सामने मानी हुई १०००० मीलकी यह दुनियां कितनी बडी चीज हैं, न कुछके बराबर चीज है इतने में ही मोह रखकर तू अपना बिगाड क्यों करता है? तू यश चाहता है कि मेरा यश रहे पर बस सदैवका काल कितना बड़ा है, अनन्तकाल बड़ा है जिसका कभी अन्त नही आ सकता यदि तेरा यह अनंतकाल रह सकता है तो कर, परन्तु केवल कल्पना किया हुआ यश किसी का ५० व वर्ष १०० वर्ष भी कभी रह जाय कोई गुनगाय फिरतो नष्ट हो

ही जाता है, सदैव रहनेवाली चीज तो नही, तो फिर थोड़े समय को ऐसी न टिक सकनेवाली चीजसे मोह करके अपने ज्ञान दर्शनको क्यों विगाडते। लोग यह चाहते हैं कि सारे जीव मेरा यश गायें ये सारे जीव कितने है अनन्तानन्त हैं १०० ने यश गादिया एक लाख ने गादिया तो उस समस्त अनन्त जीवोंके मुकाविले यह संख्या कितनी है थोडेसे लोकमें वह मोह रखकर ज्ञान दर्शन स्वरूपका ध्यान क्यों करता है और फिर जो यश यह है वह स्वयं अनित्य है, और जिस घटनाको पाकर यह होता है वह घटना भी अनित्य है और यशकी चाह भी अनित्य है तव यश, की चाह क्या हुआ? अनित्य अनित्य में अनित्यको, नित्य बनाना चाहता, यह पता नही उसका कितना समय शेष है, जिन लोगोंमें यह चाह है वे भी अनित्य जो चाह करता वह अनित्य है जो चाह है वह भी अनित्य है इस चाहकी तरफ वह घटना अनित्य है अब देखो अनित्यमें अनित्य, अनित्यको नित्य बनानेका प्रयास करना चाहता है जो कि असम्भव है। इस तरहसे विरक्त होकर वस्तुके स्वरूपको अपनी श्रद्धामें उतारकर व्यवहारमें क्या पड़ रहा उसका ज्ञाता रह। हे भाई अपनी श्रद्धामें अनन्त वस्तु स्वरूपको ठीक समझकर निमित्तको गौण करके खुदको तो देख।- अपने पथका अपने आपमें निर्णय करना विवेक है, पर पदार्थका लक्ष्यही हमारी परतंत्रता है, जो स्वयंभु हुए उन्होंने क्या किया—अपनी उपादान शक्तियोंके प्रवल होनेसे, अपने ही निज ज्ञानभावका आह्वान किया, अपने आपमें ही लीन होनेका प्रयत्न किया वाह्य जो कुछभी हैं, माता पिता पुत्र सम्पदा मकान आदि जिनके सम्पर्कमें गृहस्थ जिनसे मोह करके, धैर्यके ख्याल केलिये अवकाश नहीं पाता, ऐसे वाह्य पदार्थका लक्ष्य न रखकर केवल निजी ज्ञानभावका लक्ष्य रखें।

चैतन्य भावका लक्ष्य रखें जिसमें यह भी पता नहीं पड़े कि क्या किस जगह है? किस रूप में है? कहाँ है? केवल चैतन्यभाव के अनुभव में उस शुद्ध उपयोगकी भावनाके प्रसादसे घातिया कर्मके

नहीं होने से यह स्वयंभु पद पा लिया जाता है। कल यह बातचीत चल रही थी कि यह शुद्ध अनन्तशक्तिमान का ज्ञान किसके लिये हैं? खुदकेलिये, यदि कोई ज्ञानी बनता है तो फल क्या है? जानना, जानने का फल जानना है जो जानने का फल और कुछ चाहता है —यही संसार है, जानने का फल जानना ही है यह तो मोक्षमार्ग है। जो जानने का फल, जानने के अतिरिक्त अन्य कुछ चाहता है, बस इसके मायने मोहका मार्ग है, इसलिये शुद्ध आत्माका जो ज्ञान है उस का फल जानना ही है, सम्प्रदान-प्रायोजन ज्ञान ही हैं आप ही अपादन कारक है, जब यह जीव शुद्ध अनन्त शक्तिमान ज्ञानके परिणमनमें था उस समयमें उसकी क्या दशा हुई कि पहिले जो विकल्प ज्ञान था, पहिले जो अन्धेर ज्ञान था उस अन्धेर ज्ञान स्वभाव का तो विनाश हुआ और सहजज्ञान स्वभाव रूप से वह रहा, इस लिये अपादान बन गया वृक्षसे पत्ता गिरता है, यह अपादान कारक का उदाहरण है। अपादान उसे कहते हैं जो किसीका विनाश या वियोग हुआ और कोई चीज ध्रुव रही तो ध्रुवरहने वाली चीज अपादान कहलाती है पत्ते का नाश हुआ वृक्ष ध्रुव रहा उसी जगह खड़ा रहा, इसलिये अपादान कौन कहलाया? वृक्ष कहलाया, वृक्षसे पत्ता गिरता है; वृक्षसे यह आपादान कारक है तब पंचमी विभक्ति है, इसी तरहसे जब ज्ञान शुद्ध होनेको हुआ तो सहज ज्ञानस्वभाव से प्रकट हुआ। चीज हुई क्या। सिद्ध अवस्थामें उस आत्माके सहज ज्ञान स्वभावमें से पहिले जो विकल्प ज्ञान स्वभावकी तरंग निकल रही थी वह अंधेर ज्ञान स्वभावकी तरंग भाग गई विनष्ट हो गई, विलीन हो गई। तब सहजज्ञान ध्रुवका ध्रुव रह गया इसलिये शुद्ध आत्मस्वभाव होने से आत्मा ही उपादान है! इसी तरह अधिकरण कारकको कहते हैं। जब शुद्ध अंनत सूक्ष्म ज्ञान अपना सहज स्वरूपका, परिणमन कर रहा है उस समयमें उस ज्ञानका आधारभूत क्या है? आपने उत्तर पा लिया होगा, उस ज्ञानका आधारभूत वही ज्ञान है इसलिये शुद्धज्ञानका अधिकरण (आधार)

अन्यत्र कहीं नही, आत्मा है। सारांश यह है कि आत्माने आत्माको आत्माकेलिये आत्माके द्वारा, आत्मासे आत्मामें पालिया व्यवहारमें त। भिन्नट् कारकका प्रयोग होता है जैस एक कुम्हारने दंड चक्र आदिके द्वारा मिट्टीके लोंदेसे मनुष्यके उपयोगके लिये अपनी कुटीमें घड़ाको वनाया। कुम्हारने यह तो कर्ता हुआ। घड़ाको यह कर्म हुआ। दंड चक्रके द्वारा वनाया वह करण हुआ। लोगोंके उपयोगकेलिये यह स म्प्रदान हुआ, और मिट्टीके लोंधेसे वनाया यह अपादान भी भिन्न हुआ, और अपनी कुटीमें वनाया तो उसके कामके जैसे कारक जुदा २ हैं वैसे अपने धर्म कर्मकी अवस्थामें कारक जुदा २ नहीं होते। यह आत्माही धर्ममय आत्माको धर्ममय रहनेकेलिये धर्मस्वभावसे ही, धर्ममय आत्मामें ही पालेता है। यहां अभिन्नपट्कारक कहनेका प्रयोजन यह है कि अपने धर्मभावको पैदा करनेकेलिये पर पदार्थको मत ढूंढो वह अपने आपही आपमें मिल जायेगा इसका प्रयोजन यही है। जिनके अपने धर्मका अपने आपमें श्रद्धान नही, उनके केवल वाह्य वुद्धि ही रहती है चलो तीर्थमें धर्म ढूंढेगे; मंदिरमें धर्म लेंगे गुरुसे धर्मका मार्ग मिलेगा, पुस्तकसे धर्मका ज्ञान मिलेगा, वाह्य पदार्थमें भीतरके उपयोगमें न रहकर उपयोग रखता है, मोही क्या करते हैं वाह्य ही का लक्ष्य रखते हैं, भीतर रीता रह जाता है सो धर्मस्वभाव पैदा नहीं होता, परन्तु धर्मके इस रहस्यको जानने वाले उसी तीर्थमें अपने स्वरूपमें वैठकर अपने स्वरूपमें अपने धर्मका विकाश कर लेते हैं और देव मूर्तीके समक्ष वैठकर अपने आपमें इस निज धर्मको पैदा कर लेते हैं मंदिरमें वैठकर गुरुके समक्ष वैठकर अपने धर्मकी परिणतिसे अपनेमें धर्ममय आत्माको पालेते हैं। दर्पणमें जो पदार्थका प्रतिविम्व हुआ वह दर्पणमें अपने आपसे हुआ या वाह्य पदार्थकी कोई परिणती मिला जुलाकर हुआ दर्पणका रूप दर्पणके रूपका प्रतिविम्व है। यह स्वयंकी चीज चल रही है।

जैसे कल कहा था कि शुद्धोपयोग हेय, शुद्धस्वरूप उपादेयभी किन्तु

शुद्धस्वरूप उपादेयभी नहीं, शुद्धस्वरूप उपादेय रह जाता है वहतो उपचार व्यवहार अशुद्ध निश्चय, शुद्ध निश्चय प्रमाण, और, इन सबसे अतीत परम पद है। इतनी भूमिकाओंको आश्रय करके वस्तुको स्वरूपका निर्णय करना। जिस जगह जाकर जिसका निर्णय करें उसी जगह का निर्णय कर उस जगहकी उसकी बात देखो—स्वयंभु आत्माके स्वरूपका वर्णन चल रहा है इस आत्माकी स्वतंत्रताको देखो इस स्वतंत्रताको लेकर खूब विचारकरो—आत्मामें जो कारण निकाला, जिसने अनंतानंत पर्यायोंको उत्पन्न करके भी अपनी ध्रुवता नहीं छोड़ी, उसही स्वभावसे स्वतंत्रतया, अन्यकी परिणति न लेकर पर्याय उत्पन्न होती है। भगवान सर्वज्ञ देवके यह केवलज्ञान स्वभावको कारणतया ग्रहण करके स्वयं ऐसा ज्ञान हो गया। हमारा भी खुद उस ज्ञानसे ही परिणाम हो गया है, इस जगतमें भी उस विभाव अवस्थाके स्वयं स्वरूपको देखकर निर्णय करें तो उस अवस्थाका परिणमनभी उस वस्तुमें ही हुआ परवस्तुसे हुआ नहीं, समोवशरणमें भी बैठा हुआ भव्य जीवमें सम्यग्दर्शन हुआ वह भगवानका नहीं, भगवान सम्यग्दर्शनको निकालकर भव्यजीव में कर देते है ऐसी बात है? देखो वस्तु के स्वरूप की स्वतंत्रताका विचार है होता क्या है, वह भव्य जीव अपनाही प्रयत्न करता है। वहाँ दिव्य ध्वनि सुनता व उसका विचारकरता है। उस ध्वनि को सुनकर या गणधरके उपदेशको सुनकर अपने आप उन बातोंकी कोशिस करता है, भगवान—का उपदेश था जब तक तुम हमारा भी लक्ष्य रखोगे, सम्यक्‌दर्शनका अनुभवन पा सकोगे। बतलाया कि जब तक तुम सूक्ष्मभी विकल्प रखोगे तब तक सम्यक्त्वकी अनुभूति न होगी। सर्व कुछ निर्णयके बाद और इसके निर्णयके बाद वह समस्त लक्ष्यसे दूर हो जाता है उसके तब सम्यक्त्वकी अनुभूति होती है। उसमें समोवशरण या भगवानकी पर्याय व गणधरदेवकी पर्याय आदि कोई आश्रय नहीं उसके उस परिणामका आश्रय भगवानभी नही उसके उस परिणामका आश्रय गणधर देवभी नहीं, उसका और कोई भी

आश्रय नही होता है। इससे आपको मालूम हुआ होगा कि प्रत्येक द्रव्यकी कितनी स्वतंत्रता है परन्तु इस स्वरूपको न जानकर जगतमें मोही जीव यह कल्पना करता है कि मैंने इसको बनाया मैंने इसको पाला मैंने इसको बड़ा किया और यही कारण है कि यह मनुष्य इस कुमतिमें रहकर जीवनकी अंतिम सांस तक भी दुख ही दुःख पाता है। हम भगवानकी पूजा तो करते हैं भगवानकी भक्ति करते हैं पर भगवानकी एक बात मानने केलिये कदम नही उठाते भगवानकी असली भक्ति उनकी आज्ञा मानने में है। उनकी यह आज्ञा है कि जैसा वस्तुका स्वयं रूप है वैसी ही श्रद्धा करो कोई पदार्थ किसी पदार्थ के आश्रित नहीं है, आत्मामें राग भाव होता है पर आत्माका वह राग भाव कर्मके परिणाममें नहीं होता है कर्मके परिणाममें कर्मका परिणमन ही है हां अशुद्ध उपादानके समक्ष कर्मका उदय निमित्त मात्र है जिससे तब वह रागभाव तुरन्तही अशुद्धोपादानके आश्रयमें विकाश पाता है। परन्तु यह जगतकी खासियत है कि वस्तुके अशुद्धपर्यायका विकाश होता है उस कालमें बाह्यमें कोई अन्य वस्तु उपस्थित होती है जिसका निमित्त पाकर उस उपादानमें रागादिकी परिणति आत्माकी सर्वपरिणति आत्मा के क्षेत्र काल भावसे हीहोती है। यह वस्तु स्वरूपका वर्णन है। फिर एक दृष्टान्त लो दर्पणमें यदि नीली चीजका प्रतिबिम्ब हुआ तो यह बतलाओ कि दर्पणके अतिरिक्त किसी अन्यकी परिणतिसे है ? दर्पण के जो रूप रस गन्धस्पर्श हैं उनमें में से रूप गुणका परिणाम वह नील है दर्पणका परिणाम यह नील है बाह्य वस्तुको निमित्तमात्र पाकर अर्थात् बाह्य वस्तुसे कुछ न मांगकर यह दर्पण अपने ही आप परिणम गया अर्थात् बाह्यवस्तुका निमित्त पाकर बाह्यसे कोई चीज न मांगकर यह दर्पण अपने गुणसे अपने आपमें उस रूप परिणम गया आप कहोगे इस जगहसे यहां निमित्त हटाकर रख दिया तो अब कैसे परिणमन करेगा ? भाई ! परिणमनके लिये कोई प्रतीक्षा नही करता, जब जैसा योग हो वैसा परिणम जाता है। वह वैसा अपने स्वरूप

में अपने आपही इस प्रकारसे निमित्तमात्रको पाकर उस अवस्थामें अपने आप अपने में षट्कारकोंको लेकर परिणमन होता है, बाह्यवस्तु का कोई अंश किसी अन्य पदार्थमें नही जाता यह वस्तुकी स्वतंत्रता है। इस तरहसे यह शुद्ध आत्मस्वभावका प्रकरण चल रहा है शुद्ध अनंत शक्तिमय ज्ञानके परिणामके स्वभावका आधार स्वयंही ज्ञानमय आत्मा है इसलिये वही आधार हुआ —स्वयंही पटकारक रूपसे उत्पन्न होता हुआ उत्पत्तिकी अपेक्षामें द्रव्यकर्म भावकर्म इस प्रकारसे दो प्रकारके जो घातिया कर्म है उनका दूर करके स्वयंका आविर्भूत होनेसे वह भाव स्वयंभु कहलाता है इस आत्मस्वभावको टंकोत्कीर्णकी उपमा दी है एक बहुत बडा पत्थर है पत्थरमें एक चालिसकी प्रतिमा निकलता है तब वह कारीगरको कहता है। कारीगरने देखा जैसा कि यह चित्रमें है या अमुक मूर्ति है इसी तरहकी मूर्ति बनाता है उसने उस मूर्तिको देखा जो पहिलेसे बनी हुई थी उसमें मूर्तिको देखकर उस कारीगरके हृदयमें उस मूर्तिका पूरा रूप आ गया, अब उस मूर्तिको छोड दिया वह आकार हृदयमें ज्ञानमें आगया उसे यह श्रद्धा हुई कि मुझे यह बनाना है तो उसको उस दो हाथके लम्बे चोड़े पत्थरके बीचमें वह प्रतिमा दिख रही है जैसा कि उसे बनाना है। उस पत्थरके बीचमें वह प्रतिमा देख रहा है यदि न देखे तो वह प्रतिमाको बना नहीं सकता सारा पत्थरही बिगाड देगा। टांकी को यहां वहां अट्ट सट्ट क्यों नही लगाता, वहाँका ही पत्थर क्यों निकाल रहा हैं? उसके बीचमें मूर्ति दिख रही है इसके आवरक पत्थरही वह टांकीसे उकेरता है क्या करता है? मूर्ति बनाता है? नही बनाता है पत्थर निकालता है, काम को देखो क्या कर रहा है? कारीगरके कामको देखो। कारीगर मूर्ति बना रहा है, नहीं बना रहा है क्याकर रहा है, पत्थर निकाल रहा बहुत पत्थर निकाल दिये, मूर्ति निकल आई। मूर्ति बनाई नहीं उस रूपमें देखकर और पत्थरके जो आवारक थे टांकीसे दूरकर दिये। उस आकारमें मूर्ति बन गई, अब उस पर जो आवरण है उस सूक्ष्म

आवरणको निकाले जा रहा है। क्या कर रहा है ? मूर्ति बना रहा है ! नही बना रहा है। वह मूर्ति बनी है तबही से जबसे उह कारीगरने पत्थरको देखा कि इसमें यह बनाना है जब इसका पत्थर बड़ा था तब भी मूर्ति थी, जब सूक्ष्म पत्थर निकला तब भी मूर्ति है मूर्ति कहां बनाई। मूर्तिके आवरणको निकाला वह मूर्ति स्वयं प्रकट हो गई। परंतु एक बात देखी वह कारीगर पत्थरको निकालता था पर उसका लक्ष्य रहता था मूर्ति पर। कैसी क्रिया की है, इसी तरह जिसमें यह कार्य परमात्मा होवेगा उस स्वभावके प्रकट करनेको इस कारीगरको सम्यग्दृष्टि. कारीगरको उस शब्द परमात्मा गुरुकी आज्ञा हुई तुम बनाओ। मुझ कारीगरको विश्वास हो गया कि हमको यह बनाना है ऐसी बात प्रमाण करके अशुद्ध पर्यायमें भी सम्यग्दृष्टि कारीगर उस शुद्ध ज्ञायकभावको जिसे कि बनाना है देखता रहता है कि यह बनाना है. अब करता क्या है यह देखो। इस दृष्टान्तमें यहां इतना फर्क है कि कारीगरको कार्य करनेकेलिये टांकी और हथोडेकी आवश्यकता हुई परंतु सम्यग्दृष्टिको काम करनेकेलिये किसी बाह्य वस्तुकी आवश्यकता नही होती है इस ज्ञायक पदार्थका लक्ष्यही टांकी है यह लक्ष्यही चोट है. तब ही सुदृष्टि द्वारा ज्ञायक भाव दृष्टिसे की गई ज्ञायकभावके हथोडेके ज्ञायकभावकी चोट मिलती है। हमारा काम लक्ष्यका है। राग द्वेश क्रोध मान माया लोभ आदि तो पत्थर थे वह हटते जाते हैं तब कभी वहठीक पाता है, कुछ टांकीका जोर और हुआ। जब बारहवें गुण स्थानमें पहुंचा तब और विशिष्ट हुआ जब तेरहवे गुण स्थानमें पहुंचा और अच्छा हुआ

. . . और १३—१४ वें के ऊपर शुद्ध अवस्थामें जैसे मूर्ति बनानेके बाद पालिस होनेकी कमी रह जाय. तो पालिस से अत्यन्त स्वच्छ होता है इसी तरह उस अयोगके पालिस होनेके बाद वह परमात्मा शुद्ध स्वरूपमें हो गया इस प्रकारसे यह सम्यग्दृष्टि उन घातियां कर्मोंको दूर करके स्वयं. स्वभावसे .शुद्ध. प्रकट होता है इसलिये स्वयंभु कहलाता है ।

निश्चयनयकी ओर देखो तो आत्माका वह शुद्धभाव उसके साथ अन्य सद्भाव या अभावरूप किसी भी सम्बन्ध होने से नहीं होता, आत्मा जो कुछ करता है अपने आप अपने द्वारा कर्ता है, बहुत करे, अच्छा करे, कुछ अन्य न करे, जो करता है आत्मा अपने आप अपने द्वारा, अपने लिये अपने में अपने से करता है तब फिर शुद्ध आत्माकी बात अत्यन्त स्वतन्त्र है उसमें उस निमित्त मात्रकी ऐसी आवश्यकता नहीं पड़ी इसलिये कहते हैं कि ज्ञायक भाव रूप शुद्ध आत्माके स्वभाव की प्राप्तिकेलिये अन्य अन्य सामग्रियोंकी खोजनेकी व्यग्रता करके क्यों परतन्त्र होरहे हो अपने आपमें अपने आपको देखो और स्वयंभु हो जावो मोही कहते हैं कि धर्म बड़ा कठिन है। धर्म अपने में है कैसे कठिन है? हम स्वयं स्वभावसे धर्म है। धर्म पाये विना सुखी नहीं हो सकते। यहां जो व्यवहार की दृष्टि से देखो तो सब कुछ है परन्तु भाई अपना लक्ष्य भी बनाओ कि हमको तो उस मंजिलमें चलना है, ऐसी अवस्थाकी दृष्टि बनाना है। जगत को अजायब घर की तरह देखो जैसा उसके देखने वाला उसको चीजें देखता है पर देखो यह आज्ञा है कि उठाओ मत, छूओ मत, यदि वह किसी चीजको उठाता है तो चपरासी उसे अफसर के पास ले जाता और उसे वहाँ दण्ड मिलता। इस जगतके यह पदार्थ हैं इनको भी मत मानो कि यह हमारे हैं, मेरे ही स्वरूप ये ऐसा मत मानो। देखो कहीं भी कैसे ही पड़े होओ, परन्तु अपनी श्रद्धा को ऐसा अविचल रखो कि अपने आपमें धर्म को प्राप्त करलो।

कल यह प्रकरण चल रहा था स्वयंभु होता कैसे है इस बातको सिद्ध किया गया था कि आत्माके जो परम पद होता है वह बाहरकी किसी अवस्थासे कुछ पाकरके पद नहीं होता किन्तु व्यवहारका अंतरंग कारण ही इस कार्य रूपमें परिणाम जाता है। कल देखा था टांकीसे उकेर कर! क्या है यह? व्यवहार ही तो हुआ परन्तु जो प्रगट हुआ वह स्वयं हुआ। इस दृष्टि से कब, कहाँ क्या परिणाम है। इसको सोचे

विना पार नहीं पड़ेगा। यह सबसे पहले बतलाया था कि वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है वह स्वरूप शुद्ध दशामें भी नहीं छूटता, शुद्ध दशामें भी जो शुद्ध द्रव्य है उसका जो परिणाम है वह कहलाता है व्यवहार, और उन पर्यायोंका आधार भूत सामान्य स्वभावी है, एक है वह कहलाता है द्रव्य। कल यह चल रहा था कि स्वयंभु अपने आप अपने में अपने द्वारा अपने ही केलिये होता है, यह बात अपनी तरफ से नहीं कही गई, यह भ०कुन्द कुन्दाचार्यने कही है, स्वयंभु वस्तु क्या करता है, स्वयं होना स्वय से होंना, स्वयं में होना, स्वयं केलिये होना, स्वयंभु में स्वयं शब्द अव्यय है इसमें सब कारकोंकी विभक्तियाँ लगती हैं, स्वयं होने वाले का जो परिणाम है अर्थात् सिद्ध आत्माके स्वभाव का जो लाभ है वह लाभ कैसा है, अविनाशी है, जिसका कभी नाश नहीं हो सकता, ऐसा होकर भी व आत्मलाभ उत्पादव्यय वाला है, नाश न होकर उत्पादव्ययवाला है,ऐसा वह स्वरूपका लाभहै इस प्रकारकी आलोचना करते हैं—तर्कित करते हैं कहते हैं—विशेष विचार करते हैं जैसे कोई विरोधकी बात रख दी जाय तो वहां आलोचना करते हैं ऐसा कहा जाता है। विरोधकी बात तो रख ही दी कि शुद्ध आमाके स्वभावका लाभ अविनाशी है और उत्पादव्यय वाला भी है, यह बात सुनकर आलोचना न की जाय तो क्या खाली बैठे रहें, उनको इस बातको आलोचना करते हैं पर शुद्ध स्वभावको ऐसी बात नहीं कह रहे। यहां तो शुद्ध आत्मस्वभाव का लाभ अविनाशी और उत्पाद व्यय वाला भी है यह कह रहे हैं।

भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥१७॥

जो भव है अर्थात् जो उत्पाद है वह भंगविहीन है, नाशरहित है, सिद्धोंके जो पद हुआ, क्या पद हुआ ? शुद्धभाव वह नाशरहित है, शुद्धभाव का नाश नहीं होगा और जो चीज उनके मिटगई वह

उत्पाद रहित है उनसे क्या मिट गया, १ संसार पर्याय—अशुद्धअवस्था अब वह पद नहीं होगा। और दोनों अवस्थाओं में रहने वाला यह आत्मा भावरूपमें चला जाताहै। आप ऐसा सोचोगे कि यह जो बात कही गई वह तो कुछ नहीं जचती इस तरह तो उत्पादव्यय शुद्धमें अब कहां घट रहा, हां जिस समय शुद्धपर्यायमें पहुंच रहाथा उस समयतो ये उत्पाद व्यय ठीकहै परन्तु अब जो शुद्ध है उनकी शुद्धिमें क्या उत्पाद व्यय होता है, ऐसा उत्पादव्यय तो नहीं होगा संसार तो जब मिटा था वह समय तो बहुत पहिला था, समय समय की बात तो नहीं आई।

भैया यहां देखो, अभी सिद्ध भगवानके उत्पाद व्ययका वर्णन नहीं करते, सिद्ध भगवानको जिस चीजका लाभ है उस लाभमें जो मिटी है वह उत्पाद रहित है जो हुआ है वह व्यय रहित है लाभमें उत्पाद व्यय घटाया जारहा है शुद्ध आत्मस्वभावका जो लाभ है वह ऐसा है जो हुआ वह मिट नहीं सकता जो मिट गया है वह हो नहीं सकता और उन दोनों वस्तुओंके बीच स्थायी तत्त्व द्रव्य रूप ही है वस्तुके द्रव्य स्वरूपको जब छुए तब उस समयमें यह संकोच नहीं करना चाहिये कि और प्रकारकी बात मिटादी अमुक स्वरूपभी मिट रहा, अमुक चीज मिट रही पर्यायमात्र मिटा दी अब रहा क्या ? प्रमाण दृष्टिसे आप सबको थाप लें निश्चयभी है व्यवहार भी हैं सब कुछ है। सबके स्वरूप निश्चित करनेके बाद एक निश्चय दृष्टि करे। मुख्यता करके वस्तुके स्वरूपमें देखा जा रहा है और यहाँ सामान्य ध्रुव मिल रहा है। आज्ञाकारी सैनिक होते हैं उनसे सेनापति यह कहता है कि अमुक करो। तो कुछ भी हो जब तक हुकम बंदका न हो तब तक उसीको एक चित्त होकर करता रहता है। एक जगहका जिक्र है कि सेनापतिको कोई आज्ञा दी, सेनापतिकी आज्ञा सुनकर सबने काम शुरू कर दिया इसमें खुदका बिगाड़ होनेका था उस समयमें कुछ बुद्धिमान सैनिकोंने इस कार्यको रोक दिया तो सेनापतिने आदेश दिया कि इस कार्यको रोक दिया भला तो किया किन्तु सैनिको का आज्ञा है कि जो हुक्म दिया वह करो तुमके किसीकी आज्ञासे रोका। प्रभुकी आज्ञा है

कि जब निश्चय दृष्टिका विचारकरो तो निश्चय दृष्टि को ही देखकर सारी बातको सोचो जब व्यवहार दृष्टिका हुकम मिला व्यवहार दृष्टिसे इस पदार्थमें होकर उस प्रकारका निर्णयकरो याने दूसरे पर दृष्टि डालकर निर्णय करो —और सही क्या है। ऐसा निर्णय करनेको जब बैठो तब निश्चय व्यवहार दोनोंका स्वरूप ठीक करके निर्णय करो तो सही यह चीज है, प्रमाण दृष्टि वस्तुके निरपेक्ष वस्तु स्वभावको और सापेक्षको भी स्वीकार करता है, सम्यक्दृष्टिको निरपेक्ष स्वभावमें रुचि होती है, सम्यग्दर्शन क्या है— निज आत्मस्वभावमें रुचि जिसके होने पर हो वह है सम्यग्दर्शन। सम्यग्दृष्टि जीव पर्यायका ऐसा वर्णन करते है परन्तु पर्यायमें निज बुद्धि नहीं होती। सम्यग्दृष्टि जीवसे व्यवहार नही छूटता पूजा आदि सब होती हैं पर व्यवहार ही हमारी पहली मंजिल है ऐसा उसका लक्ष्य या ऐसी उसकी श्रद्धा नही होती वास्तवमें सम्यग्ज्ञान इतना निरवारने वाला है इतना सुलझाने वाला है कि जिसके अदंर असत्यकी स्थापना नहीं हो सकती और सत्य नही मिट सकता। श्रद्धा भूतार्थ स्वरूपकी होना चाहिये गुणोके अभेद रूपसे रहनेवाला आत्माका लक्ष्य होना चाहिये।

ऐसे आत्म द्रव्यकी श्रद्धा करने वालेके व्यवहार आता है। परंतु जिसे व्यवहार आ गया यदि उस लक्ष्यमें लग जायेगा कि यह व्यवहार ही सर्वस्व है यहीं रुक जायेगा तो आगे चलनेका कदम समाप्त हो जायगा। इसलिये किस दृष्टिमें हो वह है व्यवहार, जिसका लक्ष्य हो वह है निश्चय, लक्ष्य विना सब बेकार और व्यवहार विना तो जीव रहताही नही हैं। शुद्ध लक्ष्य बिना तो रह जाय परंतु स्थिति विना रह नहीं पाता। निश्चय दृष्टिसे शून्य निश्चयकी दृष्टिसे दूर रहने वाले तो रह जाय पर व्यवहारसे रहित हम नहीं रह सकते। अब विवेक क्या करना है, निश्चयका विषय है—चैतन्य स्वभाव उसका ही लक्ष्य रहनेका पुरुपार्थ करना है, यहि पद पाना है, जो इस वस्तु पर लक्ष्य पाता है उसको

वाह्य व्यवहारमें यदि थोड़ा वहुत—हीनाधिक हो जाय तो भी सफल हो जाया करता है। जैसे किसीको अपने मित्र पर यहविश्वास है कि यह मेरे हितका लक्ष्य रखता है, उस मनुष्यसे यदि कभी कितना कोई कार्य ऐसा हो जाय कि उसकी वातसे उसे कष्ट भी पाना पडे तो उसको वह बुरा नहीं मानता और दुखी भी नही होता क्योंकि उसे तो यही श्रद्धा है कि यह तो मेरे हितैषी है इसका लक्ष्य मेरा हित करनेका ही है। कदाचित कहीं कुछ कह आये भूलसे कह दिया है तो इसका उस पर भीतरसे कोई बुरा प्रभाव नही होता इसी तरहसे ठीक लक्ष्य यदि आ जाय ठीक वस्तु आ जाय तो फिर कभी वह अंतरंगमें आकुलता कारक नहीं होता इसलिये ठीक लक्ष्य—उद्देश्य अनंत विशुद्ध होना चाहिये और जिसका लक्ष्य ठीक होगा उसका व्यवहार—तरंग-पर्याय भी ठीक बनेगा, क्रियाभी ठीक बनेगी। व्यवहारभी ठीक होगा प्रभु ने हमको भी ज्ञायक भावकी प्राप्तिका हुक्म दिया है कि तुम निरंजन निज ज्ञायक स्वभावका लक्ष्य करते हुए ऐसा निर्विकार बननेका प्रयत्न करो जो शाश्वत्त कल्याण चाहने वाला है सदैव उसको अखंड स्वभावका लक्ष्य रखना होगा ऐसा लक्ष्य रखते हुए जो जो काम बनते हैं वह सभी व्यवहार धर्म है आपको एक मनोरंजक कहानीमें श्रद्धाकी वात वतलायें—देहातमें कोई जाट था एक मुखिया था, एक पंडितजी कहींसे आरहे थे इन्होंने वगलमें पत्रा पोथी ले रखा था। मुखियाने उन्हें देखा और वोला पंडितजी कहां जा रहे हो। उन्होंने कहा राम चरित्तर पढने जा रहा हूं उन्होंने कहा राम चरित्तर कैसा? रामचरित्र जिसमें रामका चरित्र वतलाया है वो राम पैदा हुए वडे हुए सीताका स्वयंवर हुआ वह किसी कारणसे जंगलमें गये सीताको रावण ने हरा, राम रावणको हराकर सीताको लाये यह सब उसमें आता है ऐसा राम चरित्र मैं पढने जाता हूं। जाट वोला वहुत अच्छा महाराज! इससे क्या होता है पंडितजी वोले उससे वडा पुन्य वंधता है; मुखियाने अपने घरमें पढ़नेको कहा पंडितजी ने कहा इतवारको

आऊंगा

उस उत्सवकेलिए हमें क्या करना होगा पंडितजीने कहा आंगन में थोडीसी जगह लिपा लेना, अक्षत गंध, धूप आदि सब रख देना व कलशमें एक रुपया रख देना मुखियाने कहा बहुत ठीक। आठवें दिन इतवारको सब गांववालोंको बुलाया कि राम चरित्त होगा। सब गांव वाले भोले थे मुखिया भी भोला था बडी श्रद्धासे भरा था, हमारे पुन्य बनेगा। रामचरित्र सुनने सब लोग आगये। पंडितजी बैठ गये उस रामचरित्रके पढनेके बीचमें मंत्र आते थे। इस बातको जानकर पंडित बोला, मुखिया भाइ जो हम कहें वैसा तुम कहना जो करें वैसा तुम करना (जब हम मंत्र शब्द कहें तो तुमभी शब्द कहना हम जो स्वाहा करें वही तुम भी करना) इसी तरह पूजा होती है मुखियाने कहा बहुत ठीक महाराज - मैं वैसा ही करूंगा। तो एक बार बहुत बड़ा पद आया तो पंडितजीने सोचा पहिले जल चमचोमें लेकर रखूं तो बहुत देर तकके लिये रखना होगा इसलिये इसको कह दें कि जल ले, मैं तो मंत्र समाप्त कर लूंगा तब चम्मच उठाकर जल छोड़ दूंगा। इस विचारसे पंडितजी कहते हैं "जल ले"। मुखिया भी कहता है "जल ले"। खुद जब जल नही लेता है तो मुखिया भी नही लेता। पंडित जी बोले "लेता क्यों नही बे" मुखिया बोला लेता क्यों नही बे"। शुद्ध भाव श्रद्धासे रामचन्द्र चरित्रका पाठ मुखिया करवा रहा था।

वह भी श्रद्धासे ही ऐसा बोला। "लेता क्यों नही बे" क्योंकि उसने सोचा कि कहीं थोड़ा सा भी कम बढ़ बोल जाऊंगा तो रामचरित्रका पाठ बिगड़ जायगा। अब पंडितजीको गुस्सा आया उन्होंने उस मुखिया जीके मारने को कहा- "मैं तमाचा मारूंगा" मुखिया भी बोला "तमाचा मारूंगा" पंडितजी ने तो तमाचे मार दिये मुखियाने भी उसी प्रकार पडितजीके तमाचे मारे कि कही रामचरित्रका पाठ न बिगड़ जाय। सब श्रोता लोग व गाँववाले भोले थे, उन्होंने

भी सोचा कि वास्तव में राम और रावण का जो युद्ध हुआ था उसमें इसी प्रकारसे युद्ध हुआ होगा अतः चुप चाप बैठ २ श्रद्धासे देखते हुए पुन्त कमा रहे थे इस प्रकार मुक्केबाजी में वे दोनों २० हाथ दूर पहुंच गये। मुखियाकी जो मुखियानी थी वह इस दृश्यको देखकर रोरही थी, लोगोने पूछा तेरे घरमें तो रामचरित्र का पाठ होरहा है और तू रो रही है। मुखियानी इस मार पीटके दृश्यको देखकर नहीं रो रही थी। उसने कहा कि मुझे इस बातका दुःख है कि वर्षोंमें मेरे घरमें रामचरित्र का पाठ हुआ और मैंने जमीन पूरी नही लीपी यदि मुझे यह पता होता कि इतनी दूर तक पाठ चलेगा तो मैं पूरी जमीन लीपती इससे यह पता पड़ा कि उसको यह डर था कि राम चरित्रका पाठ बिना लिपी जमीन पर बिगड़ गया।

यहां अन्य विकल्पोंपर दृष्टि न देकर सिर्फ भावकी बात देखो श्रद्धा की बात देखो सारे लोग पुन्य लूट रहे मुखिया पुन्य लूट रहा है! और मुखियानी भी। यह तो किसी एक दृष्टि का ही दृष्टान्त मात्र है। कैसा कार्य होकर फिर भी श्रद्धा चल रही है। कहीं ऐसी बातें अपने में न घटा लेना (हंसी) सारांश इतना लेना कि बाह्यकी कुछ कमी भी हो तो भी श्रद्धा आगे ठीक करा देगी। श्रद्धाका विषय इतना साफ और अकंप होना चाहिये कि उसमें अपना स्वरूप, सिद्ध प्रभुकी तरह स्वभावमें जंचे यदि कोई पूछे कि तुमको क्या बनना है तो एक लक्ष्य श्रद्धा का आजाय कि जैसा कि सिद्धका स्वरूप है मुझको तो यह स्वरूप बनना है उसको और कोई भी बात लक्ष्यमें न आपावे। वह कैसा स्वरूप है उस सिद्ध भगवान का शुद्ध पर्याय पद जो हुआ उसका नाश नहीं होगा, अशुद्ध पर्याय नष्ट हुई उसका उत्पाद नहीं होगा। और शुद्ध और अशुद्ध दोनों पर्यायोंमें वह एक आत्मा रूपमें रह रहा ऐसा शुद्ध आत्मा इस स्वभावके परिणमन मात्रसे उत्पाद व्यय वाला द्रव्य बतलाया। इस आत्माके शुद्धोपयोगके प्रसादसे शुद्ध आत्मस्वभावमें जो भाव आता है उत्पाद होता है वह उस रूपमें तब नहीं हो सकता

यदि वह भाव सर्वथा विनाश रहित है इसी कारण जो अशुद्ध भाव का विनाश हुआ है वह फिर उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी लिये ऐसा वह सहजशुद्ध भाव कभी नष्ट नहीं हो सकता वह अविनाशी है. उस कथा को सुनकर किसीके मनमें कोई अन्य विचार नहीं उठना चाहिये हमारा आशय तब तो यह था कि श्रद्धा निर्मल होने से यदि व्यवहारमें कुछ न्यूनाधिक बात भी हो जाय, पर जिसका लक्ष्य निर्मल होता है वह अपने लक्ष्यका फल अच्छा ही पाता है। इस समय हमारा जितना पद है, हमारी जितनी अवस्था है वह चैनसे रहित है बिना धर्म के जिन्दगी व्यतीत होती है। विवाह हुआ, बच्चे हुए, अन्तमें जिन्दगी खतम हो ही जाती है। मरना पड़ता है जो दिन चले गये सुखके वह स्वप्नकी तरह लगते हैं वह ५०—४० वर्ष सुखकी स्वप्नकी तरह मालूम पड़ती है, अथवा जिसकी जितनी आयु है उसको पहिली अवस्थाकी बात स्वप्न की तरह मालूम होती है हाय, वह समय निकल गया मालूम नहीं पड़ा। देखो भैया जो समय बीत गया उसको तो पछताता परन्तु जो समय यह जारहा है यह भी स्वप्नकी तरह चला जायगा ऐसा ख्याल कर शुद्ध कर्तव्यमें नहीं लगता। जैसा भूतकाल की बातको स्वप्न की तरह हो गया ऐसा ख्याल करता वैसा वर्तमान कालकी बातमें यह भी स्वप्न की तरह होने वाला ही है ध्यानमें नहीं लाता। इस पर्याय में हमको कोई अभूतपूर्व कार्य करना चाहिये विचारो जैसे मेरी इतनी जिन्दगी व्यतीत हुई उसी तरह आनेवाली जिन्दगी क्षणमात्र में व्यतीत हो जायगी इस लिये सावधान हो। धर्म साधना जीवनकी साधना है हमें सावधान रहकर अपने परकरुणा करना है। अपने में वह बात रहे, परसे लक्ष्य हटाकर ज्ञानभावमें ही मेरी रुचि हो, जगतके किसी पदार्थमें मेरी रुचि न हो। वास्तवमें ज्ञानी कुछ करना नहीं चाहता परन्तु इसका तो जगत के और ऐसे जितने कार्य किये जाते हैं उन सब का प्रयोजन इतना ही है, कि मैं साधु नहीं हो सकता था, इसलिए घरमें रहना पड़ा अब जो समागम है उनका मोह करना अपना ही घात

है ऐसी श्रद्धा है फिर भी गृहस्थ धर्म को निभाने की बात तो करना ही पड़ रही। गृहस्थ धर्म मोक्ष का उद्देश्य रखकर धर्म, अर्थ, काम, इन तीन की समान साधनामें है। उत्तम विवेक जो धर्म अर्थ काम इन तीन का सेवन कहलाया, जो त्रिवर्ग का समान साधन करता है वह कहलाता है गृहस्थ धर्म, धन का भी ख्याल रहा काम कर लोगों के पालन का भी ख्याल रहा, परन्तु धर्म न करे तो कुछ भी नहो चलता और धर्म करे पोषण करे और धन न कमावे तो कुछ भी नहीं चलता और धन का ही पोषण हो रखा और धर्म नहीं कमाया तो कुछ नहीं। यदि वह धर्ममें ही रहता और धन तथा पोषणसे बिल्कुल बचता है उस अवस्था में नहीं रहता तो ठीक है उसको उचित है कि वह साधु हो जाय। जब मुझे किसी से प्रयोजन नही मुनि जैसी वृत्तिमें अपने सम्बन्धको करे तो गृहस्थ धर्म नहीं हो सकता। यदि कोई पुरुष धर्मका पोषण करे, धन भी कमावे, पोषण की बात न करे तो अपना अनुभव बतलायेंगे कि गृहस्थ प्रशंसनीय नहीं हो सकता, धर्म ही करे, पोषण ही करे—धन न कमावे तो गृहस्थी निभ नहीं सकती।

गृहस्थ अवस्थामें तो जो तीन वर्ग बतलाये, इन तीनोंका समान सेवन होना चाहिये, हमारा आशय स्वभावसे च्युत होकर जड़में लगाने का नहीं। यह चीज प्रवृत्तिकी चल रही है कोई गृहस्थी यह चाहता है कि धनसे क्या प्रयोजन वह तो समय पर जो हो सो हो कुछ भी धन न कमावे, तो अन्त में जाकर, घरमें धन है तब तक तो खाता है फिर आप भी खाली। हां यह बात जरूर है कि ५ मिनट ही बैठ जाय तो पुण्योदय से हजार आजाँय। इसी तरह मन्दिर देवदर्शन आदि भी आवश्यक वृत्ति गृहस्थकी होती है। यह बाह्य धर्मकी बात है अन्तरंग की तो ऐसी बात है कहीं भी होय धर्म होता है। आप सोचो जिसे धर्म होना है वह कहीं भी जा रहा है धर्म होता है, धर्म तो अन्तरंग का ऐसा परिणाम है। कहो मुनि महाराज शौच को भी जाते हैं यदि निर्मलता हुई वहीं अपने अप्रमत्त धर्मको पालते हैं। जिसके निरपेक्ष

ज्ञायक भावकी दृष्टि होती है जैसी दृष्टि गई वहीं धर्म हो गया।

कहीं मन्दिर में ध्यान लगाया और वहाँ भी धर्म भाव न हो और मन्दिरसे निकलकर किसी जगह चला गया उसका वहां अच्छा भाव बन जाय तो धर्म होगा। गृहस्थ के अन्तरंग में अच्छी चीज है तो इसके माने यह नहीं हैं कि व्यवहार धर्मका लोप करदें। यदि कोई पुरुष जीवनभर व्यवहारधर्म और निश्चयधर्मके यत्नसे दूर रहाहो और अन्तमें साधिपूर्वक सद्गति हो तो इसका अर्थ यह नहींहै कि सभी इस प्रकार जीवन में स्वछन्द रहें अन्त में सद्गति हो ही जायगी। यदि किसी अन्ध पुरुषको मार्गमें ठोकर लगे और उस ठेवांको निकलवाने से धन मिल जाये तो क्या और मनुष्य भी अन्धे बनें, गड्ढे को खोदें, ठोकर खायें! क्या इस तरह उन्हें धन मिलजायगा धनोपार्जनका उपाय तो व्यापारादि है; इसी तरह धर्मके कार्न-व्यवहार धर्ममें रहकर भी यद्यपि यह बात अविनाभावी नहीं है कि मैं व्यवहार करू तो निश्चय धर्म प्रगट होता ही हो व किसीके निसर्गसे ही होजावे तो इसका अर्थ यह नहीं कि यत्न छोड़दें। निश्चय धर्म प्रगट करने के समय उसके व्यवहार कार्य ऐसे होते हैं यह तो ठीक है, जैसा निश्चय है उस के अनुसार व्यवहार धर्म है यह भाव तो रह सकता है परन्तु प्राक् पदवी में सत्संग देवदर्शन सभी यत्न रहना चाहिये।

गृहस्थीमें निश्चयकी दृष्टि होते हुए भी देव पूजन आदि की जाती परन्तु शुद्धपर निश्चय दृष्टि रहते हुए उसका व्यवहार रहता है। निश्चय दृष्टिके रहते हुए तो वही वस्तु उपयोग में बनी रहती है जो यहां व्यवहार हुआ उस पर ज्ञानीके उपादेय बुद्धि नहीं है कि वही व्यवहार बना रहे। इसलिये किसी प्रकरणमें व्यवहार छूटा जारहा कहीं ऐसा भय नहीं करना। उसमें ऐसा संकोच नहीं होना चाहिये कि व्यवहार निश्चयदृष्टिमें देख जेसे छूटा जा रहा है। निश्चय दृष्टिका लक्ष्य करते हुए पर्यायमें अपने आप क्या पड़ रहाहै वह व्यवहार ही तो चल रहा है, उसमें उपादेयकी दृष्टि नहीं।

देखो—स्थिति, नाश उत्पाद के विना रहना सिद्ध भगवान को भी निषिद्ध है वहां भी निश्चय व्यवहार है वे भी द्रव्यपर्यायात्मक है। आजका प्रकरण ऐसा लगेगा कि कलका प्रकरण लोग सुनतेथे उसमेंकुछ प्रकरण तो और वात सुनाता था, यहां और है। उस प्रकरणमें निश्चय दृष्टि की मुख्यता से वर्णन था—निश्चयदृष्टिके वर्णनमें सुनकर उसका ही श्रद्धामें, उपयोगमें स्वरूप देखना होता है। आज वह प्राप्ति स्वयं भु हुई है तो क्या व्यवहारनय का कुछ काम ही नहीं हुआ था? और अपने आप ऐसा स्वयंभु होगया क्या? वहां व्यवहार—पर्याय कुछ नहीं है? उसका उत्तर इस गाथा मे है। एक ही आचार्य निश्चयदृष्टिसे वर्णन करते हुए उत्पादव्ययरूप व्यवहारमें जो तरंग उठती जो सव-मुखी वर्णन है उसको शब्दोमें इस तरहकहा है। देखो यहां शिष्यमें अव भी धैर्य है कि निश्चयके वर्णनको सुनकरके व्यवहारके वर्णनमें निश्चय का संकोच नहीं होता है। व्यवहार परभी विरोध नहीं करता व्यवहारके प्रकरणमें निश्चयका विरोध नहीं करता, किसी प्रकरणमें वस्तुस्वरूप यथार्थ सुनकर जैसा है तैसा वनकर निर्णयका प्रयत्न करता है। देखो—जव निश्चयका वर्णन चलता है तो वह व्यवहार के उच्छेद का भय नहीं करता। ऋजुसूत्रनयके वर्णनमें आचार्य कहते हैं कि इस ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें हम यह नहीं कह सकते कि कौवा काला है, क्यों नहीं कहते कि जितना कौवा है उतना काला नहीं है, जितना काला है उतना मात्र कौवा नहीं। इस लिये हम ऋजुसूत्रनयकी दृष्टि में यह नहीं कह सकते कि कौवा काला है। रूई जल रही है हम यह नहीं कह सकते। क्योंकि जो रूई है वह जल नहीं रही है और जो जल रही है वह रूई नहीं है। ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें हम यह नहीं कह सकते कि रूई जल रही है, शिष्य प्रश्न करता है कि महाराज यहां तो व्यवहार ही उड़ा जा रहा है तो आचार्य उत्तर देते हैं कि व्यवहार के उच्छेदका भय मत कर, उच्छेद होता है तो होने दो तू तो इस नय के प्रकरण में इस नय का विषय समझ ले, तो प्रयोजन क्या होगा?

हमारा प्रयोजन इस सम्बन्ध में यह है कि ऋजु सूत्रनय का सूक्ष्म विषय है यह करणानुयोग की बात बतलाई। इसका प्रकृत से यह मतलब है कि जब निश्चयदृष्टिसे वस्तुस्वरूप का ध्यान करने बैठे हो तो कोई चिन्ता न करके वस्तुके निरपेक्ष स्वभावको देखो यह तुमारा द्रव्य व्यवहार तो तुमारा बनाये रहेगा वस्तु का ठीक स्वरूप तो जानो इसका इसमें निज का स्वरूप कैसा हैं परकी अपेक्षा रहित उसमा स्वरूप कैसा? इसलिये भाई निःसंकोच होकर भ्रमरहित होकर जिस समयमें जिस दृष्टिको लेकर देखो हमतो उतना ही कहते हैं जिस समय में यहां व्यवहारका वर्णन करें तो निश्चय पर पक्ष करने वाले वह अपने आप को मान ले कि हम तो व्यवहार वाले ही हैं इसी तरह जब निश्चयःदृष्टि का वर्णन हो तो वहाँपर व्यवहारका पक्ष रखनेवाले अपनेको निश्चयवाला माने। निश्चयदृष्टिमें सुननेवाले बने, निश्चय दृष्टि को लेकर ही देखे कि द्रव्य का क्या स्वरूप है इसी प्रकार से निश्चय के निरपेक्ष स्वरूप में देखो जिससे ठीक २ स्वरूप जिस दृष्टि में किया जाय उससे वस्तुको पूरा जान सको फिर निश्चयके विषय पर लक्ष्य बनाकर अपनी पर्यायको निर्मल बनाओ।

निश्चय निरंश निर्विकल्प की ओर संकेत करता है परन्तु वस्तु कभी दशा रहित होती। उत्तम अवस्थामें भी रत्नत्रयकी प्रवृत्ति व्यवहार है तो उसका मूल द्रव्य निश्चय है। उससे पहिले यदि रत्नत्रयका विपरीत परिणमन व्यवहार है तो वहाँ भी उसका मूल वह द्रव्य निश्चय है। आत्मा के साथ साथ बंध व्यवहारका निमित्त रत्नत्रय स्वभाव नहीं नहीं किन्तु मोहनीयता कही है। कर्म की १४८ प्रकृतियों में श्रेष्ठ प्रकृति तीर्थंकर प्रकृति है उसका भी बंध यद्यपि सम्यग्दर्शनके होने पर होता है तथापि उसका निमित्त शुभराग ही है आत्मस्वभाव नहीं तभी तो बंध के १६ कारण भावनावोंमें शुभविकल्प आया है। देखो दर्शनके होनेपर जो प्राणियोंके उद्धार होनेका विशुद्ध भाव हो वह दर्शनविशुद्धि है; वह भाव तीर्थंकर प्रकृति बंधका कारण होता है।

सम्यग् दर्शन के होने पर भी जगत् के जीवों के प्रति इनका मोह छूटे ऐसी भावना हो सकती है वह दर्शनविशुद्धि है। सम्यग् दर्शन से पहिले वह जीव मोक्षमार्गी ही नहीं कहलाता। जिन्हें सम्यक् दर्शन प्राप्त हुआ जिन्हें पर द्रव्य से भिन्न सहज ज्ञानातरक एक निज शुद्ध आत्म की रुचि हुई उनके ही तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो सकता है क्योंकि अनुभूत पुरुष ही उसविषयक सत्य अभिप्राय को कर सकता है सम्यक् दर्शन मोक्षका साधन है वह किसी कर्मका बंध नहीं करता और इस ही प्रकार न सम्यग्ज्ञान ही बंध करता और न सम्वक् चरित्र। परन्तु सम्यग्दर्शन के होने पर "संसारके प्राणियों का कैसे मोह छूटे" ऐसा जो अनुराग होता है, संसारके जीवोंको मोहसे दुःखित देखकर जिनके मीठी विह्वलता पैदा होती है जो तत्त्व से विभाव है ऐसे उस भाव को निमित्त मात्र पाकर कार्माण वर्गणायें तीर्थंकर प्रकृति को प्राप्त हो जाती हैं। यहां दर्शन विशुद्धि का यह अर्थ नहीं है कि मात्र सम्यग्दर्शन की निर्मलता, क्योंकि सम्यग्दर्शन से बंध नहीं होता। सम्यग्दर्शन के होने पर जो विशिष्ट शुभ परिणाम होरहा है उस निमित्तसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। यदि सम्यग्दर्शन की निर्मलता कर्मके बंध करनेके लिये हो तो फिर और क्या ही ऐसा रहा या होगा जो कर्मसे छुड़ा देगा इस लिये यही स्वभाव दृष्टिसे निर्णय करना कि सम्यग्दर्शन तो कर्म से छुड़ाने वाली हमारी चीज है, उसके होते हुए जो विशुद्धभाव होते हैं उससे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता। सम्यग्दृष्टि के यह भाव याश्रद्धान नहीं होता कि मैं संसारके जीवोंको मोहबंधनसे छुड़ाकर मोक्षमें पहुंचा दूंगा क्योंकि यह भाव कर्तृत्व बुद्धि और आश्रवभाव को लिये हुए है ऐसा मिथ्यात्व अंधकार सम्यग्दृष्टि के नहीं हो सकता, ज्ञानीके मिथ्यात्वका प्रति षेध आम्नाय युक्ति स्वानुभव में प्रसिद्ध है। कर्तव्य बुद्धि ही संसार का मूल है फिर जिसे "संसारके जीवोंको छुड़ा दूंगा, संसारसे पार कर दूंगा" यदि ऐसी श्रद्धा हुई तो वहां

सम्यग्दर्शन ही संभव नहीं है। वहां तीर्थंकर प्रकृति का बंधन होगा। इस तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किसी सम्यक्त्व में होता है परन्तु होता है केवली श्रुत केवलीके निकटमें। तब आप यह सोच लेंगे कि जिनके क्षायिक सम्यग्दर्शन है ऐसे जीवके भी इस तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होजाता क्षायिक सम्यदर्शन में भारी निर्मलता है वहां भी विशिष्ट शुभ विशुद्ध परिणाम हो तो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। जगतके जीवोंको दुखी देखकर "इनका मोह छूट जाय देखो तो चैतन्य स्वभाव यहीं है इस पर ये दृष्टि नहीं दे पाते सो यह दुर्बलता नष्ट होवे" इस धर्मानुराग से उनके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो जाता। तीर्थंकर प्रकृति बंध वाले नियमसे थोड़े ही कालमें अर्थात् अधिक से अधिक तीन भव में संसार से पार हो जाते हैं। यह प्रकृतिकी महिमा नहीं किन्तु आत्म स्वभावकी महिमा हैं। निर्मल सम्यग्दर्शन २५ दोषों से रहित कहा गया है उन दोषों में शंका कांक्षा आदि ८ दोष निःशंकित आदि आठ अंगों के अभाव से ही होते हैं। इस ही कारण जैसे शरीर के ८ अंग होते हैं उन अंगों का समूह ही सम्यग्दर्शन है उसही प्रकार निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये आठ अंग हैं इनका सवमुदायात्मक एक भाव सम्यग्दर्शन है। वे ८ अंग जो निश्चय दृष्टि का स्वरूप रखते हैं उसका समूह ही सम्यग्दर्शन है। निश्चयके ८ अंगोंके होनेपर व्यवहार के ८ अंग जिस पद में रहते स्वयमेव आजाते हैं निर्विकल्प अवस्था में व्यावहार के ८ अंग नहीं होते हैं और न किसी दृष्टि के अंगों का भेद विकल्प ही है, तथापि निश्चयदृष्टिसे किसी अंगका स्वरूप देखने पर वह एक ही सम्यक्त्वं परिणाम उपयोग में रहजाता है! पहिले अंगका नाम निःशंकित है। जिस ज्ञानी ने अपने आपमें ऐसा निर्णय कर लिया मैं आत्मा चैतन्य स्वरूप हूं, अपना चैतन्य स्वभाव अविचल है, मेरे में काम क्रोध मान माया लोभ आदि कोई विचार नहीं है, मैं एक स्वयं अखण्डित द्रव्य हूँ, मेरा कोईसा भी परिणमन परपदार्थके परिणमनसे नहीं होता ऐसे वस्तुके स्वरूपको जिसने पा लिया वह अपने

विषयमें इतना निःशंक रहता कि जिसके विषयमें समयसार में लिखा है कि यदि ऐसा उपद्रव भी आजाय जिससे तीन लोकके प्राणी अपने मार्गको छोड़कर हट जांय परन्तु स्वरूपमें श्रद्धावाले आत्मा अपने अन्तरंग के धर्म परिणामसे कभी नहीं हट सकते। इसका कारण यह है कि उस ज्ञानमें अपनी दुनियां चैतन्य जितनी मानी हुई है उसका घात परसे नहीं है। अपना परलोक इतना ही माना जिसके कारण से दुनियांकी परिणतिसे ज्ञानी कभी विचलित नहीं होता। उसको दृढ़ विश्वास है कि यह चैतन्य परिणाम ही यहां मेरा लोक है, इससे बाहर लोकों को अर्थों को अपने लिये नहीं समझता क्योंकि सारे पदार्थ उससे भिन्न है। उनसे जब मेरा सुधार विगाड़ नहीं होता तो मेरी दुनियां वह कहां जायगी। मेरी दुनियां तो वह है कि जिसकी प्रसन्नता से मेरा भला है और जिसकी अप्रसन्नता से मेरा बुरा है। लोक भी लोक ऐसाही कहा करते हैं कि मेरे मित्र बंधु तो यह है क्योंकि यदि यह नाराज हो जावेंगे तब मेरा जीवन कठिन है और इनके प्रसन्न बने रहनेसे मेरा जीवन सुकर है। तब अपने में भी यह विचार करो मेरी दुनियां मेरे भाई मेरे पिता पुत्र आदि सर्व यही चैतन्य है जिसकी निर्मलता से हम सुखी होते हैं और जिसके नाराज होनेसे मलीन होनेसे हम दुखी हो जाते हैं। जिस ज्ञानमें ऐसी श्रद्धा है वह बाह्य पदार्थकी परिणतिसे विचलित नहीं होता। ऐसी तीक्ष्ण आत्मस्वरूपदृष्टि अन्तरात्मा बनाये हुए है कि जगतमें किसी भी पदार्थ का कुछ कहीं कोई परिणाम हो उसके परिणमनसे अपने आपमें क्षोभ पैदा नहीं होने देता निःशंकित अंगका यह वस्वथरू हैं फल है। सोचो तो भैया। तीन लोक इतना बड़ा है, किसी थोड़ी जगह रहनेवाले कुछ कहे, करे सोचें तो मेरे आत्मस्वरूपका क्या बिगाड़ कर दिया। जगतमें अनन्त जीव हैं, जीवों की परिणति मेरे अभीष्टके प्रतिकूल हो गई तो उसने मात्र से उस प्राणी से मेरा क्या बिगाड़ हो गया। अथवा कितने दिन उसका मेरा साथ है। अंत में तो मरने के बाद तो सबसे विदा हो

जाते मैं भी अकेला ही परभव को जाता हूं। मैं अपने भावकी निर्मलता रखे रहूं तो मेरे लिये सुख होगा और भावकी मलिनता करूं तों मेरे लिये मेरे से ही दुख होगा उस वस्तु स्वरूप की श्रद्धा करने वाले ज्ञानी निःशंकित होते हैं। स्वरूप की अपने शास्त्रों में चर्चा है उन शास्त्रों में उसकी दृढ़ श्रद्धा होती है और अपनी ही बात इन शास्त्रों में मिल गई इन तो इन शास्त्रों के कहने वालेपर उस ज्ञानीकों कितनी दृढ़ श्रद्धा हो गई। यह बात सर्वज्ञ ने कही है।

इससे श्रद्धा उसके माननेकी अपेक्षा यहीं उठे हुये ज्ञानके प्रयोगसे शास्त्र की श्रद्धा और सर्वज्ञा व सर्वज्ञकी महत्ता मानने वाली की श्रद्धा पुष्टि लिये होती है और सर्वज्ञने कहा इसलिये वह सत्य हैं, इतनी मात्र वाह्य श्रद्धा है तो यह श्रद्धा तो उड़ सकती है, जो बात हमको अपने आप में मिली है उसकी श्रद्धा अति दृढ़ है। इस बात का कितने निर्विवाद प्रतिपादन उससे हो सकता है जैसा इसको कहने वाले जितने निर्मल हैं। यहां से उठने वाली श्रद्धा यहां के लिये बड़ी अमिट हो जाती है ज्ञान की कितनी बड़ी बात है वह ज्ञानवल वाह्य से नहीं उठता ज्ञानीका वल अपने अन्तरंगसे उठता है चाहे वह श्रद्धा की भी बात हो तो ज्ञान के अपने अंतरंग में से वह श्रद्धा उठती है। अमुक ने कहा सो मानलो ऐसा ज्ञानी नहीं होता उन तत्वो का अपने आप में प्रयोग करता है वह उसके मनमें ठीक उतरता है तव सर्वज्ञा ने जो कुछ कहा है परीक्ष की भी वातें स्वर्ग नरक समुद्र द्वीप आदि यह भी विलकुल सत्य है। जिसके खास तत्व की वात ऐसी निर्दोष सत्य है जो हमारे अनुभव में पूर्ण उतर गई तो उसकी कही हुई सर्व बात बिल्कुल सत्य है ऐसी जिनवाणी में जैन शासन में सम्य-दृष्टि की अविचल श्रद्धा रहता। निश्चय में निःशंक रहता है तत्व यह है ऐसा ही है और प्रकार से नहीं है इस प्रकाप भगवान के उपदेश में जो वात कही वह कितनी सत्य है ऐसी रुचि होती है उसे कहते हैं निःशंकित अंग। तथा निश्चयसे अंतरंगमें मेरे स्वरूपका कोई विगाड़ कर

सकने वाला नहीं है यह स्वरूप ध्रुव है जिस स्वरूप को लिये हुए अनादि से चल रहा है, उस स्वरूपको शरीर तो क्या अनन्त कर्म वर्गणाएं या उनके फल भी क्या कोई मुझे उस स्वभावसे खंडित कर सकता है ? न शरीर मुझे स्वभावसे मिटा सकता और न रागद्वेषादि भाव मुझे स्वभावसे मिटा सकते मुझ चेतनको चेतनसे अलग कर अचेतन करनेकी किसीके ताकत नहीं। अवस्थामें भावकर्म के उदय से निर्बलता है परन्तु स्वभावको मिटा नही सकता, स्वभाव चैतन्य ही रहेगा और यह चैतन्य एकाकी है स्वतन्त्र है अपनी परिणतिसे परिणमता है, निःशंकित अंगवाला ऐसा विचार करके अपने आपके पैरों पर खड़ा है। सिंहवृत्ति और स्वानवृत्ति इनमें बस एक यही अन्तर है कि सिंहवृत्तिवाले जीव अन्तरात्मा अपने चैतन्य स्वभावका स्वावलंबन करता है, अपराध भी हो जाय तो अपने रागद्वेषादि अपराधको देखकर उसे मेटता है परन्तु स्वानवृत्तिवाले मोही प्राणी न अपने चैतन्य स्वभाव का भान करते और अपराध भी करे तो न समझता है और न अपराध को निकालनेकी कोशिश करता किन्तु जो निमित्त अपने घात में पड़ गया उस निमित्तपर लक्ष्य करके निमित्तको ही तोड़ने जोड़ने के विषयमें प्रयत्न करता है जैसे कुत्तेको लाठीसे मारा जाय तो वह मारनेवाले पर दृष्टि न डालकर लाठीपर दृष्टि डालकर उसे चाबता है सिंहवृत्ति वाला सम्यक् दृष्टि कहलाता और स्वानवृत्ति वाला मिथ्या दृष्टि कहलाता। इस तरह दर्शन विशुद्धिके प्रकरणमें कहे जाने वाले सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंमें पहिला अंग निश्चय और व्यवहार से कहा दूसरा अंग निःकांक्षित है इसका यह अर्थ है कि अपने चैतन्य स्वभाव के अतिरिक्त किसी परिणतिमें अनुराग नहीं होना निश्चयसे निःकांक्षित है। जितनी भी मेरी कषाय की वृत्ति होती है उन कषायों की वृत्ति में रुचि नहीं होती, इस प्रकार कषाय की वृत्ति उठकर भी वह प्रगट में अलग बना रहता अपने ही आत्माके प्रदेशमें । फिर उसके उपयोग से बिल्कुल अलग बना रहे इसमें कितना बड़ा बल और शांति है। यह

सम्यग्दर्शन की ही ताकत है कि अपने में उठने वाली पर्याय से ऐसा और अपने आप से अलग रहता हूं, अलग ही सा हो रहा हूं अपने अन्दर। अनगार धर्मामृत में धर्मका महात्म्य वतलाते हुए लिखा है कि जिसके सम्यग्दर्शन हुआ है जो धर्मात्मा पुरुष है उस धर्मात्मा पुरुप के वाह्यमें यदि कोई उपसर्ग दुःख विपदा आजाय तो उसका चेहरा उदास तो दीखता है। पर धर्म भीतर खुश है वह ज्ञान भीतर अनुकूल है ऐसा अंतरंग सुख परिणाम आता यह सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है। वहाँ किसी ने प्रश्न किया कि धर्म यदि आंनद भरा रहा है तो चेहरेपर उदासी क्यों है उत्तरधर्म मानो कुछ डर गया है सो वह ऊपर अपना हर्ष नहीं वताता भीतर तो अपना हर्ष रखता ही है परन्तु धर्म अपनेमें अनाकुलताको ही लिये हुए है। वह ज्ञानी यद्यपि ऊपर उदास रहता है परन्तु भीतर अनाकुल है। जो उसके भीतर में उसके चेहरेपर कोई सम्यग्दृष्टि ही देखता। उदासीके समयमें सम्यग्-दृष्टि चेहरेपर खुशी ही देखेगें ज्ञानीके वातोंकी सारी कलायें ज्ञानीको मालूम है। वह अपनी कलाओंके द्वारा ही दूसरेको देखता है। साधारण लोग उसमें उदासी ही देखते हैं। परन्तु वह भीतर में ही अनाकुल रहता है। उस ज्ञानी जीवके जिसने अपने अपने चैतन्य स्वभावका दर्शन किया, कर्मके आधीन होनेवाले और अंतमें नष्ट होने वाले, दुखके उदयसे जो भरा हुआ है, पापके कारण है ऐसे विषय सुख में उसे रुचि नहीं होती उसे वड़ी ग्लानि होती, यह निःकांक्षित अंग है। चैतन्य स्वभाव के अतिरिक्त और भाव की इच्छा नहीं होना, निश्चयसे निःकांक्षित अंग का अन्तरंग है, और जगत के वाह्य सुखों की चाह नहीं करना व्यवहार से निःकाँक्षित है, इसी तरह निर्विचिकि-त्सितधर्मा साधु को देखकर जिनका शरीर मलिन है, मुख से दुर्गंध भी आती है व जो बीमार साधु है, दस्त भी लगा रहे हैं मूत्र पेशाव से भी लथपथ है फिर भी ज्ञानी जीव ऐसे प्रवाह में उस साधु के शरीर तक से भी ग्लानि नहीं करता और ग्लानि रहित होकर उसकी सेवा करता है

ज्ञानीके ज्ञानमें इतना अनुराग है कि ज्ञानीमें अनुरागको पाकर शौच वगैरह भी ग्लानि जैसी तुच्छ परिणति उसके हृदय में नहीं रहती। इस बात को दृष्टान्त लेकर के भी देखलो। माता का पुत्र में बड़ा अनुराग रहता है यदि पुत्र टट्टी भी कर जाय पर माता को ग्लानि नहीं होती। अपने हाथ से साफ कर देती हैं और दूसरे लड़के की टट्टी पड़ी हो तो उसमें ग्लानि आती है। इसका कारण क्या है कि इस माता को अपने में इतना अनुराग है कि उस अनुराग के कारण टट्टी विषयक ग्लानी विदा हो जाती है। इसी प्रकार ज्ञानी सम्यक् दृष्टी जीव को धर्मात्मा में इतना अनुराग रहता है कि धर्मात्माके शरीरसे उस ज्ञानीको जरा भी ग्लानी नहीं होती है, जिससे अनुराग हुआ उसके दोष में भी ग्लानि नही रहती, कभी कभी यह तो अनुभव की बात है। तो फिर शरीर के मल से उसे ग्लानि क्या रहे। जैसा किमाता पुत्रके कोई दोष समझे तो भी पुत्रसे ग्लानि नहीं करती। कोई सुन्दर प्रेम के उपाय से उस दोष को छुड़ाने का प्रयत्न भीतर स्वभाव से हो रहा है इसी तरह से ज्ञानी जीव को धर्मात्मा में कदाचित दोष भी है तो भी धर्मात्मा से ग्लानि नहीं होती। परन्तु अपने सदुपायों से उसके दोष जिस प्रकार निकलें इसके प्रयत्नस्वयमेव होजाते हैंनिर्विचिकित्सित अग कितना रहस्य भरा है अन्तरंग में राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ यह जो विभाव है है उनसे क्षोभ नहीं पाता हुआ चैतन्य स्वभाव के दर्शन में ही उसकीरुचि बनी रहती है। कभी भी उसमें यह भाव पैदा नहीं होता है कि मैं इतने दिन से धर्म में लग रहा हूं पर धनी न हो पाया मेरे अवधि ज्ञान चमत्कार आदि पैदा नहीं हो पाया इसको धर्म में ग्लानि स्वप्न में भी नहीं होती। ऐसा यह निर्विचिकित्सित अंग है। इसी तरह से अन्यअंग जिनका वर्णन कल करेगें उनकी शक्ति रूप इस दर्शन के होने पर जो ज्ञानी में वस्तु परिणाम होता है वह मोत से छूटकर चैतन्य स्वभाव को पाता है ऐसा उनका प्रथम अनुराग होता है इस भाव में तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है वह शुद्ध आत्मा के स्वभाव का लाभ उत्पाद व्यय ध्रौव्य करके सहित है १७ वीं गाथा में यह बात बतलाई थी कि यह

स्वयंभु स्वमें स्वयं के लिये स्वयं के द्वारा होता होता है। तब कहीं ऐसा न समझो कि यह तो अभावकी बात होगी ऐसा संकोच संदेह किसी श्रोताको आगया तो उसके निराकरण के, लिये यह गाथा चल रही है। श्रोता भी निराकरण के द्वारा वस्तु को शुद्ध कर रहा है। वहां कुछ चीज न हो ऐसी बात नहीं है उसमें तो खासियत यह है कि कोई पर्याय उत्पन्न होती, कोई पर्याय नष्ट होती है और द्रव्य ध्रौव्य रहता है यदि वह स्वयंभु कोई चीज है तो यह बतलाओ कौनसा पर्याय उत्पन्न हुआ और कौनसा नष्ट हुआ। देखो वहां शुद्ध पर्याय तो उत्पन्न हुई और अशुद्ध पर्यायका नाश हुआ और दोनोंमें एक द्रव्य हुआ। उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी बातको शुद्ध स्वरूपमें गटाया है अब अशुद्ध स्वरूपमें भी देखो—एक मनुष्य मरकर देव हुआ तो देव पर्यायसे उत्पन्न हुआ और मनुष्य पर्यायका विनाश हुआ देव पर्याय कब उत्पन्न हुई और मनुष्य पर्याय कब नष्ट हुई क्या ऐसा होता है कि पहिले मनुष्य पर्याय नष्ट होती है पीछे देव पर्याय पैदा होती हो या यह कि पहिले देव पर्याय पैदा होती है और पीछे मनुष्य पर्याय नष्ट होती है कि एक समयमें एक साथ मनुष्य पर्यायका नाश और देव पर्यायका उत्पाद होता है। हां एक ही समयमें मनुष्य पर्यायका नाश होता है और देव पर्यायका उत्पाद होता है संयोग वियोग एक ही समयमें हैं जैसा हम और आप दोनों किसी गाँवमें जा रहे हों। रास्तेमें एक छोटासा गांव आया वहां सलाह हुई कि आगे हम अकेले जांयगे यहांसे लौट जावो। तब आप वहींसे लौट गये। फिर कोई आदमी पूछता है कि तुमारा उनका कहां वियोग हुआ तो उत्तर है उस छोटे गांवमें वियोग हुआ उस छोटे में भी दोनोंका साथ था, वियोग कैसा तो जैसे संयोग और वियोग-का स्थान एक ही है जहां वियोग हुआ वह स्थान अंतिम संयोगका भी था जैसे मनुष्य आयुमें निषेक ८ बजे तक चल रहा है ८ बजकर एक समयपर देव आयुके निषेकका उदय हुआ। यहां देखो मनुष्य का ८ बजे तो मनुष्य आयुकाउदय है, सो वहां तो मरण नहीं

आयु का उदय आया वहां वह देव बन गया तो मनुष्य मरा कहाँ? यह बतलाओ मनुष्य के मरने की बात यदि कही जा सकती है तो देव आयु का जो प्रथमनिषेकका उदय है वह जिस समय में है उस समय में मनुष्य का विनाश कहा जा सकता है तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक ही में हुआ, इस बात का इस प्रवचनसार में ज्ञेयाधिकार में विस्तृत वर्णन होगा। इस तरह से जब नवीन पर्याय का उत्पाद हुआ था उसी समय पूर्वपर्याय का विनाश हुआ यदि उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक वस्तुका ऐसा स्वभाव न हो तो जो पुरुष अधर्मी है वह अनन्त काल में अधर्मी ही रहेगा जब उसमें दूसरी पर्यायकाउदय हो तो अधर्मी पर्याय का विनाश हो इसलिये धर्मी पर्यायके उत्पाद बिना अधर्मीपर्यायका विनाश नहीं हागा। भैया! उत्पाद व्ययका इसमें स्वभाव पड़ा है, इसलिये कल्याण हो सकता है प्रत्येक जीव के नवीन नवीन पर्याय का उदय होना पूर्व पर्याय का विनाश होना यह हम सब के अनुभव में भी आता है और पौराणिक कथा में भी सुनते हैं तो वही स्पष्ट है। क्षण २ में दूसरी पर्याय देखी जाती है यह उत्पाद व्ययध्रौव्य का ऐसा स्वभाव है, क्षण में आत्मा में पर्याय बदलती रहती है इस तरह से अपनी पर्याय को विनाशीक जान कर पर्याय में मोह न करो किसी पर्याय में आत्म बुद्धि न करो जो नाश हो जाने वाली चीज है उसको अपना मानने से अपना लाभ नहीं हो सकता जो ध्रुव चीज है उसमें आत्मीय बुद्धि करने से अपने में कुछ मिल सकता है। लोग अपने अपने करामातों को दिखाकर चले गये उनकी कोई भी बात नहीं रही उस भव में क्या होता होगा, उस भव में अपने परिणाम के अनुसार सुख दुःख पाता होगा। यह जीव इस ही तरह निजविज्ञान धन से भ्रष्ट होकर विभावों में ही रत रहता हुआ संसार परिभ्रमण करता है। संयोगाधीन दृष्टि का ही विकारी स्वाद लेता रहा है। हे आत्मन्! देख सौभाग्य से सुभवितव्य से यह उत्तम नरभव पाया आत्मा तू वही है जो पहिले था अनेक भवों के अनेक संपदाविपदा से तू अघाया नहीं। सारे भ्रमण का मूल पर्याय बुद्धि है।

इस पर्याय बुद्धि को छोड़ द्रव्य दृष्टि कर। तू स्वभाव की महिमा तो देख। पर द्रव्य से अत्यंत भिन्न अपने में अविभक्त शुद्ध निर्मल निरुपधि पारिणामिक भाव सुधाका पान कर। जो तेरे स्वभाव के अनुरूप है वह तो तेरी कला है और जो विपरीत है वह सब कलंक है। तेरा स्वभाव है विशुद्ध चैतन्य। और भी ध्यान रख तू सामान्यविशेषात्मक है फिर भी तू इन दो तत्त्वों में जो कि एक साथ रह रहे हैं मात्र विशेष की पहिचान में रहा उसके फल स्वरूप अनंत काल संक्लेश सहा, आकुलित क्षुब्ध रहा। अब तू यह कर, विशेष तो ज्ञेय बना उसका विरोध न करके सामान्य का दृढ अवलम्बन ले ऐसा दृढ़ अवलम्ब लक्ष्य कर कि जिसके बाद अन्य पक्ष न आवे और यह पक्ष भी मिट जावे। तू शुद्ध बुद्ध निरञ्जन ज्ञान पूर्ण है, उस स्वरूपको क्यों नहीं देखता पूर्ण विश्वास और व्यवहार कर कि शुद्ध चैतन्यभावके अतिरिक्त कोई भी औपाधिक भाव मेरे नहीं है। भैया! एक शिक्खके २ लड़के थे उनमें छोटा लड़का पढ़ने लिखनेमें चतुर था लोकोंके समझानेपर उसे पढ़ाया और पढ़ने विलायत भेज दिया जब वह वैरिष्टरी पास करके आया। तब मंडलाधीश ने उसका उत्सव किया वहां वह कलेक्टर कहता है उसके पिता से कि यह तुम्हारा बालक बहुत होशियार है तब पिता बोला कि यह मेरा लड़का नहीं है मेरा लड़का तो (बड़ेका इशारा करके) यह है कलेक्टर ने पूछा कि यह तो बड़ा बुद्धिमान् वैरिस्टर है इसे अपना न कह कर इस अपढ़ को क्यों अपना कहते हो तब सिक्ख बोला कि यह पढ़ ही तो आया है, रोजगार अच्छा कर लेगा इतनी ही तो बात है है, परन्तु हमारे कुलकी कलामें तो पूरा नहीं है कलेक्टर ने पूछा इसकी पहिचान? तब सिक्ख ने एक ८ हाथ की चौड़ी खाई खोदी और कहा कि मेरे कुल में शूरता निर्भयता और कर्मठता की कला चलती रही, इसे पूरा कराइये, इस खाई को उल्लंघ जावे। वह वैरिस्टर एक घोड़े पर सवार होकर उसे लांघने आया ज्योंही खाई के पास आया घोड़े की लगाम तानली और रुक गया। बड़े लड़के से कहा कि अब तुम इस

खाई को लांघो वह बोला स्वयं कूद कर लांघू या घोड़े पर सवार होकर। सबने कहा कि घोड़े पर सवार होकर। यह घोड़े पर सवार होकर चला; घोड़ा दौड़ता हुआ जब खाई के पास आया तब उसने एक ऐड़ और लगाई, घोड़ा लांघ गया फिर वह स्वयं बोला इसमें तो घोड़े का ही बल था अब मैं स्वयं लाँघूंगा वह दौड़ा और कूद कर स्वयं लांघ गया। जब इसका विवरण हुआ तब पता चला कि बैरिस्टर को मरनेकी शंका थी, बड़ेके मनमें यह शंका ही न थी।

भाइयो ? जगतके वाह्य अर्थोंके निमित्त इस अमर विशुद्ध चैतन्य में अब क्या शंका करते हो ? तुम अनंत चतुष्टयके अधिकारी हो इस मोह खाई को लांघ जावो यह तुम्हारे कुलकी कला है अन्यथा बड़े बड़े विज्ञान भी पालो स्वरूप दृष्टि नहीं हुई तो उसे भगवान का प्यारा नहीं समझना। निज अनादि अनंत अहेतुक ज्ञान स्वभाव की प्रवल भावना करो तब उस उपयोगमें राग द्वेष को अवकाश ही नहीं मिलेगा। इन का वस्तुतः कोई स्वामी नहीं है मात्र भ्रम से इस जीवने पालन पोषण का भार ले रखा है। देखो रागादि यदि आत्माके हैं तो जब तक आत्मा है सदा रहना चाहिये और यदि पुद्गल कर्म के हैं तो पुद्गल कर्म का ही कुछ होता रहो आत्माको इसमें क्या विगाड़ हो, फिर क्यों क्षुब्ध होता है। निमित्त दृष्टिसे देखो तो पुद्गल कर्मके हैं व उपादान दृष्टि से देखो तो आत्माके हैं परन्तु स्वभाव दृष्टिसे देखो तो वे हैं ही नहीं। तव स्वभाव दृष्टि बनाओ उनका ध्यान ही हटावो वे तो मिटेंगे ही। आत्मा परिणमनशील है। यह अधर्म पर्याय छूटकर धर्म पर्याय आती है अथवा यों अधर्म पर्याय छूट जाती है दोनोका एक ही समय है। धर्म दृष्टिसे धर्म पर्याय आती है और अधर्म दृष्टिसे अधर्म पर्याय आती है धर्म है आत्माका चैतन्य स्वभाव। कहा भी है "वत्थुसहावो धम्मो" तव इस हो प्रतिभासमात्र चैतन्यभावका लक्ष्य रखा तो ध्रुव नित्य अंतः प्रकाशमान है फिर सब कल्याण ही कल्याण हैं। इस निर्मल दृष्टि के होने पर वे भाव ही नहीं आते जिनसे मिथ्यात्वादि पाप कर्म वंधते

है, हां पहिले अज्ञान अवस्थामें जो कर्म बांधे थें उनका कुछ विपाक है उसे कदाचित् गुजारेमें करता है तो भी ज्ञानी अपने निर्मल लक्ष्यके कारण स्वभावमें ही ढलता है और कर्म निर्जराको प्राप्त होते जाते हैं।

अतः सर्व विकल्प छोड़कर मात्र निज पारिणामिक भावका ही लक्ष्य रखो इसही में सत्य कल्याण है। इसमें कभी पर्यायमूढता नहीं आती। पर्यायमूढ परसमय है द्रव्यद्रष्टा मुक्तिमार्ग के सत्य सैनिक हैं। दर्शन विशुद्धिके प्रकरणमें कल निर्विचिकित्स अंग तक हो गया इसके वाद अमूढ दृष्टि अंग है वह यही तो अमूढता है, अमूढ दृष्टि कहते हैं कि ऐसी दृष्टि होना जो मूर्खता पूर्ण न हो, उसे कहते हैं अमूढ दृष्टि। मूढ माने मूर्खता पूर्ण दृष्टि होना सो मूढदृष्टि और मूढ दृष्टि न होना सो अमूढदृष्टि। कुदेवकु गुरु कुशास्त्र इनमें श्रद्धा जाना सो मूढदृष्टि है इनमें न जाकर देव शास्त्र गुरुमें ही रुचि रहना यह अमूढ दृष्टि है, निश्चयसे आत्माका जैसा स्वरूप है उस स्वरूपमें सावधान रहना उसमें मूर्खता न आना इस स्वरूपके विरुद्ध अपने आपको न समझना अमूढ दृष्टि अंग है। ज्ञानी जीव निर्भय क्यों रहता है इसलिये कि उसे अपना स्वरूप हस्त गत है इसलिये भय का कोई प्रयोजन नही, भय क्या है, लाखका टोटा पड़ गया इसमें भयकी क्या वात है, मैं आत्मा चेतन्य स्वरूप अनंत गुणका पिंडरूप ज्योंका त्यों अव भी तो हूं। यहां से गया क्या। यहां किन्हींने कोई उपसर्ग कर किया तो भय काहे का ? यह अनंत गुणोंका पिंडरूप आत्मा ज्योंका त्यों यहां ही तो है इसमें आया क्या ? इसमें गया क्या ऐसी वस्तुके स्वरूपकी श्रद्धा है इसलिये सम्यग्ज्ञानी जीव निर्भय होता है सम्यग्दृष्टि अनादि अनंत अहेतुक असाधारण चैतन्य स्वभावसे कभी मोही -अज्ञानी नहीं होते। अमूढ दृष्टि अंगके वाद उपगूहन अंग होता है। उपगूहन अंग कहते हैं धर्मात्माओंके दोप छिपाने को।

दोप कई तरहसे छिपाया जाता है जैसे एक तो प्रजामें दोपोंको प्रगट न करना क्योंकि उस धर्मात्मा के दोप प्रगट करनेसे किसीको लाभ

नहीं होता। न तो प्रजाका ही लाभ होता व न कहने वालेको ही न जिसके दोप कहे गये उसको लाभ होता है। दूसरे धर्मात्माओं के जो दोष हैं उसको समझाकर उसको दूर करना इस तरहसे दोपका उपगूहन होता है—तीसरा यदि धर्मात्मा माने ही नहीं इकदम उद्दंडता पर उतारू हो जाय, यदि आयोग्य क्रिया करता रहे तो उसे गुरुजन डाटकर उचित दंड देकर यहां तक कि संघसे निकालकर दीक्षा छेदकर उसके दोपोंको धार्मिक प्रवाहमें से निकाल देते हैं अर्थात् जिस किसी प्रकारसे धर्मकी प्रसिद्धि हो उस उपाय से उपगूह करे। समाजमें देशमें दोप प्रगट करने से धर्मका ही हास्य लोग करते हैं इसलिये दोप प्रगट न होने देना उपगूहन अंग है।

यहां कोई उपाय कर उसे छिपाओ उसे समझाओ या उसे दंड लिवाओ कुछ भी प्रक्रिया करो परन्तु लोगोको उनके दोप प्रगट न हो सके ऐसा वात करना उपगूहन अंग है, इसका दूसरा नाम उपवृंहण अंग है आत्माके गुणको वृद्धि करना अपने गुणका विकास करना सो उपवृंहण अंग है और अपने चैतन्य भावमें दोपोंको नही आने देना सो उपगूहन अंग है धर्मात्माओ के दोपोंको प्रगट न होने देना व्यवहार में उपगूहन अंग है अपने आप के चैतयन्न स्वभावमें अपने दोपोंको प्रगट न होने देना उत्पन्न न होने देना सो निश्चयसे उपगूहन है। उपगूहन अंग के वाद स्थितिकरण अंग है कोई धर्मात्मा धनके अभावसे या आजिविकाके अभावसे या लोगोंके अपयशसे या शरीरकी कमजोरीसे किसी कारणसे धर्मसे विचलित हो रहा है तो उसे विविध उपायों से धर्ममें स्थिर करना, स्थितिकरण अंग है जैसे पुष्पडाल मुनिको वारिषेण मुनिने अपनी गृहस्थीकी रानियोंको श्रृङ्गार करवा कर के दिखाकर पुष्पडाल मुनिको वैराग्य वढाकर धर्ममें स्थिर किया। उपाय नाना होते हैं ध्येय एक होना है। तथा निश्चयसे अपने आपको काम क्रोध, मान, माया, लोभ कपायोंसे विचलित होते हुए भी सद्वचनोंके द्वारा अपने आपमें स्थिर कर दिया सो स्थितिकरण अंग है। दूसरेको स्थिर

करना वाह्य स्थितिकरण अंग है। अपने आपको स्थिर कर देना सो निश्चयसे स्थितिकरण अंग है। यह जीव अनादिसे कर्मोंसे मलिमस है यह अनेक दोषों को वनाता आता है जब तक यह जीव स्वरूपमें नहीं छुपता अप्रमत्त अवस्थामें नहीं होता तब तक किसी भी जीवकी आलोचना करे तो आलोचनाके लिये ५० विषय मिलते रहेंगे जब तक दोषका पिटारा है यहां कौन सा ऐसा व्यक्ति मिलेगा जो गुणोंसे ही भरपूर मिलेगा बड़े २ बड़े गाधी नेताको भी लो, ऊंचेसे ऊंचे साधु के दोष खोजने चलो तो दोष मिल जाँयगे क्योंकि परमात्माही निर्दोष है परन्तु जिनके दोष खोजने मात्रकी ही आदत है उसके सबसे बड़ा यही है दोष दोपदृष्टि वालेकोसर्वत्र दोषही नजर आयगें गुण तो उसकी दृष्टि में आ भी नहीं सकते। कोई विवेक ऐसा होता जो गुण और दोष देख करके गुण पर विशेषभार देवे। जो गुण ही देखे वह गुणी और गुणके प्रेमी है, इस कारण हम और आपको यदि अपने कल्याण मार्गमें चलना है तो दोष दृष्टिको दूर कर अपना मार्ग साफ करने के लिये गुण दृष्टि लेना चाहिये दोष दृष्टि लेने वाले अपने दोषकी दृष्टि करे मुझमें क्या २ दोष हैं हां अपने ही उद्धारके लिये हमें यदि शरणके दोष जानने की आवश्यकता हो व दिखने में आ जाय तो उसका निषेध नहीं, क्योंकि जहां हमें श्रद्धा करके अपना कल्याण मार्ग वनाना है वहां हमें निर्दोषका आश्रय लेना चाहिये। ज्ञानीउस दोष को जाननेका अपने कल्याणके वास्ते ही प्रयत्न करते हैं परन्तु आज तो संसारमें रुढि चल गई। जो दोष देखते हैं वह अपने कल्याणके वास्ते दोष नहीं देखते किन्तु अपना व्यसन बढ़ानेके लिये उस दोषको देखा करते हैं— जो भी काम करे अपने हितके लिये करे।

अपने हितके लिये दूसरे के दोषोंको समझो परन्तु अपने हितका जहाँ लेश भाव है ही नही और दोष देखकर जहां व्यसन बना रहे वह स्वयं उसके लिये घातक है। स्थितकरण अंग वाले किन उपायोंसे धर्मात्माओंकी स्थिति करते हैं यह उपाय सम्यग्दृष्टि होने पर उसके

सरल बन जाता है। उद्देश्यका बोध होने पर भैया! उलझन नहीं, दूसरेको किस प्रकार धर्ममें स्थिर करे यह उपाय उसकी समझमें ही है। कितनेके दोष समझाकर दूर किये जाते हैं कितनेके दोषदंड देकर दूर किये जाते हैं कितनोंको स्थिर करना उपदेशसे होता है, कितनों को स्थिर करना विनयसे होता है कितनोंको स्थिर करना अनुराग बढानेसे होता है कितनोंको स्थिर करना सेवासे होता है कितनोंको स्थिर करना धनकी सहायतासे होता है। जुदी २ परिस्थितिवालोंमें जुदे २ उपायों से स्थिर करनेका उपाय चलता है। स्थितिकरण—दूसरे यदि धर्मसे विचलित होता है तो उसे धर्ममें स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग व्यवहार में है। खुद धर्ममें विचलित होता हो तो खुदको धर्ममें स्थिर करना निश्चयसे स्थिति करण अंग है। अब वात्साल्य अंग। वात्सल्य अंग कहते हैं निश्छल निष्कपट प्रत्युपकारकी आशा विना जो धर्मात्माको प्रेम किया जाता है उसको कहते हैं वात्सल्य अंग। विष्णुकुमार मुनिको कौनसा स्वार्थ था जो ७०० मुनियोंको उपसर्गसे बचाने के लिये इतना बड़ा त्याग किया, कितना बड़ा त्याग? कि त्याग का त्याग करके ऐसा उपसर्ग बचा लिया। आप कहो कि त्याग का त्याग करने वाले—बहुत मिल जायंगे परन्तु त्याग का त्याग करनेमें जिन्हें खेद हो रहा है और त्याग का त्याग बडे ही कार्यके लिये आवश्यकसा मालूम पड़ रहा हो, वही त्याग का त्याग करे तो उसकी आत्मासे पूछो कितना दुःख होता है विष्णुकुमारने इतना दुःख स्वयं अपने पर लेकर जहां उपसर्ग बचाया है देखो वात्सल्यकी कितनी पराकाष्ठा है। प्रेम कहते हैं तो इसको कहते हैं धर्मात्माओंके उपसर्ग आने पर उनका उपसर्ग दूर करना प्रेम बढाना यह वात्सल्य अंग व्यवहारसे है। निश्चय से अपने आपके ज्ञायकभावमें रुचि करके उसमें स्थिरतासे रहना अपने गुणमें प्रीति करना इसको कहते हैं वात्सल्य अंग। आठवां अंग प्रभावना है। इस अंगमें अज्ञान रूपी अंधकारको दूर करके जैन शासनकी प्रभावना करना प्रभावना अंग है। बडे २ उत्सव

भी मनालिये जाँय बडे २ कल्याणक भी मना लिये जांय परन्तु अज्ञान रूपी अंधकारको दूर करनेका उस उत्सवमें कोई उपाय नही रखा तो वह प्रभावनाका रूप नहीं है। लाखों रुपया खर्च करके उत्सव में दूसरेके अज्ञान को दूर करनेका कोई उपाय नहीं रखा तो वह प्रभावना अंग नही है हां कल्याणक हुए स्थापना की पंच कल्याणक बन गये उसे उत्सव कह सकते, परंतु प्रभावना वह कहलाती है कि जिनके द्वारा लोग देखकर यह कहेंगे कि यह उद्धार करने वाला धर्म है। तो यह बात दूसरेके हृदयमें आ जाय तो उसका नाम ही प्रभावना है। अब आप सोचलो कि दूसरेके मनमें यह बात कैसे आ सकेगी? यह आ सकेगी उनको ज्ञानदान देने से। ज्ञानदानसे बढ़कर और कोई प्रभावना धर्मकी नहीं होती यह तो है बाह्य प्रभावना। परन्तु अपने आप को रत्नत्रयके तेजसे प्रभावित करके बढ़ाना उसे कहते हैं अंतरंग प्रभावना इस तरह आठ अंगोंसे सहित उसका सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। मूढतासे रहित अनायतनोंसे रहित सम्यग्दर्शनके होने पर जिसका यह परिणाम हो जाय जिसका चैतन्यभाव अपनेमें देखा ऐसा चैतन्य भावकी सबमें स्थापना करके ये ऐसे सुखमय अपने चैतन्य स्वभावको क्यों देखते नहीं, क्यों दुखी हो रहे, कैसे इनका संसार दूर हो ऐसे परिणाममें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है तीर्थंकर प्रकृति तो आस्रवरूप है किंतु सम्यग्दर्शन मोक्ष मार्ग है। सम्यग्दर्शनके प्रभावसे अंतमें जो पूर्ण अवस्था होती है अब उसी पूर्ण अवस्थाका उत्पादव्यय ध्रौव्यकी दृष्टिसे इस १८ वीं गाथामें वर्णन करते हैं

उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन चीजें प्रत्येक द्रव्यमें पाई जाती हैं उस कारणसे शुद्धात्मामें भी ऐसी अवस्था होती है। द्रव्यका स्वरूप उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित है (युक्त है) प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद व्यय धौव्य पाया जाता है, तब शुद्धात्मा कोई द्रव्य से न्यारा थोड़े ही हो गया, वह भी तो द्रव्य है, शुद्ध हो गया. शुद्धात्मा के उत्पाद व्यय ध्रौव्य खोजना ऐसा कहते हैं या ऐसा हुवाते हैं। कहां हुवाते हैं।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन चीजें भी मेरे उपयोग में विशेप रूप से हुवाते हैं कहां हुवानी हैं सिद्ध में हुवानी हैं अर्थात अपने ज्ञानकेद्वारा सिद्धमें इस समय उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध करते हैं और जिसमें सिद्धोंका उत्पादव्यय ध्रौव्य देखो जानो समझो ऐसे जैसेकि उस उपयोगके अनुरूप अपने आपमें ऐसी कोई विशेपता पावें। इस प्रकार उनके उत्पाद व्यय ध्रौव्य को कहते हैं।

उप्पादो य विणासो विज्जादि सव्वस्स अत्थजादस्स।
पज्जायेण दुकेण वि अत्थो खलु होदि सब्भूदो ॥१८॥

समस्त जितने भी पदार्थ हैं उनका किसी पर्याय में तो उत्पाद होता है व किसी पर्याय में विनाश होता है परन्तु उन सब पर्यायों के अन्दर पदार्थ सद्भूत रहता है जैसे शुद्ध सोने का अंगद पर्याय से तो उत्पत्ति हुई अंगद कहते है जो भुजावो में पहिना जाता है, जैसे सोने की वाजू बंदरूपमें पर्याय की तो उत्पत्ति देखी गई और आपजो पहिले थी उन अंगूठियों की पर्याय का विनाश हुआ व पीली आदि पर्याय जो कि यहां गुणस्थानीय है दोनों जगह उत्पत्ति विनाश को नहीं प्राप्त हुआ, वहां इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य हुआ अर्थात् सोने की ५,७ अंगूठियां थी किसी ने कहा कि इन अंगूठियों का एक अंगद बनादो। उसने उन अंगूठियों का अंगद बना दिया तो देखो वहां अंगद का तो हुआ उत्पाद और अंगूठियों का हुआ विनाश परन्तु सोना दोनों जगह वही सोना है दोनों जगह वहीपीलापन है तो पीलापनका और सोनेका ध्रौव्य रहा है। इस प्रकार समस्त पदार्थों का किसी पर्याय से उत्पाद किसी पर्याय से विनाश होता और किसी पर्यायसे ध्रौव्यपन बना रहता। इसमें ही वस्तु है और वह स्वयं परिणमता हुआ है। प्रति क्षण २ वह परिणमता ही रहता अमुक समय का जो परिणमन है उसको उत्पाद और उसी को विनाश कहते है। जैन सिद्धान्त के अन्दर अर्थात् वस्तु स्वरूप से विनाश और अभाव सर्वथा अभाव रूप नहीं हुआ करता किन्तु किसी कि सद्भावरूप होता है जैसे किसी ने कहा चौकीपर

समयसार रखा होगा उसे उठा लावो उस चौकीपर समयसार था ही नही तव वह कहता है कि वहां समयसार नहीं है उसे वहां समयसार का अभाव दीखा है क्या ? समयसार का अभाव चौकी के सद्भाव रूप पड़ा अर्थात् समयसार रहित चौकी का नाम समयसार का अभाव है। क्योंकि जिसके समयसार का अभाव समझ में आया उसके दिमाग की दृष्टि को देखो कि उसके कैसेसमझ में आया अभाव। ऐसे ही समझमें आया कि जिस आधारमें समयसार उसे न मिला वह आधार देखा तब समयसार का अभाव उसने कहा इसलिये अभाव किसी पदार्थों के सद्भाव रूप हुआ करता है तब पर्याय का विनाश ऐसे दूसरी पर्याय का सद्भाव रूप हुआ करता है। देव पर्याय का उत्पाद ही मनुष्य पर्यायका विनाश कहलाता है, जिस क्षण में प्रथम ही प्रथम देव पर्याय का सद्भाव हुआ उस अवस्थामें मनुष्य पर्याय का अभाव कहा जाता है वस्तु के उत्पाद व्यय ध्रौव्य की एक में स्थिति है। स्थिति है। स्थिति उसका नाम ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य है कि प्रत्येक समय स्थिति सामान्य रहे इस तरह वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। ध्रौव्य वह होना कहलाता है कि प्रत्येक समय स्थिति सामान्य रहे इस तरह वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य में गुम्फित है और जितने गुण हैं उतने गुणों का उत्पाद और उतने हो गुणों का विनाश और उतने ही गुणों का ध्रौव्य भूत ही वस्तु है। इसलिये वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त समझने के लिये ज्यादा कठिनाई नहीं पड़ती प्रत्येक वस्तु अनेकान्त स्वरूप में दिख रही। लोक व्यवहारमें एक मनुष्य के लिये पिता पुत्र, मामा भानजा आदि रिस्तों का उपयोग किया जाता है। प्रतीत होता है कि उस मनुष्य में मामापन भी है भानजापन है पुत्रपन भी है। ऐसे २ कितने धर्म मनुष्य में हैं, परन्तु कोई एक अपेक्षा से ही सारेके सारे रिस्ते मानले लड़केके ही सारेके सारे रिस्ते मानले तो वह विरोध खा जायगा। जितने धर्म होते उतनी ही अपेक्षायें होती है। जितने गुण होते उतनी ही दृष्टियां होतीं हैं। एक वार वनारस में

गंगादास नाम के पंडित रहते थे, वह सभी सिद्धान्त के बड़े पारगामी थे, जैन सिद्धान्तों को पढ़ने का मौका मिला सो उन ग्रन्थों की छाप पड़ गई। जिनसिद्धान्त के ग्रन्थों को पढ़ने की स्वार्थियों के यहां बहुत तेज मनाही हैं। क्योंकि जैन सिद्धान्त सरल सत्य सीधे रूपमें रखे है। जो ठीक जल्दी सच्ची समझमें कारण होजातेहै इसलिये यह डर लगता कि कहीं पढ़कर यह श्रद्धा न कर बैठे तो हमारे घरसे चला जाय ऐसे डर के कारण जैन सिद्धान्त को पढ़ने की मनाही है। पर जैन सिद्धान्त यह कहते हैं कि दुनियां के जितने सिद्धान्त हैं तुम सब सिद्धान्त को पढ़ो सब धर्मके मत खूब पढ़ो सब मतोंकोपढ़ो और उस मतमें दोप देखने की दृष्टि से न पढ़ो, थोड़ा २ यह भी कहता है सब मतों का अध्ययन करो और उस मत के गुण को देखो। अपनेमें वह दृष्टि लेवो कि इसका सिद्धान्त किस दृष्टि से ठीक वैठता है। जगत में जितने सिंद्धान्त हैं किसीका सिद्धान्त सर्वथा असत्य नहीं है, किसी दृष्टि से इनका सिद्धान्त ठीक किसी दृष्टि से इनका सिद्धान्त ठीक, जगतके जितने सिद्धान्त सब दृष्टिमें ठीक है, परन्तु आचार विचार की अभी बात नहीं कहताहूँ। जिसमें आप यह शंका करने लगे कि बलि करना कौन तरह से ठीक है हिंसा करना कौन तरहसे ठीक है? ये कार्य स्वरूप के नहीं है हम तो सिद्धान्त की बात कहते हैं द्रव्य के स्वरूप की बात कहते हैं। द्रव्य में कि किनने क्या स्वरूप जाना क्यों स्वरूप देखा उन्होने दिमाग लगाकर वस्तु में जो स्वरूप जाना वह उसका गलत ख्याल करके नहीं जाना। किस दृष्टि से जाना इसको पहिचानने की आवश्यकता है। जितने बड़े ऋषि हुए कपिल हों या और कोई उन्होने मोह छोड़कर अपनी बुद्धि के अनुसार द्रव्य के विपय में जो निर्णय किया वह निश्छल किया तपस्वी हुऐ उन्होने घर का मोह छोडा, धन वैभव का मोह छोड़ा, जंगलों के बीच में साधना कर रहे थे द्रव्य के स्वरूप का विचार कररहेथे अपनी बुद्धिके अनुसार निष्पक्ष होकर द्रव्यकी खोज कररहे थे। उनके सामनेकी स्थितिकोदेखकर आप विचारें इन्होंने अपनी बुद्धिकेद्वारा द्रव्यके विषयको

समझा वह गलत नहीं समझा। परन्तु यह देखो उन्होंने उससमय क्या दृष्टि बनाई होगी आप भी अनुभव करके देखो आप जब किसी द्रव्य का वर्णन करने को चाहते हैं, किसी द्रव्य को खोजना चाहते हैं तो आप अपने को एक दृष्टि मुख्य बनायेंगे। उन्होंने जा वर्णन किया उसके करने में कौनसी दृष्टि मुख्य बनाई थी। जिस दृष्टि को लेकर उन्हें ऐसा जचा; बस, उस दृष्टि को जानने की आवश्यकता है। उस दृष्टिसे उस द्रव्यको देखो जिस दृष्टिसे उन्होंने द्रव्यको देखा। उस दृष्टिको मुख्य करके देखो आपको कहीं गलती भी नजर नहीं आयगी द्रव्य स्वरूप भी समझ में आ जायगा। इसका यथार्थ निरूपण स्याद्वादने किया जैसे सूर्य और सूर्य की किरणें। सूर्य सबका समूह रूप समझो और एक २ किरण जैसे कि ये दिखती कि छूट रही हो हां वस्तुतः सूर्य की कुछ भी चीज सूर्य से बाहर नहीं हैं, चमकते हुए सूक्ष्म संघ किरण रूप में दिखती हैं, मूल जो सूर्य है। वह सब किरणों को पकड़े हुए हैं जिस एक २ किरणको छोड़े हुए है वह एक एक है किरण है स्याद्वाद सब दृष्टीको पकड़े हुए हैं और इस स्याद्वादकी जो एक किरण निकले वह द्वैतवाद अद्वैतवाद अनित्यवाद क्षणिकवाद आदि अनेक दृष्टियां है।

द्रव्यके स्वरूपको व जो और लोग कहते हैं उनकी दृष्टिको पाकर अपना समाधान करो। सर्वरूप से जो द्रव्यस्वरूप जचता है, प्रमाणसे वैसा निश्चय करलो। वैसा निश्चय करनेके बाद फिर आपको अपना ख्याल करनेकेलिये जिस भावकी दृष्टी चैतन्य है आप उस चैतन्यदृष्टी का ही अवलंबन लेकर बैठ जांय स्वरूपके उपयोगमें पर्याय निर्मल होगा और स्वयंमें आप चैतन्यमय कारणसमयसारके अनुरुप विशिष्ट हो जायगे। यहां इस उत्पाद व्यय धौव्यके विषयमें अनेकान्तके विषयमें प्रकरण चलरहाहै और बतलाते हैं कि प्रत्येक द्रव्य धौव्यात्मक है कोई एक भी बातचीत ऐसी लेवो,कोई भी पदार्थ ऐसा बतलाओ, जो उत्पाद व्यय धौव्य से रहित हो कोई भी नहीं है तब अच्छा वह शुद्ध आत्मा है तो उसमें भी उत्पाद व्यय धौव्य तीनों के तीनों पाये जातेहैं

यह तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्यका लक्षण है। आत्मामें भी उत्पाद है व्यय है और ध्रौव्य है। अब वह किस तरहसे है जिस समयमें वह आत्मा शुद्ध हुईहै उसके पहिले क्षणमें कारणसमयसारकी प्रक्रिया थी कारण समयसार दो प्रकार का होता है, द्रव्यकारणसमयसार एक पर्याय कारणसमयसार। द्रव्यकारणसमयसार तो अनादि अनन्त होता है, पर्याय कारणसमयसार कार्यसमयसारके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें पहिले क्षणमें हुआ करताहै और कार्यसमयसारके उत्पत्तिके क्षणमें कारण समयसारपर्यायका नाश हो जाताहै, तो क्या हुआ कि जिस समय उस शुद्ध आत्माको शुद्धता प्रगटहुई अर्थात् शुद्ध आत्माका रुचिकरना शुद्ध आत्माका अनुभव करना, शुद्ध आत्मामें निश्चल अनुभव करना यह हुआ कारणसमयसारकी पर्याय यह कारणसमयसारपर्याय मोक्षमें तो नहीं होता किन्तु और केवलीके प्रगट रहती। अरहंतदेव विवक्षावश कारणसमयसार व कार्यसमयसार दोनों ही हैं। कार्यसमयसारपर्याय तो कार्यसमयसारकी पर्यायका उत्पाद हुआ और जो पूर्व पर्याय कारण समयसार थी वह विनष्ट हुआ। प्रगट दोनों पर्यायमें परिणमनेवाला आत्म द्रव्य ही हुआ। क्योंकि वह एक पदार्थ है। इस प्रकारसे उस शुद्ध अवस्थामें भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य ऐसा रहा। यह उस समयकी बात है कि जिस समय वह शुद्ध होता है। शुद्ध होनेके बाद क्या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहता यह बात यहाँ नहीं आई यहां तो सिर्फ उस क्षणकी बात कही जारहीहै, जिसमें शुद्ध आत्मा होता है। शुद्ध होनेके बाद भी निरन्तर उत्पाद व्यय चलता रहता है वह इसी प्रकार का समान कारण समयसार पर्यायका नाश। कार्यसमयसारका उत्पाद और दोनोंके अन्दर आत्मा द्रव्यका रहना। यह उत्पाद व्यय ध्रौव्य कार्यसमयसारका प्रथमक्षण का है। मोक्ष मोर्ग का नाश मोक्षका उत्पाद दोनों में आत्मा का बना रहना उत्पाद व्यय ध्रौव्य है।

जिस समय मोक्ष होता है उस समय में मोक्ष पर्याय तो प्रगट होता और मोक्षमार्गकी पर्याय नष्ट हुई जिस जगह जाना है उस जगह

पहुंचने पर रास्ता खत्म हो जाता है इस तरह मोक्षमें पहुंचने पर मोक्ष मार्ग नष्ट हो जाता है और मोक्ष अवथा प्रगट हो जाती है। मोक्ष सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्रकी अधूरी अवथाका नाम है, और रत्नत्रयमय पूर्ण धर्ममय वस्तुका नाम मोक्ष है जिसके आगे कुछ भी न चलना पडे उसे कहते हैं मोक्ष या परमपद या मंजिल पाना। यदि और भी चलना बाकी है तो उसे रास्ता ही कहेंगे इसलिये चौथे गुण स्थानसे लेकर १४ वां गुणस्थान तक मोक्ष मार्ग कहलाता है और जहां १४ वां गुण स्थान छोड़ दिया उसे कहते हैं मोक्ष। इस तरह शुद्ध आत्माके विषयमें, उत्पादव्यय द्रव्य खोजने की बात कही जाती है। शुद्ध आत्माके अन्दर भी उत्पादव्यय ध्रौव्य जैसी तीनों जो द्रव्यके लक्षण को प्राप्त है होना बहुत जरूरी चीज है। ऐसा सद्भावात्मक शुद्ध आत्म-द्रव्य स्वयंभु है। ज्ञानका स्वभाव जानना है तो जानना है? यहां किसीने उसमें वस्तुओंको जानना लगा दिया है यह पहिले यह तो निर्णय किया जाय उसमें जानना, यदि लगाया तो जानना लगाने वाला स्वयं ज्ञानमात्र अनुभवमें है अथवा नहीं।

यदि स्वयं जाननेवाला ज्ञानमय है जिसने कि जानना ज्ञानको लगा दिया तो यह बात विपरीत है स्वरूप ज्ञान ज्ञेयाकारके उपयोगसे निवृत्त होता हुआ है। पुनः एक वस्तु दूसरी वस्तुको कुछ नही दे सकती। इस तरह ज्ञानमानमें तो अन्यको जाननेका विकल्प नहीं, गुण पर्यायकी अपेक्षा भी अन्य के ज्ञान देनेकी ताकत नहीं है। यदि वह ज्ञानमात्र दशामें नही है व हुआ भी नही है तो व्यवहारसे जान नपन ही उसका आशय समझें जिन पदार्थोंके जाननेको बल ही नही उससे यहां ज्ञान आ जाय यह बिल्कुल्ल असंभव है जानन मात्र तो ज्ञानका स्वभाव है परंतु परको जानना यह औपचारिक कथन है। ज्ञान अपनी ही वृत्ति करता परका नहीं, वैसे तो ज्ञानमें ज्ञेयाकार आता है और आते ही ज्ञेयाकारको ज्ञान लौटा देता है। यह लोटाने की क्रिया निरंतर रहती है। इस कारण यह मानना होगा कि ज्ञानका

स्वभाव स्वयं जानना है वह पदार्थोंको जानना किसीसे उधार नही लेना है किन्तु ज्ञानका स्वभाव जाननेका है। स्वभाव परकी अपेक्षा ही नहीं रखता जो पर्याय पर की अपेक्षा रखता वह पर्याय वस्तुकी स्वाभाविक नहीं कहलाती इस समयका जो हमारा ज्ञान है यह उत्पत्तिमें पर की अपेक्षा रखता। इसलिये यह ज्ञान जो विकास को प्राप्त हो रहा है। वह स्वाभाविक न समझा जाय, यद्यपि वह ज्ञान स्वभावके ज्ञानका ही परिणमन है परंतु जिस सीमाको लेकर ऐसी अस्पष्टताको लेकर जो ज्ञान है ऐसा ज्ञान विकाश हमारा स्वभाव नहीं है। ज्ञानका स्वभाव जानने का है और यह ज्ञान इन इन्द्रियों से विकल्पित पराधीन होकर भी जाननेके स्वभावको नहीं छोड़ता है इसलिये हमारे उस छोटे २ ज्ञानमें भी हमें ज्ञानके स्वभावको वल देना चाहिये। हमें जानकर पराधीनता का वल नहीं देना चाहिये अर्थात् इतने परतंत्र होकर भी हम ज्ञानी बन रहे यह हमारे स्वभावका माहात्म्य है। इस ज्ञानको समझनेके लिये प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक घटनाओंसे हम शिक्षा लेसकते हैं। इस पराधीन ज्ञानके अन्दर हम ज्ञान स्वभावको सीख सकते हैं। हमारे समझमें आने वाले राग आदि भावोसे अपने ज्ञानस्वभावकी शिक्षा ले सकते हैं वह कैसा। देखो एक कमरे के अन्दर यदि दीपक प्रकाशमान है व हम ऐसे आडमें वैठे कि हमको दीपक नहीं दीख रहा परन्तु कमरे में रहने वाले पटपर यदि पदार्थ दीख रहे हों वह दीखने वाले पदार्थ स्वयं ही यह वात सिद्ध कर देते है कि यहां दीपक है। इसी तरहसे इसमें ये राग क्रोध मान माया लोभ जो प्रतीत हो रहे हैं यह राग आदि इस वातको सिद्ध कर देते है कि यहां कोई ज्ञातमय तत्त्व है यह रागादि भाव हमारे ज्ञानमय तत्त्वको सिद्ध कर देते हैं यह शरीर हमारे ज्ञानमय तत्त्वको यदि जानना चाहें तो सिद्ध कर देता है और कोई शरारमें रमना ही चाहें तो सिद्ध नहीं होता वच्चेको पढाया जाता जीव वस्तु किसे कहते हैं-जो चलता फिरता खाना ढूढता हो वह जीव है यद्यपि सूक्ष्म दृष्टिसे यह लक्षण असत्य है तो भी जीवके सद्भाव से

शरीरमें ऐसी क्रिया हो पाती है। शरीर है इसमें तो यह चेष्टाएं नहीं होती, इसलिये इन चेष्टाओंके द्वारा शरीरका नहीं किन्तु ज्ञानमय तत्त्व का अनुभव कराया जो समझना चाहे उसे अनेक उपाय है, जो न समझना चाहे उसे साक्षात् तीर्थंकरका मिलन भी उपाय नहीं है। जो अपनी सुमतिमे रहना चाहे अपने आचरणसे रहना चाहे तो वेश्याका बाजार भी शिक्षा देने वाला है और जो कुमति से रहना चाहे दुर्भावसे रहना चाहे तो उसके लिये मंदिर भी अधर्मसे नहो बचा सकता है। धर्म अधर्म निश्चयतासे बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध नहीं रखता। वेश्या को देखकर ज्ञानी जीव इसी को विचारे और देखे तो सही यह है, कि चैतन्य तत्त्व उसके अन्दर भी है, सदा प्रकाशमान. भाव यह है इसने एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि अनंत पर्याय व्यतीत करके कितना ऊंचे पदको पा लिया है इतना ऊंचा पद पाकर। अपनी द्रव्य दृष्टिको भूलकर पर्यायबुद्धि करके अपने चरित्र को खराब कर दिया दुर्गति का बीज बो दिया है, आदि बातोंका विचार कर ज्ञानी जीव अपने ज्ञान स्वभाव से वहां भी विचलित नहीं हो सकता। कदाचित वेश्या दिख भी जाय तो उसके ज्ञानमें फरक नहीं आ सकता। हां उसे इच्छासे देखा भाला तो उसके प्रगट दुर्भाव सिद्ध है इसके अन्दर दुर्भावना सिद्ध है हम तो ज्ञानवानकी बात बतला रहे कि ज्ञानमें इतना अपूर्व बल रहता है, जिसे खोटे प्रतिकूल बाह्य साधनभी मिल जाँय तो भी अपने स्वभावसे चलित नहीं होता और किसीके कुमतिकी आदत है तो मंदिरमें भी बैठा २ किसीका रूप देखता है वहां पाप कमा लेगा—अस्तु! तो यह ज्ञातस्वभाव आत्माका पराधीन स्वभाव नहीं है। यह परकी अपेक्षा नहीं रखता। जो परकी अपेक्षा नहीं रखते तो इन्द्रियोंके बिना ज्ञान आनंद नियमसे होता है ज्ञान बढानेके बुद्धिगत ये साधन हैं कि मन्द कषायी बनो। कषायसे ज्ञानकी वृद्धि नहीं होती दूसरेके ज्ञानमें मात्सर्य न करे। ज्ञानके प्रचारमें अपनी शक्तिके अनुसार सहयोग दें ज्ञानी जीवका सत्कार आदि देखकर प्रमोद भावना करें और निरन्तर पर

पदार्थसे लक्ष्य हटाकर निरन्तर अपने आपके ज्ञायक स्वभावमें अपना लक्ष्य रखे जिस गुरुसे वात सीखी हो उस गुरुके नामको न छिपावे। किसीमें ज्ञानकी बात आती हो ज्ञानका साधन लगा रहता हो उसमें अंतराय न डाले यह सब यदि व्यवहारमें उतरे तो इसके ज्ञानकी वृद्धि नियमसे होगी। ज्ञान जितना रटनेसे पैदा नही होता जितना अपने आपकी संभाल करनेसे ज्ञान प्रगट होता है दो बच्चोंके स्कूलमें पढने भेजा, एक को रटनेसे याद नहीं होता, एकको एक बार पढतसे ही याद हो जाता है। यह ज्ञानकी वृद्धि वाह्य रटने पर अवलंवित नहीं है, यह तो आत्माके स्वच्छ भावमें अवलंवित है, क्योंकि ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है यह स्वभाव व यदि आचार व्यवहार ठीक है तो वही स्वभाव प्रगट होता है ज्ञान और सुख कैसे होगा।

जो परोपकारी रहते परमेष्ठीकी भक्ति रखते जिनके भाव कोमल होते हैं जिसकी नीति ठीक रहती है इस कारणसे उनके ज्ञानकी वृद्धि होती है यह ज्ञान आत्माका स्वभाव है आत्माके स्वभावकी ओर जो कि उन्मुख प्रगट हो जाता है आनंद भी आत्माका स्वभाव है। जो आत्माके स्वभावकी ओर ढला उसका ज्ञान व आनंद भी प्रगट हो जाता क इसी तरह स्वभाव भी परकी अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये इन्द्रिय से भिन्न आत्माके ज्ञान और आनंद पैदा हो जाता है, शुद्ध आत्मा इन्द्रियसे रहित है इसी कारण शारीरिक दुःख उनके नहीं होता। शंकाकार ने यह शंकाकी है कि जिस शुद्ध आत्माके इन्द्रिय नही होतीं होती उसके ज्ञान और सुख नहीं होगा? परन्तु यहां तो यह कह रहे हैं कि उनके ज्ञान, उनके पूर्ण सुख तथा शारीरिक सुख दुख रूप आकुलताका अभाव इस कारणसे है कि उनके इन्द्रियाँ नहीं है। जबतक इन्द्रियोंका ही काम है, इन इन्द्रियोंका ही व्यापार है तब तक यह जीव दुखी ही रहता जिन जीवोंके ये हत्यारी इन्द्रियां जीवित है। जीवोंको दुःख विषयके कारण से नहीं किन्तु मं ही जीवोंके स्वभावसे प्राकृतिक है। कुछ यह बात नहीं कि वाह्य परके कारणसे ऐसे उनके परिणमनसे ऐसी वांछा है

इसलिए दुःख हो रहा है वाह्य वातसे दुःख नही होता। वाह्य पदार्थ पदार्थ दुखी नहीं करते। यह दुख जीव स्वयं अपनी कल्पनासे कर रहा है। यही कारण है शुद्ध आत्माके इन्द्रियां नही हैं। सो इन्द्रियज सुख दुख नही है। ऐसी वात कहते हैं। ऐसी वात अपने अंदर भी सोचते हैं। ऐसी वात अपने अंदर भी वनाते हैं अपन भी ध्यान करके वैठो तो उस ज्ञान स्वरूपका ध्यान करने वैठो जो सहज ज्ञानका स्वरूप है केवल प्रतिभासमात्र अर्थात् जानना ही है। जानना तत्त्व ऐसी स्थिति रखता जैसा कि आप वाजारमें—जा रहे हो ५० देहाती आपको दिखाई दिये। आप किसीको जानते ही नहीं और यदि इनमें कोइ मित्र जा रहा है वह मिल जाय तो उसको दृढ करके जाना और विशेषतासे जाना तो उसके जानने और देहातियोंके जाननेमें ज्ञानकी वृत्तिमें कितना अंतर है ऐसा जानना जिससे देहातियोंको जानलिया। ऐसा जानना तो कुछ जाननेकी जात है। जैसा कि मित्रको देखा देखनेमें कुछ गृद्धता हो गई यह तो अत्यन्त स्थूल वात है, जानन मात्रका तो कोई दृष्टान्त नहीं।

जो जाननेमें कुछ राग हो गया तो यह जानना नहीं। यह राग सहित जानना रहा। ज्ञान वह है जिसे परका जानना तो रहा, परन्तु केवल प्रतिभास करे उसके साथ रागादि भाव नहीं हो। ज्ञानी जीव जानने स्वरूपको ऐसे सामने देखता है कि जाननेका स्वरूप ही यह हुआ करता। केवल जाननेमें केवल प्रतिभासमें जो स्थिति रहती है ज्ञानीके ज्ञानको उनका पूर्ण अनुभव है। इस वातको सामने रख लिया। जिसे कलकत्ता दिख गया तो चर्चा आते ही चीजें उसके सामने आ जाती है। जिसने कलकत्ता नहीं देखा कोई कलकत्ताकी वात सुनाये तो कल्पनासे सोचता है परन्तु सही स्पष्ट नहीं आ सकती। ज्ञानी जीवने ज्ञानमात्रकी स्थितिका अपना आंशिक रूप से ही सही अनुभव किया। इसलिये जव यह अनुभव करने वैठता ज्ञानमात्रमें स्वयंको सोचने वैठता तो उसके सामने वह स्थिति रहती है

कि ज्ञानका स्वभावमात्र इतना है। ऐसे ज्ञानके स्वभावको जाननेवाले उसीमें लीन रहनेवाले को शारीरिक सुखका पता नहीं हो सकता। वहां शुद्ध आत्माके शारीरिक सुख दुखका निषेध करके, आत्मीय सुखकी प्रतीष्ठा की जा रही है सो शुद्ध आत्मामें सुखकी प्रतिष्ठा करना यह काम नहीं समझना, किन्तु अपने आपके सुखके सुखसे लगाये हुए अपने आपमें प्रतिष्टा करनेकी बात कही जा रही है। दूसरेके सुखकी चर्चा करके हमको क्या मिलता है, भगवानके अनन्तज्ञान दर्शनकी बात कर के हमको क्या मिलता है, भगवानके बड़े २ अद्भुत गुणका वर्णन कर करके हमको क्या मिलता है। मिलता भी है नहीं भी मिलता। जिन गुणोंका हम वर्णन कर रहे हैं, जिन स्थितियोंको हम सोचते हैं उन स्थितियोंको उन गुणोंको अपनेमें सन्धियां करते हुए कर रहे हैं तो तत्त्व मिलता है और अपने आपमें सन्धि न करके अपने आपमें उन गुणोंको नदारद करके यदि कोई स्मरण कर रहा है तो पता नहीं उसे क्या नौकरी दी जा रही है जो इस प्रकारकी नौकरी बजाता है तो हम जानते हैं कि उसको वैभवकी चाहकी नौकरी मिल रही है। उसका वेतन जो मिल रहा है उस परमात्माके स्मरणसे वह क्या वेतन ले रहा है धन पुत्र मित्र आदि इसकी चाहकर वेतन ले रहा है इसमें मिलता क्या ? संसार कलंक। महोके कारण, परमात्माके गुणोंका ध्यान करने लिये वह मोही व्यर्थ परिश्रम कर रहा है और अंतर आत्माका ज्ञान जो अंतरंगके ज्ञानके भावमें से उठकर परमात्माके स्वरूपका अपने आपके स्वरूपका स्मरण करता है वह अपने आपके अधिकरण के लिये करता है।

इस वास्ते भगवानके सुखोका पर्यायरूपमें, स्मरण तो अपना ही काम करना ही कहलाता है। कोई कहते कि भगवानकी पूजा करने चलो यहां यह नहीं कहते कि भगवानकी मूर्तिका सहारा लेकर अपनी पूजा करने चलो। यदि ऐसा कहते होते तो उद्देश्य जल्दी न भूला जाता। पूजा करना तो भैया सच्चो यह है कि शुद्ध आत्माको रागद्वेषा-

दिसे शून्य देखलें। यह शुद्ध आत्मा—राग द्वेष क्रोध मान माया लोभसे शून्य यह आत्मा–इसको शारीरिक सुख दुख नही। आत्म तत्त्वको समझने वालोंके द्वारा आत्मतत्त्वके स्वरूपकी चर्चा सुनकर कुछ उस आत्मतत्त्वके समीप पहुंचकर विचार करते हैं कि इस आत्मामें तत्त्व क्या है तो देखा कि यहां तो कुछ नही ठहरता सो कितनोंने तत्त्वो पसव कह दिया। कितनोंने जाना कि यह तत्त्व शून्य तो है किंतु अध्यात्म तत्त्वकी ओर वढनेमें दर्शन शास्त्रमें आगे वड़नेपर, भूमिकामें उसके वाद भूमिका यह आती है "ऐसा मालूम होता है कि कुछ नहीं यह तो शून्य है आत्मा। रागादि भी स्वभाव नही है, ऐसा जानना भी उसका स्वभाव नही" इस तर्कके वाद सामान्य प्रतिभास रह जाय तो क्या रह जाय वहां? क्याकी वात नहीं उठती इसलिये मालूम होता है कि यह शून्य है।

इस दृष्टिको लेकर शून्याद्वैतवादीने अपने शून्याद्वैतवादके मतकी प्रतिष्ठा की है इससे जरा ऊंचे उठे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि ऐसा नहीं कि कुछ भी न हो किन्तु प्रतिभास है, प्रकाश है, एक व्यापक ज्योंति है और कुछ नहीं है। शून्यसे उठाकर, प्रतिभास तक आये तो यहां देखा प्रतिमास ही मालूम हुआ जिसे कहते हैं, प्रतिभासाद्वैत। प्रतिभास तो हुआ परन्तु वह न्यारा है या एक इस विकल्पके वाद उत्तर पाता है कि प्रतिभासैकत्वाद्वैत है। अव और कुछ विकल्पको चला तव देखता है कि प्रतिभास तो हुआ, पर वह प्रतिभास केवल हुआ ही नहीं किन्तु उसमें जानना पाया जाता है। इसलिये प्रतिभास प्रतिभासमात्र ही नही किन्तु वह एक ज्ञान स्वरूप है उसे कहते हैं ज्ञानाद्वैत। ज्ञानाद्वैतवादकी दृष्टिमें यह वात आ गई कि यह कुछ नहीं, यह ज्ञान ही है ज्ञानमें आया तव तो यह है उसमें नही आया तो कुछ नहीं; सारे पदार्थोंमें ज्ञान ही ज्ञान है, जगत ज्ञानके सिवाय दुनियांमें कुछ नही है। वह ज्ञेयका अभाव करता है और अपनेमें सव देखता है। अध्यात्म चर्चाओंको सुनकर और अपने स्वयंके दिमागसे जो व्यवहार

तत्त्व देखता है तो क्रमशः उसे कुछ २ अधिक २ समझमें आता जा रहा है कि चीज क्या है। ज्ञानमय सारा जगत। फिर यह विचारता है—यह सारा जगत, ज्ञानमय तो है पर यह ज्ञान क्या निराधार है! क्या किसी वस्तुके विना है, क्या यह जगतमें है, ऐसा ज्ञान क्या है जो किसीके रूपमें नही है, जिसे कोई आधार नही और कोई अधिकरण नहीं ऐसा ज्ञान कहां रहता है? कैसे रहता है? क्या चीज है? तो वह सोचता है कि नहीं, ज्ञान किसी के सद्भावमें है वह चीज है ब्रह्म। ज्ञाक विना वह केवलज्ञान कैसा? यह निराधार नहीं, वह ज्ञान कल्पना मात्र नहीं किन्तु वह ज्ञान जो है वह एक साधार है। द्रव्यमें है वह चीज है एक ब्रह्म। अब वह जगतके इन पदार्थोंको सबको ब्रह्मके पर्याय रूपमें देखता है कि यह सब ब्रह्मकी पर्यायें हैं यह सब ब्रह्मके विकार है यह सबतो कुछ भी तत्त्व नही है, यह सब ब्रह्मका विकार है यह सब आत्माका विकार है यह सब जीवका विकार है इस ब्रह्मसे-बढ़ कर और कुछ तत्त्व नहीं है।

देखो ये दर्शनवाले जिस जगह जिस तत्त्वको पाते हैं वह तत्त्व वहां उनकी दृष्टिमें है। और उसे जिन धर्मकी एकनयकी दृष्टिसे देखो। उस दृष्टिसे वहां सत्य जचता है असत्य नहीं जचता है यह जीव विकार है यह असत्य नही है। हमें यह बतलावो कि एक कांच इस धातुमें पहिले जीव आया और यह काच बन गया हो, आप इसे सिद्ध कर सकते हैं यह विना शरीरके ही आ जाय या आया हो। यह किसी जीवके संबन्ध विना काय बनी हो और इसने विना जीव संबंधके यह शक्ल पा ली यह सिद्ध कर सकते है? नहीं-कर सकते बतलाओ कि यह काच कहाँ से आया फलां कम्पनीसे आया। उसने कहांसे मंगाया। उसने जमीनमें जो धातु थी उससे तैयार किया। तो वह धातु क्या चीज थी वह पृथ्वीमें था। पृथ्वीकायिक जीव वहां आया काच जीवसे बना था। जीवके निमित्तसे यह बात प्रगट होती है यह कपड़ा जीवका विकार है यह कंकड़ जीवके विकारसे बना

यह छोटे २ कंकण जो बनगये वे जीवके भूतसंबंधसे बने हैं। यह रंग क्या चीज है।जगत के दिखने वाले जितने पदार्थ हैं उन पदार्थोंमें पहिले जीवका सम्बन्ध था तब यह बढ़ा यदि जीव न आवे तो कोई यह या और चीजवन सकती ? नही। यह पानी भी कभी नही बन सकता, यदि जीवका विकार पानी नही होता। यहां विकारके मापने जीवके निमित्तासे होने वाली पर्याय है पानी भी लो जीवका विकार न मानो कहांसे लावोगे, जो पानी आप लेवोप्रचाहे यह शुद्ध किया हुआ लावो प्रासुक लावो वह पानी जीवका ही विकार तो है उस पानी को जीवने तो शारीरिक रूपसे स्वीकार तो किया था तब वह पानी बना जीवके विकार विना रोटी तो बनाओं। कहां बनाओगे आग पर बनाओगे विकार हैं। कपड़ा पहनोगे तो कहां से पहिनाओगे ! तो जो हम पहनते हैं जीवका विकार था सब जो भी दिखती हैं वह सब जीवके निमित्त विकारमें आई। नही तो बन नही सकती शक्लमें नही आ सकतीइस जगतमें जो कुछ है वह ब्रह्मका विकार है वह ब्रह्म भाव सबकुछ है

शून्यसे उठकर यहां तो आये यह बात कहाँ तक सत्य निकली पपिचान लिया अब उस ब्रह्मको द्रव्य दृष्टिसे देखो। भाव दृष्टिमेंसे देखो सो कुछ हाथ न लगा अर्थात् यह आत्माभाव दृष्टिसे सीमित नहीं यह आत्मा भाव दृष्टिमें में व्यापक है। असीमित है इसलिये भावमें दृष्टिमें ब्रह्मको देखा तो अपना सारा जगत ब्रह्म स्वरूप मालूम पड़ा सो भी उपचारसे, यदि द्रव्यदृष्टिसे प्रथक २ रूपमें देखा तो अनन्त आत्माकी सत्ता बन जाती। जो बात आती है जिस तरह जिस दृष्टि से काममें आये उसे वहां उसी तरह काममें न लेवें और दूसरी तरह काम करे तो धोखा ही खा जायेगा। इस मत प्रकाशको स्थगित कर कल कहेंगे अब यह बात बतलाते है कि इस आत्माके जो कि शुद्धोपयोगके प्रभावसे स्वयंभु हुआ है (इस आत्माके) इन्द्रियोंके विना ज्ञान और आनंद कैसे रहता है। इस संदेहको दूर करते हैं प्रायः बहुतसे

लोगों को यह संकट होजाता कि जिस आत्माके पारमात्माके देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं उसे ज्ञान कैसे होता होगा और इसे आनन्द कैसा आता होगा। जिनने विषयोंमें ही आनन्द माना और इन्द्रियकेद्वारा जो आनन्द होता ऐसे ही जिसे ज्ञान माना उसे इस बातका अनुमानभी नहीं होसकता कि जबदेह नहीं रहता ऐसा परमात्माहै उसको ज्ञानआनन्द होभीसकता ? यहीं कारण है कि कितनेही लोगोंने बुद्धि सुख दुखइच्छा द्वेषप्रयत्न, रागधर्म अधर्म संस्कार इन ६ गुणोंके अभावका नाम निर्वाण बताया। जब आत्मामें बुद्धि नहीं रहती तब मोक्ष रहा। जब सुख नहीं रहा दुःख नहीं रहा तब मोण कहलाया देखोगे के साथ घुणभी पीस दिया दुःख अधर्मके विनाशके साथ ज्ञान और सुखका भी विनाश कर दिया क्योंकि उनका तो यह ऐसाही भाव था कि ज्ञान तो यह ही कहलाता है जैसा कि हम जाना करते हैं परन्तु यह क्या है ? यह तो ज्ञानकी अशुद्ध पर्याय है ज्ञान तो परमात्मा भावस्वरूप ध्रुव चीज है यह तो सिद्ध पर्याय भी नहीं है परन्तु जिन्होंने इस निष्कृष्ट ज्ञान पर्यायके अतिरिक्त कोई ज्ञान पर्याय शुद्ध होताहै यह उनके समझमें ही नहीं आया तब इन्होंने ज्ञान गुणका ही निषेध करदिया इसी तरह इस अनादि कालके मलीन जीवने यह समझा कि खाने पीने देखने सूघने आदि विषयं भावोंके अतिरिक्त सुख कोई चीज नहीं यही सुख है अर्थात् अन्य कोई आनन्द ही नहीं होता, इस कारण जिनके इन्द्रिय नहीं जिनके मन नहीं उनके आनन्द कैसा ? ऐसा सन्देह होता है। कोई हंस किसी कुएके तटपर बैठ गया। कुएमें रहनेवाले मेंढकने पूछा भाई तुम कहां रहते उसने कहा मानसरोवरमें उसने पूछा मानसरोवर कितना बड़ा है। बहुत बड़ा है। मेंढकने एक पैर पसारकर कहा-कि इतना बड़ा? तो हंसने कहा इससे भी बड़ा दूसरी टांग-तीसरी टांग-चौथी टांग पसारकर कहा इतना बड़ा ? तो हंसने कहा इससे भी बड़ा। मेंढक बोला तब तो तू झूठा है इससे बड़ी तो दुनिया ही नहीं है जितनी मेरी टांग है जितना

मेरा शरीर है उससे बड़ी तो दुनियां भी नहीं वह कहांसे आ जायगा। जिसकी बुद्धि इन्द्रियमें ही अटकी। इन्द्रियके स्वभावमें ही अटकी उसकी यह कल्पना नहीं होसकती कि इन्द्रियके विना ज्ञान और आनन्द भी कोई वस्तु होती है। इसे अनुभवी जान सकते हैं इसका जिसके अनुभव हुआ है वह पहिचान सकता है अब इन्द्रियके निरपेक्षपनसे, निरपेक्ष मात्र चेतन्यभावके अनुभवमें जो परमज्ञान और परम आनन्द होता है शुद्धोपयोगके प्रसाद से जो आत्मा स्वयंभु होजाती स्वयं ही में- स्वयं को स्वयंके लिये स्वयंसे स्वयं पा लेता है उसको ज्ञान और आनन्द सहज ही होता है इस प्रकारका वर्णन इस गाथा में करते हैं।

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि॥१६॥

जिसके घातिया कर्म नष्ट हो गये है जिनका अनन्त वीर्य प्रगट हो गया है, ज्ञानदर्शन के तेजसे जो युक्त है ऐसा वह जीव अतीन्द्रिय हो जाता है और उसके ज्ञान और सुख होता है। गुण गुणी का भेद तात्त्विक नहीं, वह परमात्मा तो स्वयं ज्ञान और सुखरूप परिणाम गये। ज्ञान और सुख हैं, उसके ज्ञान होना और उसके सुख होना ऐसा भेद भाव वहां नहीं देखना। वही परमात्मा अतीन्द्रिय होकर ज्ञान और सुखरूप परिणाम जाते हैं आत्मा शुद्धोपयोगकीसामर्थ्य से नष्ट होगये हैं घातिया कर्म जिसके ऐसे होते हैं। कर्मोंके नाश करने की पद्धति, कर्मों का लक्ष्य नहीं। कर्मके उदयसे पैदा होने वाले का लक्ष्य नहीं, कर्मोंके नाश करनेकी पद्धति किसी गुणके पर्यायकी दृष्टी नहीं, कर्मोंके नाश करनेकी पद्धति गुणों को भेद रूपसे देखना नहीं, किन्तु कर्मोंके नाश करने की पद्धति समस्त गुणों में अभेद स्वरूप ज्ञायक तत्त्व जिसमें कि सभी ज्ञान की सिद्धिकेलिये या ज्ञापकता की सिद्धिकेलिये ही और २ गुण सेवक हैं ऐसा प्रतीत होता, वह ज्ञायक तत्त्व जिसके लक्ष्यके अभेद रूप आ जाय तो ऐसा शुद्ध तत्त्व और उपयोगरूप परिणाम कर्मोंके

नाश करनेका कारण है। अपने आपको समझना काम है, कर्म अपने आप खिरजाते हैं। कर्मोंके नाश करनेका प्रयत्न करे तो कर्म और बंध जाते हैं क्योंकि परलक्ष्यसे कर्मबंध होता। निजके लक्ष्यसे कर्म का बंध समाप्त होता। जिनके घातिया कर्म नष्ट हो गये इन जीवोंने क्या किया था। यह समझा था कि मैं ज्ञानमात्र आत्मा इन इन्द्रियों से जुदा हूं और इन इन्द्रियोंके निमित्तसे पैदा होनेवाला जो इन्द्रिय ज्ञान है इससे जुदा हूं, यह इन्द्रिय जिन पदार्थों को विषय करती है इन सारे जगत के पदार्थोंसे जुदा हूं। इस प्रकार भैया द्रव्य इन्द्रियसे भावेन्द्रियसे और इन इन्द्रियोंके विषयसे भिन्न अपने ज्ञायक भावको समझलो कि इन्यिका और भावेन्द्रिय और विषयका त्याग होगया। क्या किसी योगीमें ऐसी समर्थता है जो द्रव्य इन्द्रियोंका बाह्यत्याग करसके। किसी योगी के ऐसी शक्ति है कि इन द्रव्य पिंडके सम्बन्धको अलग कर सके, नहीं कर सकता फिर शरीरका त्याग क्या है और द्रव्य इन्द्रियों का त्याग क्या है? अपने उपयोगमें शरीर और द्रव्येन्द्रिय न रहे। यही शरीर और द्रव्येन्द्रिय का त्याग है। किसी आत्माकी सेवा करके भी मित्रता करके भी यदि उसकी चित्तसे अंतरंगसे उसकी सेवा उसकी मित्रतामें-उसके काम में नहीं है तो यही कहा जाताहै कि यह न सेवा करना है न इसके मित्रता है न प्रेम है तो भाई कार्य तो उतना ही किया जाता कहलाता है जो अंतर प्रेम से किया जाता हो। यदि अंतरंग के भाव से नहीं किया जाता तो वह अकृत समझाजाताजो लोगोंके अनुभवसे देखलो यही बात यहाँ उपयुक्त होती है जब शरीर होते हुए इस शरीरमें अनुराग नही इन्द्रियोंके होते हुए इन्द्रियोंमें अनुराग नहीं तो यह कहाजाताहै कि शरीर इन्द्रिय दोनों का त्याग कर दिया। घरमें सम्पदा होते हुए भी जिसने सर्व परभावोंसे भिन्न ज्ञायक भावमय निजस्वरूपका भाव किया है तो उसके चित्तमें तो वह वैभव अत्यन्ताभावसालावाला पदार्थ है वह यदि सम्पदा घरमें है तोभी उसके मनमें यह बात है कि मेरी सम्पदा नहीं है। शरीर परिग्रहका त्याग विवेकी पुरुष अन्तमुहूर्तमें करदेता। अब घरसे निकलना और अपने

राज्यसे वाहिर होना या अपने शरीरके आभूषणोंका दूर करना आदि रह चाहे कितनी देरमें हो परंतु जिसमें श्रद्धा इन वाह्य पदार्थोंसे हटकर अपने निजी तत्त्वमें आ गई उसने सारे जगतका त्याग कर दिया। जगतमें रहने मात्रसे जगत परिग्रह नहीं होता। भरत चक्रीको घरमें रहते हुए विरागी (वैरागी) वतानेका यह प्रयोजन था कि यह छह खंडोके विभयमें रहकर किसी विभवमें राग नहीं करता था।

भैया द्रव्येन्द्रियोंका त्याग, भावेन्द्रियोंका त्याग विषयका त्याग यही है कि इनको पर जानकर इनसे रुचि न करना। यही इनके नाश करनेकी पद्धति है समयसारमें एक दृष्टान्त है जैसे दो मनुष्योंने धोवी को चादर धोने दी। एक मनुष्य वहांसे धुलने पर ले आया किन्तु वह चादर थी दूसरेकी। पश्चात् दूसरा गया तो उसे दूसरी चादर दे दी वह पहिचानकर पूछता है कि यह चादर मेरी नहीं है तव धोवी वोला अहो वह चादर उसके पास पहुंचगई भूलसे। आप ले आवें उसे यह दे देंगे दूसरा पुरुप गया चादर ओढ़े वह सो रहा था उसने आंचल पकड़कर कहा उठो यह चादर मेरी है यह सुनकर उसने पहिचानकी तो पूर्ण दृढ़ श्रद्धा हो गई कि इसमें मेरी चादरके चिन्ह नहीं इसलिये मेरी नहीं और यह तो देना ही पड़ेगी तव यहां देखो भैया ? वास्तवमें तो चादरका त्याग हो ही गया अव तो उतारनेकी देर है। हुआ क्या ? भिन्न पहिचान चुकना ही अंतरंगसे त्याग है वाह्य तो क्रिया मात्र है वह होती ही है, होगी ही, इसी प्रकार भिन्न २ स्वरूपास्तित्वसे पहिचान-जानना वड़ा पुरुपार्थ है इसके वाद अनुकूल चारित्र होता ही है। अज्ञानी जीव क्रोध मान माया लोभ रागद्वेप भावरूप चादरको अपनी समझकर उन्हें राग भावसे अपने सवागंसे ओढ़कर वेहोश होकर सो रहा है. ज्ञानी गुरु कहता है। और उस वेहोश पुरुपको समझाता हैं कि उठ २ जाग जिस चादरको जिस भावको तू अपने सवागंमें पाकर वेहोश है यह भाव तेरे नही है। तेरा स्वच्छ चादर तो ज्ञान है। ज्ञानी गुरुके द्वारा वार २ इस वातको सुनकर परीक्षा करता है कि

अहो यह भाव मेरा नहीं किन्तु क्षणिक है, परके निमित्तसे पैदा हुआ है मेरा चिन्ह तो दीखता ही नहो मेरा चिन्ह तो ज्ञान है, ठीक भी है जब पुरुप राग करता है तो ज्ञान नहीं रहता जब मान माया लोभ करता है तो ज्ञान नहीं रहता, इन भावोंमें तो ज्ञान पाया ही नहीं जाता यह भाव तो जब होते हैं यह जड़सा हो जाता है। विवेकने अपने लक्षणोंकी परीक्षाकी इन भावोंमें अपने लक्षण भाव नहीं पाये तो उस आत्माके उस समयमें विभावका विकाश छूट गया और जिन पदार्थोंके आश्रय, विभाग हुआ था उन सारे पदार्थोंका ममत्व छूट गया ! अब कर्मकी बरजोरीसे मुझे इन विभावोंको अपनी आत्मद्रव्यसे दूर हटाने में चाहे ५ सागर लग जांय, २-१ भव लग जांय परन्तु आकुलता अब अभी से नही है। सम्यग्दृष्टिके जगतके बाह्य पदार्थोंका उपद्रव अंतरंगसे छूट गया ऐसा विभाव जिसे छूट जाय उसके उस निज सुखके अनुभव होने को विपयी जीव क्या समझे यहांके अंतरात्मावोंका ही मर्म लौकिक जन नहीं पाते तो सिद्धका क्या पता पाये इसलिये तो सिद्धके बारेमें लौकिक आत्माको संदेह होता अलौकिक आत्माको संदेह नहीं होता है

जिनके इन्द्रिया नही उनके ज्ञान और आनंद कैसे होता होगा जब यह आत्मा शुद्ध तत्त्वके उपयोगके प्रसादके सामर्थ्यसे घातीय कर्मोंको क्षीण कर देता और जब घाती कर्म नष्ट हो गये ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनी, अंतराय जब नष्ट हो गये तब क्षायोपशमिक ज्ञान भाव व क्षायोपशमिक दर्शन इस आत्मामें नहीं रहता केवल ज्ञानी होनेसे वह सब नष्ट हो जाते, द्रव्यमें विलीन हो जाते। कितने ही पुरुप यह कह दिया करते हैं कि उस केवल ज्ञानमें यह सब ज्ञान गर्भित हो जाते "नही," गर्भित नही होते, वहां तो उनकी क्रियाकारिता ही नहीं रही। ज्ञान गुण एक है उसके यह ५ पर्याय है मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान और केवल ज्ञान गुणमें एक समय एक पर्याय रह सकती है इसलिये जब केवल ज्ञान

हुआ तब ४ पर्याय गर्भित नही होती वहां तो इन चारो पर्यायोंका अ-भाव हो गया यह चारों पर्याय क्षायोपशामिक ज्ञान है इस तरह चक्षु-र्दशन अचक्षुर्दर्शन अवधि दर्शन यह तीनों क्षयोपशमिक है केवली भगवानके केवल दर्शन होने पर क्षायोपशमिक दर्शन भी नहीं है इसलिये वह अनंत ज्ञानी अनंत दर्शनी अतिन्द्रिय हो वह साथ ही सर्व अंतरायक्षय होने से अनंतशक्तिमान हो जाता क्योंकि अनंत वीर्य उसके पैदा हो गया। सर्व ज्ञानावरण दर्शनावरणका विनाश होने से केवलज्ञान केवलदर्शन रूप तेज प्रगट हो गया। समस्त मोह नीयका अभाव होनेसे, अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वभाव आत्मा पा लिया। इसमें ज्ञान और सुख काअनंत स्वयं परिणमन जाता है। ज्ञान स्वयं ही अपनेमें आपका प्रकाश करने वाला है ज्ञानमें यह स्वभाव है, ज्ञानी अपने स्वभावसे ही पर प्रकाशक है, परके प्रकाशक नही। वह पदार्थ है इसलिये ज्ञानमें झलकते हैं ऐसे कार्य कारण भाव नहीं ज्ञानीका ऐसा ही स्वभाव है ज्ञानीके भी अंतरंगमें ऐसा ही तेज है अपने स्वभावमें जो है सो झलका लेता है।

कहीं ज्ञान परसे परिणम गया, पर पदार्थकी सिद्धि भी उनके कारण से नहीं है। ज्ञान अपने स्वभावसे ऐसा इन कलाओंको लिये हुए हैं। कि खुद ऐसा परिणमन करता है उसके अन्तरमें पर पदा र्थके प्रतिभासका परिणमन है जैसा ज्ञान सहज है वैसा सुख भी सहज है! सुख क्या है? आकुलताका अभाव होता इसको सुख कहते हैं। जिसने इन्द्रिय सुखमें सुखकी कल्पनाकी वे उसके इन्द्रिय सुखको देखे तो वह कैसे आकुलतासे रहित समझे। वह तो दुःख देखे तो सुख मानेगा। देखने वालेके देखनेके समय कितनी आकुलता रहती, भोजनके स्वाद वालेके वेगसे चाव (मुंह) चलने लगती है, धैर्य नही रहता कि मैं धीरे २ खाऊं एक ग्रास मुंहमें है तो दूसरे ग्रासकी कल्पना हो जाती है कि मैं मिठाई खा रहा हूँ तो अब नमकीन खाऊंगा। कितनी अधीरता। वैसी इसकी आकुलता है। जिसे इन्द्रियके भोग

में उसने सुख माना। उसमें कितनी आकुलता है कितना दुःख है। कि वह अपने दुःख को भी नहीं समझ पाता। जिसे विषयों जीवने सुख माना इसमें कितनी आकुलता है। गन्धके अनुभव करने में जिनने सुख माना उनको कितनी आकुलता है। रूप के देखनेमें जिसने सुख माना उसको कितनी आकुलता है राग रागनियोंके सुननेमें जिसने सुख माना उसको कितनी आकुलता हैं। उनके आचारको देखकर यह जानलोगे कि वे कितने दुखी हैं।

इन्द्रिय के सुखमें कितना दुःख भरा हुआ है। सम्यग्दृष्टी जीव इन्द्रिय सुखमें रुचि नहीं करते। उसे यह विपदा दीखती है वह बाह्य पदार्थसे रुचि हटाकर आपको आप में प्रतिष्टा करने का प्रयत्न करता है। सुखी है तो वह है जिसे आकुलता रंचमात्र भी नहीं है, जहां आकुलता नहीं है उसको सुख कहते हैं। ऐसे सुखस्वरूपको यह शुद्धात्मा परिणमजाता है। बड़े २ राजा लोग जब रात्रीमें अपने नगरमें गस्त लगाया करते थे एक बार किसी राजाने जब देखा किसी कुटी पर कुम्हार ढेले पत्थरोंपर भी पड़े २ नींद में बड़े खुर्राटे लेरहाहै, बड़े आनन्द से सोरहाहै,सो कभी २ वे राजा भी लालायित हो जातेथे ऐसा सुख हमको नहीं है। वहां विचारो शैली तो समझमें आ ही जावेगी कि सुख आकुलताका अभाव है, उस सुखका माप धनकी दृष्टीसे नहीं, अनाकुलता से करो। जिसे जितनी मूर्छा होगी वह उतना सुखी नहीं। एक साधुथा उसकी लंगोटी चूहे खा जातेथे। लंगोटीको खाने से बचानेको बिल्ली पाली उसके दूधकेलिये गाय रखी। गाय को चरानेकेलिये दासी रखी। दासीके साथ सम्बन्ध होगया लड़का हो गया एक रोज वह दूसरे गांव को जा रहा था नदीमें बाढ आई सब डूबने लगे तो सबने साधुको पकड़लिया साधुने सोचाकि बड़ीआफत आईतो उसे ख्याल आयायह सब लंगोटीके कारण हुआ। उसने लंगोटी उतारकर मूर्च्छा हटाई और तिर गया। गाय बिल्ली व उनके बच्चे भी तिरगये दासी व लड़के का पता नहीं वे भी तिरगये होगे। इससे पता चला-जब तक लंगोटीमें मूर्च्छा थी सब डूब रहे थे लंगोटी से मूर्छा हटाई सब तिरगये। उसी प्रकार

यदि घरमें एक आदमी धर्मात्मा हो जाय तो घर तिर जाय, घरका मालिक पापी हो जाय तो घर डूब जाय कषाय को नानाप्रकारकी मूर्च्छाओंको आत्मा पाकर अपने आपपर अन्याय करता अपने घरमें अन्याय करताहै। सुख तो अनाकुलता में है सुख बाह्य पदार्थों में नहीं जिसमें ,यह ज्ञान अपने से अनुभव करता है उन्हे वहां स्वयं अनाकुलताहोजाती है और सुखरूप परिणाम हो जाता है इस प्रकार ज्ञान और आनन्द तो आत्माका स्वरूप होता है इन्द्रिय तो ज्ञान और आनन्दमें बाधा देनेवाली थी। जो इन्द्रियसे ज्ञान आनन्द हुआ था वस्तुतःज्ञान और आनन्दमें यह बाधक हो रहा था इन्द्रियके नाश होनेमें क्या ज्ञान और आनन्द नष्ट होगा या उस ज्ञान सुख का परम विकाश होगा। यह एक महल है उसमें पांच द्वार है इस मकानके भीतर खड़ा पुरुप दरवाजेसे देखता है तो ज्ञान होता है क्या वहां आप यह कहेंगे कि अमुक आदमी दरवाजे के द्वारा देखता है ? वह आत्मा अपने ही कारणोंसेदेखता है। इसी तरह यह आत्माका ज्ञान स्वभाव है इस देहरूप मकानमें वंधा है। देहके मकान में इस मकानकी तरह ५ इन्द्रियोंके पाँच द्वार है। ऐसा प्रतीत होता है यह आत्मा द्रव्य इस इन्द्रिय के द्वारसे कारणसे ही जान पाता है। रूपका ज्ञान इन्द्रिय विना नही होता परन्तु जवस्व लक्ष्य के वलसे यह देह रूपी मकान न रहा, तो मकानके नष्ट होते ही खिड़किया तो अपने आप चली गई। इन्द्रिय तो अपने आप दूर हो गई जिसका यह मकान नहीं रहा इन्द्रिय भी न रही क्या उस आत्माके विषय में कहने लगें उसे अब कैसे ज्ञान आनन्द होगा उस आत्मतत्वके जाननेवाला वहां विशेप शुद्ध अवस्थामें आ गया उसके तो सब और अनन्त आनन्द और ज्ञान होता है आनन्द आकुलता में नही है जिसे सारी चिन्ता मिटगई सारी आकुलता मिट गई ऐसी अवस्था स्वरूप सुख स्वरूप है उनके कैसा सुख होता है वह पूर्ण है आप ज्ञानके प्रयोगसे सब वस्तुओंके स्वरूपको निर्णयकर उसमें श्रद्धा बढावें।

मैं जगतमें एकाकी हूं। सारे पदार्थ मुझमें अत्यन्ताभाववाले हैं यह उसमें नहीं. वह इसमें नही, इसके परिणमनसे इसका कुछ नही

इस श्रद्धाको लेकर आनंदमें बढे और इस भावनाके साथ जब मेरा नहीं तब मुझे कुछ विचारनेसे क्या मतलब ? मन वचन कायकी क्रियाको बंद करके जहां कुछ समझमें विचारमें ही न आवे कुछ मूर्छा क्या रहे। बाह्य पदार्थ जुदा है यह तो समझ लो। फिर मन वचन कायका व्यायाम न करो। मन वचन काय के निरोध रखनेसे उसमें स्वयं अपनेको ऐसे अनाकुल रूपमें आत्म तत्त्व देखोगे कि जिसे देखने के बाद यही प्रतीति रहेगी कि सुखका स्थान यही है। शुद्ध आत्माके क्या सुख होता है इस स्थितिसे सत्य समझमें आता है वह अनुभवसे सत्य है कि आत्मामें जो ज्ञान और आनन्द है वह इस स्वरूप है सर्व इन्द्रियों को संयमित करके क्षण भर आरामसे तो रहो निराकुलताका अनुभव होगा और तब पता होगा कि शुद्ध आत्माके इस जातीका अनंत सुख है। ज्ञानी साधुओंके संघमें निवास विचरण करते हुए कितने ही सन्यासियोंने आत्मतत्त्वकी चर्चा सुनकर आत्मतत्त्वका अथवा अपनी कल्पनाके अनुरूप निर्विकल्प अवस्था जैसा अनुभव किया उस अनुभव के बाद वे तत्त्वकी निर्णीत करते थे कि तत्त्व क्या है।

अनेकान्तद्रष्टा तो उसका निरूपण निभालेते हैं परंतु जैसा कि कल भी कहा था कितने ही चूक जावेंगे उस दशाका सविकल्प दशामें मिलान किया तब यह समझमें आया तत्व तो कुछ है नही यह सब इन्द्रियजाल जैसा मालूम होता है, इन्द्रियकी दृष्टि हट जाने पर जो अभाव है यही कल्याण है, इसका और नहीं; क्योंकी कुछ है ही नहीं। तत्त्वका उपसव है यही कल्याण है तत्व कुछ नही वस्तुमें जो बुद्धि फंस गई यह मुझमें तत्त्व है इसका विनाश: कल्याण है द्रव्य आत्मा है ईश है इन विकल्पोंमें जब; बुद्धि फस जाती है तो उसे विकल्प उठ रहा है। उसे देखो —विकल्पकी हालत कल्याणकी नहीं होती, निर्विकल्पकी हालत कल्याणकी होती है। यह तत्त्व कुछ नही है यही उपसम उसकी समझमें आया तब बादमें उसने तत्त्व का मूल से ही वायकाट किया कि तत्त्व कुछ नहीं, पर थोडी देर बाद कहता है कि कुछ चीज

यह तो है न, शून्य है, शून्य ही सही यह तो है न, तब शून्य ही तत्त्व है। तुम तो कुछ तत्व मानते नहीं हो, शून्य है यही तत्व है तब शून्याद्वैत तक आये। शून्याद्वैत, समझमें आनेके बाद वह चलता है कि कुछ प्रकाश जैसा प्रतिभास जैसा कुछ सामान्य जैसी बात मालूम तो होती। क्योंकि अपने आप कहीं तो कुछ रहा तो समझमें आया केवल शून्य ही नही किंतु प्रतिभास भी है वह प्रतिभास द्वैत है इस प्रतिभाससे विकल्प को दूर कर एक रूपमें स्थापित करता है कि समस्त प्रतिभास एक रूप है। प्रतिभासकी एकता माननेके बाद, एक मात्र प्रतिभास ही नहीं है। जानना तो हो ही रहा। ज्ञान तक तत्त्व आया, ज्ञान तत्त्वके बाद ज्ञान निराधार नहीं होता इसका कोई आधार है इस तरह वह आधार रूप ब्रह्माद्वैत तक आया। ब्रह्माद्वैतमें विषयों को यह विवर्त ही कहता है। ब्रह्माद्वैतमें चीज़ वह कुछ नहीं सब ब्रह्म विकार है। उसके बाद फिर उसको कुछ सुमति जागती है वह कहता है अरे यह खेल सा हो रहा है कि मैं जिस चीजको देखता, देखनेके ही साथ अन्दरमें शब्द उठने लगते। इसको देखा भीतरमें खम्भा ये अन्तर्जल्प हो गया। ज्ञान की वृत्तिको देखो, जिस चीजको देखते हैं अंतरमें शब्द उठते जाते ज्ञान करते ही। अंतर्जल्प बिना बोध नहीं तो मालूम होता है कि यह सारा संसार शब्दगत है। शब्दोंसे तन्मय सारी चीज है जिस चीजके ज्ञानका स्पष्ट विकास तब तक है जब तक इस चीजके नामके शब्द अन्तरमें न आ जाय। परिचित बातोंमें तो यह अनुभव हो ही जायगा कि जिस चीजको देखते हैं जानते हैं उसके शब्द अंतरमें उठ जाते हैं। मोह क्या है जाना कि अन्तरमें यह शब्द आ ही गया। जिस चीज को जानते हैं अंतरमें शब्द आ ही जाते। इसलिये यह कहता है यहां यह ज्ञान ही नही है किन्तु सारा जगत शब्दमय है। इसी तरहसे शब्दाद्वैत सिद्धान्त जाननेके बाद वह सोचता है क्या इतनी ही बात है शब्द ही शब्द और कुछ ही नही है, देखनेमें आता है यह सारे शब्द थोड़े ही है। यह तो यहां नाना प्रकारकी चीजे दुनियांमें दिख

रही। सारा संसार चित्र विचित्र है नाना प्रकारका है परन्तु अब भी उसकी समष्टिकी दृष्टी नही छूटी कि नाना तो अवश्य हैं पर नाना का समूह रूप जो एक है वह तत्त्व है यह नाना तत्त्व नहीं है इसको कहते है चित्राद्वैत, चित्र विचित्र तो दुनियांको माना पर नाना नाना में भी इसकी जो समूहता एक है वह तत्त्व है यहां तत्त्वमें सन्यासियोंके जिस दृष्टी में जो २ सिद्धान्त आये उस उस सिद्धान्तका अभी प्रतिपादन चल रहा है। पर थोड़ी देर बाद सोचता है यह चित्र विचित्र नाना चीजें तो हैं पर ऐसा तो हमें नहीं मालूम होता कि एक पिन्ड रूप होता है, यह चीज अलग अलग है यह सब चीज अलग २ हैं,दुनियांभरके पदार्थ भिन्न २ सत्ताके लिये हुए मौजूद हैं फिर इसका समूह रूप एक तत्त्व चित्राद्वैत ही है। इससे भी आगे कुछ है इन सबके सद्भावोंको देखा यह सब है इस कल्पनामें आरहाथा कि इतजमें समष्टिकी दृष्टि छूटी सो अद्वैतवाद और निजकी दृष्टी छूटगई अब अद्वैतसे सम्पर्क न रहा और चार्वाक जैसा सिद्धान्त आगया ये सब पदार्थ ठीक है यही सब कुछ है ठीक तौरपर तो यह है कि यह सब भोगकेलिये बना है हमारे उपयोगकेलिये बना है। गुप्ततत्त्व कौनने देखा आगन शास्त्र तो अपने अपने घरके है युक्तियां तो ऐसी होतीहैं कि सच को झूठ बनादे और झूठे को सच बनादे युद्धियोंमें कोई सार नहीं होता है इसलिये युक्तियों का तो कोई सार नहीं है और जो धर्म का तत्त्व है वह तो गुफा में होगा दुनियाँमें तत्व क्या है? जिस मार्ग से महाजन चले। ईस सम्राट पड़ोसी बड़े भाई जो करें वही हमें करना है उसीमें हमको रहना चाहिये, उसीमें सारा सुख है। इस तरह की दृष्टि चार्वाककी आई उसने आत्म तत्वको छोड़ा जगतके भौतिक पदार्थोंको ही सब कुछ मान लिया। भौतिक वाद अर्थात् पृथ्वी जल आग वायु इन चारोंके मिश्रण होनेमें एक ऐसी विजली पैदा होती है कि वह जानने लगतीहै खाने लगतीहै इसी तरह पहिले तो फिसल २ कर भी तत्व पर पहुंचते थे। कुछ आत्मा का ध्यान हुआ नजर आता था, अब उसके पदार्थ उठते उठते भौतिक

बात तक आये भैया विकल्पकी ताकत विचित्र होती है जैसेकि नदीकी तरंग होती है कही ऊंची जाती है कहीं नीची। इसी तरहसे यह वितर्क जो होते है सन्यासियों के कभी यहां पर आया कभी अन्तरमें उतरे। यहां तक तो यह आगया फिर यह सोचताहै यह सारी चीजें ठीक रहै है परन्तु हमको दिखता है कि कोई किस तरह परिणमता है कहीं कुछ बात हो रहा है नाना प्रकार के इसके परिणाम हो रहे है. यह कौन कररहाहै नाना प्रकारकी क्रियायें जिन पदार्थों में हो रहीहै जिसका कर्ता कौन है. रहाहै सोचता है यह सब प्रकृतिसे हो रहाहै। अब देखो इन दिखनेवाली चीजोंके अतिरिक्त कोई प्रकृति नामक जड़ द्रव्य उसकी समझ में यहाँ आया। अब भौतिकतामें कुछ ऊंचा उठा और सोचता है कौन कहां क्या करता है, सब प्रकृतिसे होरहा है. सब स्वभावसे हो रहाहै। जैसा जो परिणमन है प्रकृति करती है. यह सब प्रकृतिसे सारा संसार चलरहाहै। उस भौतिकवाद में भी कुछ अदृश्य अब यहां प्रकृतिसे माना। उस स्वभाव सिद्धान्तसे कुछ ऊचे उठकर सोचताहै कि प्रकृति करती तो है पर प्रकृति ही करती क्या। प्रकृति तो इसकी अलग अयथार्थ चीज है पदार्थों में ही तो प्रकृति है यह सब चीजें तो स्वयं प्रगट हो रही हैं. प्रकृति ने प्रेरणादी परन्तु यह चीजें अपने आप ही तो प्रगट हो रही हैं इसलिये इन चीजों का आविर्भाव होता है। यह सब जो प्रगट होता है वह तत्व है, प्रकृतिसे भी आगे चलकर वस्तुके आविर्भाव को माना यह सब वस्तु का आविर्भाव तो माना परन्तु उस में सोचता है कि इससे इस पर्याय का और उसमें उस पर्याय का ही आविर्भाव है गड़बड़ीसे या अव्यवस्था से पर्याय क्यों नहीं हो रही है? क्या नई अवस्था बाहिर से आकर पैदा हुई या किसी ने उसमें कोई अवस्था डालदी? सोचते २ उसको यह प्रतीत होता है कि नहीं उस चीजके जितने काम होते हैं अनन्त कालतक वह सारे काम उसमें उस समय मौजूद हैं परन्तु वे सब ढके होते हैं जब समय आता है तो उनका बारी २ से काम प्रगट होताहै यदि ऐसा नहीं होता तो किसी की चीज किसीमें पहूंच जाती इस वास्ते

सारी वस्तु न होती, नाश हो जाता। चीजके नियत काम होते हैं इसका कारण सत्कार्य वादी कहता है कि इसमें वे कार्य मौजूद हैं, समय पर वे काम निकलते हैं इसलिये वैसे ही काम होते हैं जो नही हैं वैसा कभी नही होता। इसे उनकी दृष्टिको मिलाकर देखो उनके समझमें क्या विकल्प हो रहा है इसको कहते हैं सत्कार्यवाद। यह एकान्तवादकी मीमांसा चल रही है कि अध्यात्मतत्त्वमें प्रवेश करने वाले यदि जरा भी चूक गये तो वह कहां २ जाकर उलझ जाते हैं सत्-कार्य पहिले से मौजूद है और वह समय समय पर प्रगट होते हैं हम भी जीव हैं प्राणी हैं हममें जो कार्य हैं वे समय समय पर प्रगट होते हैं। यहां तो वह भिन्न अनेक तत्त्वोंकी दृष्टिमें आगया, सब अनेक तत्त्वकी दृष्टिसे माने। फिर उसके वितर्क उठा, वह एक तत्त्व पर पहुंचता है क्योंकि कल्पनाएं ऐसी होती हैं, कभी २ कल्पनासे संकोचकी ओर व वह कभी संकोचसे विस्तारकी ओर जैसी लोकव्यवहारमें जाया करती है-कभी तत्त्वमें नानापनकी कल्पना कभी मिलकर अद्वैतकी कल्पना। अब वह सोचता है कि यह सब अवस्थाएं काम है तो सही, परन्तु यह एक ईश्वरका ही काम है उसका ही सारा विवर्त है और वह ईश्वर निराकार है जिसे कहते हैं निर्गुणेश्वर जिसकी प्रेरणासे सर्व कार्य व्यवस्थित हो रहा है वह निर्गुणेश्वर है, सर्वव्यापी है, एक ईश्वर है उसमें यह सारे माया कल्लोल हैं उसमें यह सब विवर्त है वह निर्गुणेश्वर परम स्वतंत्र है वह निर्गुणेश्वर सबमें है, सबसे न्यारा है, जगद्व्यापक है।

यह सब जो जीव देखते है उनके बिम्बकी तरंग है इस तरहसे एक व्यापक निर्गुणेश्वरकी कल्पना हुई इस निर्गुणेश्वरकी कल्पना करते २ यदि थक गया (क्योंकि जहां कोई आधार नही होता जहां पर आश्रय नही मिलता, कहां तक उसके ज्ञानकी गाड़ी चले) तब सगुणेश्वरकी प्रतिष्ठा हुई ईश्वर उसके भी है, निर्गुणेश्वर है परन्तु वह कभी मूर्ती रूपमें आया करता है जिसे कहते है सगुणेश्वर वह निर्गुणेश्वर

कभी कृष्णका अवतार लेना कभी शूकर आदि अनेक अवतार लेना इन २ अवतारोंमें निर्गुणेश्वर आकर अपना सगुण रूप रखना और अपनी मूर्ति दुनियांके सामने दिखाता, यहां उस अध्यात्मतत्त्वकी सकड़ी गलीसे चलनेवाला पुरुष जरा सी असावधानीके कारण फिसलने पर जहां २ पहुंचता जाता है वहांका वर्णन कर रहे हैं। अब सोचा ठीक सगुणेश्वर भी है, निर्गुणेश्वर भी है परन्तु इसकी प्राप्तिका उपाय क्या है। इसकी प्राप्तिका उपाय उनके लिये विधिकर्म करो यज्ञ करो पूजा करो यह उनके उपाय है यह वह सिद्धान्त है जिसको कहते हैं मीमांसक कर्मवादी और कुछ नहीं सोचता हमें तो एक हुक्म है परमात्माका। हुक्म है इस तरहके काम करे, यज्ञ करे, बली करे, पूजा करे इस प्रकारके कार्यमें लगे रहे। देखो वह परमात्मा ऐसे कर्मोंसे जोड़ जाता है। यहां तक कर्म जोड़े गये कि अश्वमेध यज्ञ नरमेधयज्ञ तक की भी नौबत आ गई, फिर उन्होंने कितनोंने ज्ञानपर बल देकर सोचा कि केवल शारीरिक कामसे ही तो लाभ न होगा मनुष्यके जब तक इच्छा हैं तब तक तो कर्म बन्धेगा ही, उनमें प्रगट होगा। हो उसे बचायेगा कौन ? तब कहते हैं तुम कर्म योगी तो हो कर्म, करनेके लिये प्रयत्नशील तो हुए हो पर इतना हमारा मानो कि कर्मयोग निष्काम करो अर्थात् निःष्काम कर्मयोगी बनो कोई इच्छा न करके तुम उस ईश्वरकी अराधना करो। अंतस्तत्त्वकी और अभिमुख कुछ होकर वह विचारता है ये बाह्य क्रियायें हैं यह सब काययोग है, उसे इतनेसे संतोष न हुआ तब वह सोचता है, केवल कर्म कर्मसे क्या होता स्वर्ग। इससे क्या होगा। उस ईश्वरकी जब तक अनन्य भक्ति न आवे तब तक उस ईश्वरसे भला नहीं हो सकता। इसलिये इसके आगे चलकर भक्त योगी बना और वह हो गया भक्तियोगवादी।

और उस सगुणेश्वरकी भक्तिसे रहने वाले जीवोंने वह सोचा कि इतनी भक्ति करो कि उसमें तन्मय हो जावो। जिसे कहते हैं समाधि। तो समाधिमें रत होय ऐसा वे कर रहे थे कि इतनेमें एक

आया और कहने लगा कि तुम किसका पुल बांध रहे हो जगतके पदार्थ तो क्षण २ भरमें नष्ट होने वाले हैं, तुम किसके लिये पुल बांध रहे यहां तक ईश्वरकी कल्पना हुई, भक्ति हुई। सब कुछ हुआ परन्तु इस बातको सुनकर फिर उलझन हुई वह विचारने लगा कि क्या कर्मयोग क्या निष्काम कर्मयो, क्या गुणेश्वर यह सारा जगत क्षणिक है यही तत्त्व है इसके अतिरिक्त कोई तत्त्व नही यहां द्वैतवाद आ गया। जो कुछ दिखता है वह क्षण २ में नष्ट हो जाता है उसी समय पैदा हुआ और उसी समयमें नष्ट हो गया।

क्षण भर स्थिर रहता है और क्षण २ में नष्ट हो जाता है यह तत्त्वहै यही यज्ञ है यही भक्ति है। जो पदार्थ क्षण २में नष्ट है उसे किसीके आश्रय लेनेकी कल्पना नहीं होती। वह बतलाते हैं कि उसका अन्य क्या होगा कि जब हमारीं दृष्टीमें सारे पदार्थ क्षण २ में नष्ट हो जाने वाले है। हमें किसीका सहारा आश्रय पकड़नेकी जरूरत न होगी। जो चीजे क्षण २ में नष्ट होने वाली है देखो उन्हें जो पकड़े ग्रहण करे वह मूर्ख है। जो रहे ही नहीं जो नष्ट हो जाता है उसको पकड़ने में क्या लाभ की बात है। क्षणिकवाद कहता है कि समस्त पदार्थों को क्षण स्थायी मानो, बस यह तत्व है, इसीमें आत्माको सुख है और मोक्षहै। क्षणिक अनेकके सिद्धान्त तक पहुंचे। अब आया वैशेषिकभाव वह कहता है अहो भाई तुमारी बात ठीक है तुमारा कोई विरोध नहीं हमारा इसमें विरोध नहीं कि पदार्थ सदा रहते है या नष्ट नहीं होते पर यह बतलाओ कि तुम जिसको क्षणिक मानतेहो वे चीजें तुमारे दिमाग में कितनी है जिसे कहते हो यही तत्त्व है कि अर्थ क्षण २ में नष्ट होतेहै क्या यह बात समझी कि पदार्थ दो है १ जड १ चेतन परन्तु बात तो यह है कि पदार्थ अनन्त है और फिर उस एक एक परमाणुमें व किसी द्रव्यमें अनन्त तो गुण नजर आता है अनन्त गुणमें अनन्त ही क्रियाएँ नजर आतीं और उन गुण और क्रिया में सामान्यपन भी नजर आता और उनमें विशेषपन भी नजर आता। ऐसा भी लगताहै कि सारी की

सारी एक २ रूपमें इकट्ठी होरहीहैं ऐसा भी मालूम होता कि इसमें एक में जो दूसरी चीज नहीं है ऐसा भाव भी इसके अन्दर पड़ा हुआ है तब इसको अभाव कहते हैं यह तो द्रव्य गुण कर्म, सामान्य विशेष, समवाय अभाव कितनी चीजें यहां है।

वैशेषिक सिद्धान्त है ये सभी तत्त्व स्वतंत्र हैं कहीं इतना मत मानो कि सारीकी सारी पिंड एकहै और इसमें गुण कर्म सामान्य आदि भी रहा। किन्तु यह तो ऐसा है कि इसमें द्रव्य भी हैं कर्म हैं विशेष आदि सब हैं और सब स्वतंत्र हैं इसमें रहने वाले तत्त्व परतंत्र क्यों रहे यह सब भी स्वतंत्र हैं। अलग २ सत्ता रखने वाले हैं यह सारा वैशेशिक सिद्धान्त उन चीजोंको मानता पृथक स्वतंत्र। इससिद्धान्तमें जो एक परमाणु है उस परमाणुमें कितना तत्त्व भरा है और तत्व सारा न्यारा २ स्वरूप तो रखता परन्तु द्रव्य अपना ही है गुणभी नजर आता है रूप रहता, गन्ध है, कर्म क्रिया भी नजर आती है वह सब अपने संबंधसे है इसको समवाय बतलाया गया और यह एक समवाय सब जगह व्यापक है। जिसकी वजहसे सबकी कई सत्ता होने पर भी बिखर नही जाती। सामान्य सबमें व्यापक है और फिर सबके अन्दर न्यारी २ सत्ता हैं ऐसी उनकी बात है, ऐसी विशेष २ भी सब है और इन सबका एक जगह संबंध भी है, यहां कोई प्रश्न करे कि सब न्यारा तत्व है, तो पिंड क्या है ? काम कैसे हो रहा वहां विशेषवादी कहता है कि समवाय नामका पदार्थ जो सारी दुनियाँमें व्यापक है वह समवाय ऐसा बल देता है कि जिसपर जाता है काम करनेसे ही बनताहै। यह वहां चिपटा ही रहताहै। तत्व स्वयं होता है वह अपनेमें रहे इसका प्रवेश अन्यमें न हो तो वस्तु कैसे बनी रहे यह सारे तत्व बेकार न हो जाय इसलिये समवाय नामक एक तत्व बना दिया जो सब चीजों का सम्बन्ध जुड़ाय रखे और सम्बन्ध तो जुड़ाया परन्तु किसीसे जुड़जाय इसका उसमें जुड़जाय तो बड़ा अन्धेर खाता होजायगा, तब नही, नही की व्यवस्था करने वाला एक अभाव तत्त्व है। वह यह व्यवस्था करता हैं किसी को

चीज किसीमें नहीं जाती इस तरह वह वैशेशिकइन तत्त्वों के अन्दर वितर्क उठाकर यहां तक वह पहूंच गया।

इन सबके इतने परिश्रमको देखकर अनेकान्त वादी करुणा करके कहताहै कि वैशेपिक मित्र तुमारी बात ठीक है द्रव्यमें ये सब विशेष व पर्याव है विना एक पिंड वस्तु माने ही देखो कहां क्या तत्त्व रहेंगा। वह परमाणु समस्त गुणके पिंड से भिन्न वस्तु क्या है यह आत्मा समस्त आत्यीय गुणके पिंडसे भिन्न वस्तु क्या है इसलिये गुणों का समूह ही द्रव्य है जो उसका परिणमन है उसे कार्य कहते हैं वह त्रैकालिक रहता है इस कारणसे वह द्रव्य ऐसा हुआ। तुमने जो सामान्यकी व्यवस्था अलग बनाई तुम्हारे इस भिन्न २ विशेषणसे बड़ी वस्तु हुई थी इसलिए सामान्य अभावव, समवाय अलग बनाया परन्तु वह स्वभाव ही द्रव्यका स्वयं ऐसा ही है। जो अपने स्वरूपसे ३ काल तक रहा वहतो सामान्य है वहद्रव्य अपने गुणको भाव रूपसे रखता ही है यह समवाय है और निज की स्थिति ही समस्त पर की अस्थिति रूप करता है, निज की स्थितिके लिये परके अभावकी अपेत्ता नहीं करनी पड़ती। निज का सद्‌भवा ही परों के अभाव रूप है निजकी स्थिति ही स्वयंको ऐसे स्वभावमें लगाये हुये है कि उसमें परका अभाव रहता ही है। परकी अस्थितिरूप से रहता ही निज की स्थिति है एवं निजकी इस शुद्धि के पहवे से ही परकी शुद्धि है उस एक अखंड एक द्रव्यमें गुणों को सत्ता अभेद रूपसे है उनके परिणाम कर्म है तथा चेत्रसे चेत्रा तरस्थ होना भी कर्म है उनका सामान्य विशेप भी उन्हीं में सर्व समवेत हैं अतः सर्वात्मक वह एक अखंड तत्त्व है।

इस तरह तत्त्व हैं द्रव्य गुण कर्म आदि अलग २ तत्व नहीं है यह एक द्रव्य कहलाता है। जीव की नाना अवस्थाऐ हैं कोई धर्मरूप कोई अधर्मरूप धर्म का सद्भाव है अधर्म का अभाव धर्म का सद्भाव है। सब इस प्रकार द्रव्यके स्वरूपमें स्थित है एकाँत तत्त्व कुछ नहीं, कहांसे उठ कर चलते हुए कितने ही सिद्धान्त आते हैं इस बात का वर्णन किया

अंत में बात आई कि वस्तु अनेकांतात्मकहै वे सब तत्व स्वरूप की जुदी बातें कहां तक युक्त हैं जहां तक उन्हें एक एक दृष्टि से देखा एक हाथीके स्वरूपको जाननेकेलिये पांच अन्धे लड़ते हैं तो लड़ो जिस अंधेने पूछ पकड़ा वह कहता है हाथी कटीला होता है जिस अंधेने हाथीका पैर पकड़ा, वह कहता है खम्भासा होता है, जिस अंधेने कान पकड़ा, कहता है सूप सा होता है, जिसने सूंड पकड़ी वह कहता है मूसल जैसा है। लड़ते हैं तो लड़ो पर जिसके आंखे है और जो चीजोंका देखसकता है वह भ्रममें नहीं पड़ता वह उन्हें समझाता है लड़ते क्यों हो जिसने हाथीको जिस २ अपेक्षा से समझा वह उसको उसीं तरह समझाता है। वह हाथी तो पांच चीजोंका मिलकर बनाहै यह जो अनेकान्त वाद है यही वस्तुके स्वरूपको सिद्ध करता है यह आत्मतत्वं जो अनन्त गुणोंका अभेदापिंड हैं त्रिकालिक अस्तित्व रखने वाला है ऐसे तत्त्व को यह आत्मा अपने निज स्वरूपमें दृष्टीमें नही देता जगतके वाह्य पदार्थों में हितरूपसे दृष्टी देता है तो अनन्त कर्म अपने आप बंधने लगते हैं

हे आत्मन् अपनेको वाह्यके लक्ष्योंसे निकालो इस आत्मा में निज तत्वको देखो इसीमें रत होवो वाह्य विकल्पोंको छांड़ संसारके मोह को छोड़ अपने आपको समझ इस प्रकार तत्व प्रमाणित करके फिर निश्चय दृष्टोसे आत्माके निरपेक्ष स्वरूपकाध्यान कर।

आचार्य महाराज कहते है कि अब तुम शुद्धात्मा होजावे। निर्विकार निर्विकल्प स्थितिको पावोगे। पहिले प्रमाणके द्वारा वस्तुके पूर्ण स्वरूपको देखो, फिर निश्चयके द्वारा निरपेक्ष तत्त्व को देखो फिर निरपेक्ष तत्वकी दृष्टिको इकदम विलीन करके सारी दृष्टियां व प्रमाण से अतीत होकर एक शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप रहो यह बात बतलाई कि आत्या किसींमेंसे नहीं निकलता। निकलने का रास्ता बिल्कुल हल्का है उस हल्के रास्तेसे निकलना है, वह रास्ता है निजकी निजपर दृष्टि इस रास्तेपर चलते भी कभी वाह्यपर दृष्टि देताहैं और रास्ता चूक जाता है फिर वह समझता है और धीरे वापिस अपने रास्तेपर आता

है यदि वह रास्तेको पकड़ लेता है तो ठीक २ तरीके से मार्गको पार कर जायगा। अध्यात्म तत्त्व एक सकरी गली है इसके स्वरूप से बाह्य स्वरूप पर लक्ष्य हुआ तो वह अपनी ही गलीसे भ्रष्ट हो सकता है यह अध्यात्मप्रेमी कहां २ किसमें फसकर क्या तत्व बनाता रहा इन सब तत्त्वोंको जितने भी कहे गये उन सबको उनकी दृष्टीसे देखो और उनके ठीक २ स्वरूपका निर्णय करो इसी तरह जिसने अपने आत्म तत्त्वका निर्णय किया सम्यक् विश्वास किया ऐसा पुरुष रागद्वेषादि भावको छोड़कर अपने आपके कल्याणके लिये उठता है ऐसा जीव सारे प्रमादको छोड़कर चारों घातिया कर्मोको नाश करके अपनेशुद्ध तत्त्वको पालेता है।

यहां जिस शुद्ध आत्मामें द्रव्येन्द्रिय नही भावेन्द्रिय नहीं ऐसी शुद्धात्माको क्या ज्ञान और आनन्द होता होगा इसका समाधान करते करते यहां तक सिद्ध कर दिया कि जिनके इन्द्रिय हैं उनसे ज्ञान और आनन्दको बाधा ही हो रही है।

इन्द्रियां तो ज्ञान और आनन्द के बाधा देने वाली हैं, जिनके इन्द्रिय के ज्ञान और आनन्द की मिथ्या तरंगोंसे सुखकी मान्यता है उनको यहां शिक्षा है इन्द्रियां ज्ञान और आनन्द की बाधक कहलाती हैं क्योंकि स्वभावसे ही ज्ञान और आनन्द है जैसे किसी रईस की जायदाद सरकार ने कोर्ट करली वह बच्चा था नाबालिग है उसकी सरकार रक्षक है। उसको सरकार उसके एवजमें ३००) रुपये मासिक देती जाती है बच्चा सयाना हुआ तो वह सोचता है सरकार ३००) देकर बड़ा उपकार करती है धन्य है यह सरकार, तब लोगोंने समझाया कि तुमारी करोड़ों रुपयोंकी जायदादको कोर्ट भर रखा है तुमे ३००) देकर बाकी रुपया अपने काम में लेती है जब इसे यह मालूम हुआ तो सरकार से उसने कहा हमें तो हमारी जायदाद व वैभव चाहिये इसी तरह से पूर्ण ज्ञान आनंद वैभव वाले यह जीव उनके ज्ञान और आनंद का वैभव कर्म सरकार ने कोर्ट कर लिया अब यह ज्ञान आनंद इस जीवके नही रहा, अब जरा कुछ सयाना हुवा

पुन्य उदय हुआ, तो उसके उदय में कुछ सम्पत्ति सी मिल गई; अर्थ वह जीव पुन्य सरकार का वड़ा उपकार मान रहा। उसके परिचल्द नके लिये उसकी पूजाकेलिये ब्राह्मणों का सत्कार करता, पूजा करता और सारे काम करता है। फिर जरा सयाना हुआ तो गुरुने समझाया कि तू उस अमूल्य जायदादका मालिक है यह तो पुन्य सरकार इतना मजा दे कर तुझे भुलावा दे रहा है। तुझे पता है वह तेरा अनंतज्ञान और आनन्द लूट करके क्या देता है —उस जायदाद में से जरा सा ज्ञान सुख दिया जा रहा है। तुम किससे सुख मान रहे हो इसका बोध हुआ ज्ञान हुआ और सोचा हम पुन्य नहीं चाहते. अपना वैभव ही चाहते हमारा जो आनन्द ज्ञान का वैभव है उसकी ही हमारी मांग है। उसकी मांग हम गिड़गिड़ाकर नहीं करते, कानूनके वलपर मांग करते हैं। इसी तरह से यह ज्ञान कर्मका मुकाविला करता है, कषाय का मुकाविला करता है।

शुद्ध चैतन्य स्वभावका ध्यान करके जिसे मोही जन समझते ही नहीं, उस स्वभाव की परख करने वाले सम्यक्त्वके सहयोगसे अपने वैभवको अपनेमें पालेता है। अशुद्ध अवस्थामें भी जो ज्ञान आनंद प्राप्त हुआ है यह इन्द्रियसे नहीं मेरे वलसे हुआहै अव भी मेरे ज्ञान और आनन्दका विकाश होता है आचार्य सिद्ध करते हैं कि उस शुद्धात्मामें जो सुख व ज्ञान है वह स्वभाव से ही है इन्द्रियके कारण नहीं। इन्द्रिय न होने के कारण केवलीके परम सुख है इसी प्रकार से वैभव को प्रगट करते हैं। साधक भगवानके गुणोंका स्वरूप आप अपने में देखता उनकी सन्धि करके अपने आपमें उद्देश्य करता है कि केवल ज्ञानी के शारीरिक सुख दुःख नहीं है।

अव अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय रहित होनेसे ही शुद्धात्माके शारीरिक सुख दुःख नहीं है ऐसा कहते हैं—द्रव्येन्द्रियां शरीरसे हैं और शरीर जव शुद्धात्माके नहीं होता तव आश्रय द्रव्य इन्द्रियोंका नहीं रहता और उसके अभाव होने पर भावेन्द्रिय जोकि सुख दुःख में ले जाता है

लेश संभावित नहीं है . तथा जिन सकल परमात्मा के कुछ ही कालको शरीर रहता है वहां भी शरीर है तो रहो जब क्षायोपशमिक ज्ञान या भावेन्द्रिय नहीं है तो शारीरिक सुख दुःख ही क्या होगा ऐसे शारीरिक सुख दुःख से रहित केवलज्ञानीके स्वरूपको विभावयति माने कहते हैं, 'विभावयति' का शब्दव्युत्पत्तिसे देखनेपर अर्थ होता है कि विशेष रूपसे हुवाते हैं। यह स्वरूप तो हो ही रहा है किन्तु आचार्य उस उस रूप उपयोग बनाते जा रहे हैं, ज्ञान करते जा रहे हैं, वहां भी यह कहना व्यवहारमें अनुपयुक्त नहीं है कि हुवाते जा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि शुद्धात्माके सुख दुःख नहीं है ऐसा कहते हैं—

सोक्खं वा पुण दुःक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जह्मा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२०॥

कहते हैं कि केवल ज्ञानीके शारीरिक सुख और दुःख नहीं होते, दोनों ही दुःख हैं, कोई सा भी नहीं होता है इसमें क्या कारण है? वे अतीन्द्रिय होगये। अपने इस देह पिंडके अन्दर भी चैतन्य भगवान के स्वरूप का विचार करो देहका लक्ष्य छोड़ कर अंतरगमें देखे तो उसें यही पता पड़ जाता कि मैं देहसे भिन्न स्वरूप वाला हूं, मैं स्वयं ज्ञान और अनाकुल हूं, मेरा ज्ञान मेरी अनाकुलता बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत बाह्य पदार्थों से जैसे जैसे लक्ष्य कम होता जाता वैसे ही वैसे मुझमें अनाकुलता अधिक पैदा होती। अन्तर्दृष्टि में अपने अंतरंगकी बात विचारने पर यह बात बिल्कुल अनुभव में आजाती कि केवली भगवान ऐसे ही तो होगये जिस प्रकार कि हम इस देहमें रहकर अपने आप का स्वभाव दृष्टिसे विचार कर रहे हैं। वह ज्ञान उसके सुख का परम भंडार अपने सच्चे स्वरूपमें आगया। इन्द्रिय देह द्रव्य-कर्म सभी २ नष्ट होगये, केवल एक चैतन्य ही रह गया, उसका ज्ञान और उसका सुख जो उसकी तरंग है, शुद्ध तरंग है वह अपने आप पैदा होती है। उन तरंगोंको पैदा करने वाला कोई निमित्त कारण नहीं

होता है। क्योंकि वह उसकी स्वाभाविक अवस्था है। स्वाभाविक अवस्था यदि किसी निमित्त की अपेक्षा रखे सो वह स्वाभाविक नहीं कहलाती। वैभाविक ही निमित्त की अपेक्षा रखता है, सो भी निमित्त मात्र रूप वह बाह्य पदार्थ रहता है। टीका में कहते हैं जिस कारणसे वि शुद्ध आत्माके इन्द्रिय समूह नहीं है तो इन्द्रियज सुख दुःख भी नहीं है। लोहेके गोलेमें संगति किया हुआ जो आग है वह तो चोट सहता है परन्तु संगति अलग हो तो चोट नहीं सहता। अर्थात् जैसे लोहेके गोले में आग लगे तो वह आग घनकी चोट पाता है। आगमें घनकी चोट देनेका क्या मतलव ? आगको घनसे कौन पीटताहै लुहार लोहेको घन से पीटता है, चौड़ा करता है, परन्तु वह लोहा जव आगकी संगति करता है तव घटाया बढाया जा सकता है तो, लोहेकी संगतिसे जैसे आग पिटती है इसी तरह से इन्द्रियज्ञान के कारण यह इन्द्रिय की संगतिसे यह आत्मा भी पिटती है। हम यहां इन्द्रिय से पिट तो रहे और इस पिटाई को सुख मान रहे बस इस लिये यह शंका होती है कि जिनके इन्द्रियज्ञान नहीं है उनके सुख कैसे होता होगा। देखो भैया यह ऐसी पिटाई है यह हमारा ऐसा दुःख है कि हम दुःख को दुःखका स्वरूप नहीं समझ पाते। दुखी तो हो रहे हैं पर दुःखका जव तक ठीक स्वरूप नहीं समझे तो हम दुःखसे मुक्त कैसे होवेंगे। दुःख को सुख मानकर भोगे और उस में आकुलता न होवे तो भी भला था कोई वुरा नहीं था, भ्रम था सो था भ्रमने क्या विगाड़ दिया ? सुखी तो वने रहते, परन्तु दुःखको सुख मानकर सुखी होना चाहा और वहां भी सुख नहीं होने पाता आकुलता लगी रहती बस यही खेदकी वात है। संसार के जितने सुख हैं सभी सुखों पर दृष्टिपात कर लो कोई सुख भी अनाकुलता से भरा नही है धनका सुख परिवारका सुख नेतागिरीका सुख और बड़े सुख जिसे संसारमें सुख समझते उनमें रहने वाले लोगोंके हृदयसे पूछलो कि उनको आकुलता रहती या अनाकुलता ? दुख भोगते जा रहे हैं और सुख के बोध से दुखी होते जा रहे हैं, और फिर भी

बाज नही आते जैसे लालमिर्च खाते जाते हैं, आंखोसे आसू गिररहे सी सी कर रहे फिर भी मिर्च के आसक्त मिर्च से बाज नही आते।

यह जीव संसारके जितने दुःख है उनको भोगते जाते हैं दुःखी होते जाते फिर भी बाज नही आते कदाचित् दुखमें आप थोडीदेरको यह तो सोच सकता कि कुछ न करो। कुछ आरामसे बैठा तो दुख मिटा और फिर भी उसी दुख में आ गया बीमार रोगी हुआ मरणासन्न हुआ सोचता है कि भगवान इससे यदि बंच जाऊ तो खूब धर्म करूगां मैंने अपनी चिन्ता बढ़ाकर बिना धर्मके जीवन खोया सभीका विरोध करके अपना जीवन बिना धर्मके खोया। ज्ञानीको धर्मका स्वरूप प्रगट समझ में आया तो अपने तथ्य के मुकाबले पर्यायगत शुभभावको वह अधर्म समझते हैं। धर्म का पूर्ण स्वरूप उन मुनियोंके समझमें आरहा जो व्यवहार धर्म में बहुत आगे बढ़ने पर भी संतोप नही रखते कि मैंने सब कुछ कर लिया। उन्हें भी वह गलत मालूम होता है कि धर्मका तो यह स्वरूप है मैं अभी धर्मसे दूर हूं कहो भैया तब फिर हम लोग कहाँ। हमारा कौन काम ऐसा है जिस कामको करके यह माने धर्म करलिया जरा ऊपरी भक्ति करली बस संतुष्ट है, संतोप पालेते हैं आप सोचो कोई संतोप की जगह भी है, विकल्पको ही कहा करते हमने धर्मकर लिया मुनि विचारते हैं कि मेरे भाव जो यह हो रहा है वह अज्ञानमय होरहा है देखो मुनियोंके अंतरंग भावको देखो सामायिक भी कर रहे हैं मुनि सामायिकमें बैठ गये और वे सोचते हैं कि जो मैं ऐसा बैठा यह अज्ञान भाव हो रहा है ऐसा जो कि तप कर रहे हैं यह अज्ञान में मुनि सोचते है कि भक्ति भाव भी रागकी जाती है वह अज्ञानमें है परमेष्ठीकी भक्ति का अंतरंग में अनुराग हुआ उस अनुरागसे ऐसा सोचता हूँ कि यह मेरे राग की चेष्टा है यह सच्चा भाव मुनियोंकी अंतरंग बात को बतला रहा है कि उनके अंदर तत्व ज्ञान भरा है। वह सोचते हैं मेरा स्वभाव तो निर्विकार निर्विकल्प है जितने भी ये विकल्प क्रियायें है वह सब अज्ञानमें होरहो है इतने ऊंचे मुनिराज जिनके चरणों की रज

मिल जाय तो भव्य जन उपासक अपने शिरमें धारण करके अपने जीवन को धन्य समझते हैं ऐसे भाव मुनिओंके यह विचार उनके शुभोपयोग में होता तब आप अपनी स्थितिको देखें हम कहां हैं और कहां पड़े क्या करके संतोप कररहें हैं। बड़े संतुष्ट हैं बड़ा आनन्द है। अगर कोई यश संपदाकी वात हो तो उस वातमें मालूम होता है बड़ा आनन्द है। उनके चित्त में यह सुख मालूम होता है कि संसारका ऐसा वैभव मिले बड़ा सुख है कहते हैं कि यह आत्मा जो पिटरही वह इस देह की संगतिसे पिटरही है यदि देहका सम्बन्ध होता तो यह आत्मा स्वभाव से अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन शक्तिमान अनन्त सुखी होता यह देह ये इन्द्रिया तो ऐसा कपटी मित्र है जैसे कपटी मित्र बहुत बड़ी हानि करके छोटे लाभ की वात बनलाते हैं इसी तरह यह देह यह इन्द्रियां ऐसी कपटी मित्र बनरही हैं मेरी बडी भारी हानि करने के लिये थोड़से लाभ में हमको मुग्ध बना रहे विवेकी पुरुष इस कपटी मित्रकीवातोंमें नही आते वह अपने पथपर पहुचते है और सोचते हैं कि हमको क्या दास बनावोगे तुम हमको अपना क्या नौकर बनावोगे तुम सब मेरे स्वरूप से भिन्न हो, मैं तुमारी वातोमें नही आ सकता। कमजोरीके कारण परकार्यके वातावरणमें आना भी पड़े तो भी वह अपनी श्रद्धाको निर्मल रखता है। इद्ड यह इन्द्रियोंका समूह जिस शुद्ध आत्माके नहीं उसके घोर घन घातकी चोटकी तरह शरीररिक सुख दुःख उसके नहीं हो सकते देखो भैया इस संसारमें अन्य जो तिर्यंच जीव है जो बड़े अज्ञानी है इनको भी मुख्यता से एक खास इन्द्रियोंका विषय राग रहता हिरन को सुननेका राग रहता। पतंगको रूपका राग रहता भंवरको गन्ध का राग रहता मछलीको स्वादका राग है हाथीको स्पर्शका राग रहता रहता। यह विचारे हाथी आदि तिर्यंच अज्ञानी यह अपने एक इन्द्रियकी मुख्यतासे राग करता। परन्तु यह मनुष्य ५ इन्द्रियोंकी मुख्यतासे राग करता है। घरमें भोजन करके आये पेट लवालव भरा घरसे वाहिर निकले जेवमें चार पैसे पड़े है चाटवाला दिखाइ देदिया वस पेट लेटर-

वक्तमें जगह खाली मिल ही जाती ऐसी आसक्ति है। इसके साथ२ ही मास मदिरा आदिका विवेक न करे सब खाये। यह क्या है यह कपटी इन्द्रियां हमारे थोड़े लाभको मिटाकर थोड़ेसे लाभमें मुग्धकर रही हैं। वस्तुतः तो वह वर्तमानमें भी कोई लाभ नहींहै, कल्पनासे किसीको भी कुछ समझलो उससे क्या उठता? स्पर्शनकी बात देखो विषयी भोगमें आसक्त रहता है कितनेही लोगोंका जीवन इसी विषय भोगके कारण बरबाद हो गया। दूसरोंकी बरबादी भी देख कर मैथुनका प्रसंग नहीं छूटता उस लोहूसे लथपथ मलमूत्र वाले शरीरका राग नहीं छूटता। यह क्या है? यह इन्द्रिय थोड़े से सुख दुःखका लालच देकर आत्माके स्वाभाविक वैभवको लूट रहा है। इसका भोगी को पता नहीं वह इन्द्रियोंमें ही आसक्त होजाता है। इसी तरह इन सब इन्द्रियोंकी ऐसी ही बात है सुहावने रूपको देखकर अपने अंतरंग को रीता करके निरन्तर उसमें आसक्त रहता है।

एक देवरति राजाकी कथा है। देवरति राजा था। वह रानीमें आसक्त था उसके राज्यमें इस कारण गड़बड़ होना शुरू हुआ तो मंत्री कहते हैं कि महाराज या तो रानीको लेकर यहांसे पधारो या रानीमें आसक्ति छोड़कर राजका कार्य संभालो! मन्त्री दोनोंका हितैषी होता है राजाकी रानीका नाम रक्ता था। राजा आसक्तिके कारण रानीको ले कर राज्यसे भाग गया वह किसी दूसरे शहर में पहुंचा, वहां जाकर राजा भोजनकी सामग्री आदि एक रोज लेने गये इतनी देरमें अन्धा, लूला आदमी वहां एक गाना गाता हुआ चरस हांक रहा था। रानी उसके गानेको सुनकर उसपर मुग्ध होगई, कुबड़े से याचना की, उसने कहा कि राजाके रहते हुए मैं ऐसा नहीं कर सकता। जब राजा आया तो उसने रानीको उदास पाया तो उसने रानीसे पूछा कि मैंने तुम्हारे लिये घरबार छोड़ दिया अब भी नाराज क्यों हो? रानी बोली आज आप का जन्म दिवस है यदि उन महलों मे होते तो कितना अच्छा स्वागत करते, राजाने कहा यहां ही स्वागत कर सकती हो। रानी ने कहा

तुम फूल लावो मैं माला बनाकर तुम्हें पहनाऊंगी। राजा फूल लेने चला गया और फूल ले आया रानीने ५० हाथके ३ गजरे बनाये और राजासे कहा की पहाड़ पर चलो वहांपर गजरों से स्वागत करूंगी राजा वहां गया और रानीने इस तरहसे उन गजरोंसे कस दिया कि वह चल फिर न सकता था फिर उसको धक्का दिया। पहाड़के नीचे नदी बहती थी राजा उस नदीमें आकर गिर पड़ा।

संसार का हाल देखलो कौन किसे चाहते हैं इसकी परीक्षा कर लो। प्रथम तो वस्तु स्वरूप ऐसा ही है वस्तुके गुणकी पर्यायें उसी वस्तु में है, वस्तुके द्रव्य गुण पर्याय अपने प्रदेशोंमें ही हैं. परके प्रदेशोंमें नहीं फिर कौन कहां जा सकता है। वह देवरति राजा लड़खड़ाता नदीमें बहते हुए एक किनारे लगगया और यह रक्ता, रानी उस अन्धेको अपने सिर पर लेकर स्वयं तो नाचती और वह अंधा गाना गाता और इस प्रकार अपने पेटकेलिये पैसे कमाते। लोगोंको क्या बतलाती कि यह मेरा पति है अंधा है इसे सिरपर लेकर पतिव्रता का व्रत पालन करती हूं उधर देवरति राजा बहता बहता ऐसे देशमें जा पहुंचा था जहां राजा नहीं था मन्त्रियोंने सोचा राजा उसीको बनाओ जिसको प्रधान हाथी स्वयं उठाकर मस्तक पर उठाये। हाथीने घूमधाम कर उसे ही मस्तक पर विठाया और इस प्रकार देवरति वहां का राजा बन गया अब यह रक्ता रानी पड़ते गिरते उसी नगरमें पहुंची और दरबारमें पहुंच गई। देवरति राजाने उसे पहिचान लिया वह तो पहिचानकर वहां पर विरक्त हो गया और राजपाट सम्भला कर साधु हो गया, रक्ता रानी तो रक्ता ही रह गई।

संसार का स्वरूप तो देखो किं इन्द्रियके कार्यमें नष्ट होकर अपना आगा पीछा भूल रहा। मरनेके बाद भी तो हम तुम होंगे। इस का कोई ख्याल नहीं करता।-इन इन्द्रियोंको मित्र मानकर हम सुख मानते हैं उसीमें दुःख है यदि इस देहका सम्बन्ध आत्मासे नहीं होवे तो यह आत्मा विपदाकी चोट नहीं सह सकती जैसा कि आग लोहेकी

संगति न पाती तो वह भी न दिखती इसी तरह भगवानके शरीर नहीं है तो शारीरिक सुख दुःख भी नहीं है। शुद्धात्माके मोह कर्म रहा नहीं ज्ञानावरण दर्शनावरण इन्द्रिय कर्म रहा नहीं इस कारण पंचेन्द्रियोंके सुखके लिये उनका व्यापार नहीं होता उसका व्यापार अपने चैतन्य स्वरूप में अपने स्वभावके अनुरूप शुद्ध तरंगके द्वारा होना है। इस इन्द्रियके द्वारा जो व्यापार होता। यहां व्यापार इस सुख दुःखका अनुमापक है यह दुःख है। घावको पट्टी लगाते हैं वह पट्टी इस बातकी अनुमापक है कि इसके घावका दुःख है और घाव अच्छा नहीं है इसी तरह अपने इन्द्रिय सुखके लिये जो व्यापार करता है परिश्रम करता है उसका परिश्रम ही इस बातको बतलाता है कि उनको इस चाहका दुःख है यह जगतके जीव २४ घंटे परिश्रममें लग रहे २४ नहीं तो १८ घंटे तो परिश्रममें लगे रहते हैं उस परिश्रमसे थककर ६ घंटे पैर पसार कर शयन करते हैं १८ घंटो काम करते हैं इसका कारण क्या है इन्द्रिय सुखके लिये जो मिहनतकी उस मिहनतका फल है।

इन्द्रिय सुखके लिये मिहनत की इसका क्या कारण है इसका कारण यह है कि इन्द्रिय सुखमें उसकी रुचि हुई। इसका कारण क्या? अपने चारित्र गुणको रमानेके लिये उसे कोई स्थान न मिला। यदि अपने ज्ञान दर्शन सामान्य स्वरूप आत्मतत्त्व अनंतगुणमें अभेद रूपरूप आत्मतत्त्व उसकी दृष्टिमें आता तो इन्द्रिय सुखमें रुचि न होती चारित्र ज्ञानके काम को स्थिर कर देता है, आत्मामें दर्शनज्ञान चारित्र ये तीनों गुण ऐसी मित्रतासे काम करते हैं कि जैसे किसीको कुछ काम करना है उसके लिये तीन आदमी बैठ जाँय, जैसे एक लिफाफा बनाना है ३ आदमी बनाने वाले हैं तीनों ऐसे बैठते हैं एक काटता है एक ठीक जगह लेही लगाता है और तीसरा उसको चिपका देता है। जैसे यह तीन काम तीन पुरुष मिलजुलकर एक साथ काममें लग रहे मानों यह दर्शन ज्ञान चारित्र इस तरकीबसे अपने काममें लग जाते हैं यह तो औपचारिक वितथ दृष्टान्त है, गुण तो एकत्र अभेद रूप हैं, दर्शनने

श्रद्धा की, ज्ञानने बताया, चारित्र वहां जुट गया यह तीन काम दर्शन ज्ञान चारित्रके इस तरह हो रहे। दर्शनने विश्वास किया ज्ञानने उपाय बतलाया चारित्र ने उसमें लगा दिया। चाहे वह विषय की बात हो चाहे तपस्या की बात हो, अच्छे वृत्तिकी बात हो। दर्शन ज्ञान चारित्र इस ढंगसे काममें लग रहे हैं। विषयी आत्माको दर्शनने विषयमें हितकी श्रद्धा कराई ज्ञानने उपाय दिखा दिया चारित्र विषयमें जुट गया। दर्शन ज्ञान चारित्र सामान्य गुण हैं जब यह खोटे कार्य में जाता है तो उसको कहते हैं मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र। और जब यह अच्छे विषयमें जाता है तो इसको कहते हैं, सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र अच्छा विषय तो स्वयंके लिये स्व ही है।

कोई भी हम काम करते हैं उस काममें तीन तरहकी बात होती है विश्वास ज्ञान और लगाव। तीनों कैसे लग रहे। अपने धर्ममें वि-श्वासका काम दर्शनका हुआ वही ज्ञानने जानन किया और चारित्र इनके विषयमें जुट गया। यह तीनों बातें इन जीवोंमें अनादिसे अन-न्तकाल तक रहती है। फर्क एक शुद्ध अशुद्धका है सम्यक्दृष्टिको तत्त्व का विश्वास हुआ इसकी सब बातोंका ज्ञान हुआ और उसमें जुट गया इसी तत्त्वमें जुट गया, किसी बाह्य व्यापक बातमें नही, वहांसे लक्ष्य हटाकर निज तत्त्वमें जोड़ा और इस तत्त्वमें स्थिर होनेका फल यह है कि उसका ज्ञान व्यापक हो गया हमारे उपयोगको जब तक हम फैलाकर रखे रहे तब तक हमारा ज्ञान फैलता नही है और जब उसके फैलावको रोक दिया, निज आत्माके केन्द्रमें ही बांध दिया तो ऐसा बल देता है कि वह ज्ञान सर्वज्ञ हो जाता है सर्वगत हो जाता है यह दर्शन ज्ञान चारित्र जहां २ आत्माकी पर्यायमें परिस्थिति होती है उस उस प्रकारसे यह दर्शन ज्ञान चारित्र काम करता है। तो सिद्ध भगवानका दर्शन सिद्ध भगवानका ज्ञान और चारित्र ज्ञानदर्शन सामान्यकी क्षणिक २ परिणति शुद्ध शुद्ध पर्यायरूपमें काम कर रहा है, हमारे ज्ञानकी परिणति किस

रूपमें काम कर रही है अपने ज्ञान श्रद्धा को सभी पहिचान सकते हैं। देखो ज्ञान श्रद्धा का किसीने क्या किसीने क्या विषय बनाया है। वह भगवान की भक्तिमें लगरहाहै तत्व चितवनके यत्नमें है उसी समय किसीने कहा दादा दुकानकी चावी कहांहै वह दुकान की चावी कहीं भूल आयाथा। तो अब उसका ध्यान तत्त्व चिंतवनमें नहीं लगता कहा लगा सो अनुमान करलो उसने विश्वासका कहां काम लगाया है और दुकानपर बैठा हो वह तत्त्व चिंतयनमें लग रहाहो द्रव्यके स्वरूपको विचार रहाहो द्रव्य त्रैकालिक है अकालिक है कहां है क्या स्वरूप है एक आदमी दुकानमें बैठा २ चितवनमें लगरहा किसी ने कोई बात कही उसके सुननेमें ही नहीं आया उसकी श्रद्धा वहां है। श्रद्धा स्यपर पहुंच जावे तो बड़े २ कामको करते हुए भी बाह्यमें रमता नहीं है अब अपनी अपनी श्रद्धाको पहिचान ले कि तुमारा दर्शन तुम्हारी श्रद्धा क्यां है कैसी प्रबल है।

एक हंस मानसरोवरमें रहता था कुए पर बगुलने पूछा कि कहां रहते हैं मान सरोवरमें, वहां क्या क्या है बगुलेने पूछा हंस बोला रत्न हैं, सोने की सीढ़ी का घाट है, बहुत २ बातें बतलाई बहुत देर सुनकर बगुला बोला मछलियाँ है कि नहीं देखो उसे क्या सुहाया यहां श्रद्धाकी बात दर्शन की बात हो रही है जिनके मनमें जो बात बैठी है जो श्रद्धा बैठी है उस तत्त्वके आधार ही पर चलनेकी धुनि बनी रहती है इसकी ही चर्चा तो सुहाती है। हां तो प्रकृत बात यह है कि दर्शन श्रद्धाको हम आप समझ सकते हैं कार्यकेद्वारा कि हमारी श्रद्धा किस ओर लगरही है। भगवान शुद्ध आत्माका श्रद्धान क्या है तो प्रतीतिरूप रुचि रूप नहीं किन्तु सम्यक्त्व परिणमन रूप है उसमें प्रवृत्ति नही बनाई जासकती क्योंकि प्रभुका निर्विकल्प ज्ञान है वीतराग चारित्र है। शुद्ध आत्मा ही के ज्ञानके अंतरंगको देखो यह नहीं होसकता है कि उसे इसका ज्ञान है। उस ज्ञान गुणका स्वच्छ अंतरमें परिणामनहो रहाहै वह परिणमन सर्वज्ञतास्वरूप है आत्मज्ञानरूप भी है हम विकल्प वाले लोग उसे

विकल्पों की दृष्टीसे ही देखते हैं।

यद्यपि जानन उतना है जितना कि सर्वज्ञेय है तथापि जानते वे स्वयंके ही हैं उसहीमें इतनी विशालता है। जब हम ज्ञेयाकारके सम्बन्ध को देखते है तो हमें सर्वज्ञ प्रतीत होता है जब हम निर्विकल्प रूपमें वहां निर्विकार तरंगसे देखते हैं तो हमें वहां आत्मज्ञ प्रतीत होता है शुद्ध आत्माके आत्मज्ञता भी है सर्वज्ञता भी है परन्तु उसके स्वरूपको देखने का एक प्रकार है निश्चयसे आत्मज्ञता है व्यवहारसे सर्वज्ञता है ऐसे उस शुद्ध आत्मा का जिस के कि देह नही है शारीरिक सुख और दुःख नही है स.ताहै क्योंकि कर्मोंका उदय हुआ तब आत्मामें दुःखकी मोहकी रागकी पर्याय हुई। देखो वह दुःखकी रागकी पर्याय किस पर को विषय करते हुए ही अपने स्वरूप को बना सकती है। जहां देह नहीं, कर्म नहीं, कोई आश्रय नहीं वहां फिर कैसे आकुलता हो इसलिये तो उपदेश है कि भाई अमुक चीजका त्याग करो अमुकपरिग्रह छोड़ो इस चीजका त्याग करो, यह पद्धति इसलिये है कि जब हम यह आश्रय ही न रखेंगे तो कभी ऐसा भी होसकता आश्रय के न मिलने से अपने स्वरुप को भी न बना सकेगा यह रागादि भाव। जब रागादि भावके अपने स्वरूप न बन सकेंगे तो मोक्षमार्गको पूर्ण सहयोग मिलेगा भैया यह चरणानुयोग की पद्धति है, अशक्त अवस्थामें उपाय है वस्तुतः बाह्य त्याग न आत्मा का हित रूप है न आत्माके अहित रूप है। बाह्य तो बाह्य है वह तो अपनी सत्तासे बैठा है इसका त्याग तो इसलिये है कि वहां आश्रय होता था सो बुद्धिपूर्वक एक यत्न किया और है भी ठीक, निर्मलदशा में तो छूट ही जाता है। बाह्यके त्यागको मोक्षमार्ग नही कहते बाह्यका त्याग इस लिये है कि मेरा बन्ध तो भीतरमें चलरहा है यदि उसका आश्रय न मिला तो वह उदय अपना बल न दिखाकर यह स्वयं खतम हो जाय। यदि कोई ऐसा कहे कि सर्वथा किसी बाहय के त्यागकी जरूरत नहीं तो भाई देखो कि आप बाह्यके पदार्थसे अलग रहते हो कि नही।

यहां तो वस्तुका स्वरूप बताया चीज ढूंढना न ढूंढना इसके

लिये बात नही। बाह्य को त्याग करनेका भाव भी आत्माका एक विकल्प है हम बाह्य पदार्थों के त्याग करने वाले नही है, वे तो जुदे है स्वयं. बाह्य पदार्थके त्यागसे सुख नही इन्द्रियके विकल्पके त्यागसे सुख है। जिन जिन के इन्द्रियों के लगावका त्याग हुआथा उन उनके बाह्य पदार्थों का त्याग हुआथा, बाह्य हमारे विकल्पका आश्रय है आश्रय जानकर इसका त्याग होता है यह मुझे तंग करते है ऐसे भावसे बाह्य का त्याग नहीं करता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि दुःख करने वाले मेरे मोह राग रूप की परणति ही है 'सुख दुख दाता कोई न आन मोह राग रस दुख का खान मुझे विभाव की दृष्टि नहीं चाहिये स्वभाव में ही मेरा सर्वस्व है इस अभिप्राय वाले का बाह्य में कोई प्रयोजन न रहने से ये बाह्य स्वयं छूट जाते हैं महाराजा श्रेणिकने मुनिपर धर्मके द्वेषसे मरा हुआ सांप डालदिया ३ दिनतों श्रेणिकने चेलनीको नही बतलाया। ३ दिन बाद कहा कि हमने तुमारे साधुपर मरा हुआ सांप डालदिया चेलनी ने कहा यदि वह साधु होंगे तो वैसे ही स्थितिमें होंगे और यदि सॉप स्वयं हटा दिया तो हमारे साधु नही है।

श्रेणिक बोला चलो परीक्षा करने चले, देखा कि वे साधु अपने योगमें बैठे थे मुनिके शरीरपर चीटियोंका ढेर होरहाथा और वह खूनको पी रही थी मुनि अपने आपमें आत्मतत्त्वको दर्शन करने में ही रहे। जिसको जैसी लगती है उसको वही सुहाती है; जिसे अपने आत्मतत्त्व की बात लगगई उसको दूसरेकी खबर नही इसने अचरज नहीं है। महाराजा श्रेणिक बड़ा पश्चाताप करने लगे श्रेणिक चीटियोंको हटाने लगे तो चेलनी बोली चीटियोंको तरकीबसे हटायेगे इसने शक्कर लेकर दूर रक्खा तब चिटियां हट गई तब सांप निकाला। जब मुनिराज का उपसर्ग दूर हो गया तो उन्होंने समाधि खोली। उन्हें जब सामने देखा तब दोनोंको धर्मवृद्धि दी वहां राजा श्रेणिकके हृदय परिवर्तन हुआ मोह हटा सोचा देखो धन्य है इन मुनिराजके समता भावको नामभी नही लिया। राजाको ही धर्म वृद्धि होती तो उसमें रागकी झलक होती।

धन्य है इन प्रभुको धन्य है इनके समताभावको ऐसे गुरुको सताया मैं पापो हूं श्रेणिकने बड़ा पश्चाताप किया आत्महत्या करना विचारा मैंने बड़ा पाप किया इस खेदमें अपने विनाशकेलिये कटार निकालनेकी सोची तो महाराज कहतेहैं कि श्रेणिक क्या विचारतेहो यह तो संसारका स्वरूप है जब तुमारे कषायभाव पैदा हुआ तबका वह भाव था इस समय तो तुम्हारे दुर्भाव नहीं । श्रेणिकने हृदयसे विचारा कि ये मन की बात भी जानते हैं वहां और दृढ़ श्रद्धा हुई । देखो भैया पहिले इसी सांपके उपसर्गमें श्रेणिकने ऐसा पाप कमाया कि नरक ३३ सागरकी स्थिति बांधी अब सम्यक्त्व जगा तो उसके मात्र ८४००० वर्षकी स्थिति रह गई, यह सम्यग्दर्शनका प्रताप है ।

ज्ञानी सोचताहै दुश्मन हो मित्र हो दोनो बराबर हैं, दोनों मेरी आत्मासे पृथक स्वतंत्र परिणमते हैं दुश्मन कोई बिगाड़ नहीं करता. मित्र कोई लाभ नही करता, मित्र की चेष्टा उसमें होती है, दुश्मन की चेष्टा उसमें होती है, कौन शत्रु कौनमित्र है, प्राणी अपने भावसे पुन्य पाप करताहै, मेरा कोई न अच्छा चाहताहै न बुरा । ऐसी दृष्टीका आना यह ज्ञानका फल है ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव जिसको आत्म तत्त्वका मिलाप हुआ वे इन्द्रियके सुखमें नही रमते, इन्द्रियोंके सुखमें मोही आसक्ति करता है और दुःखी हो जाताहै । ज्ञानीको तो सुख सम्पदा मिले तो वह उसे झंझट ही दिखताहै कैसा उपद्रव में पड़गया कहां लग लग रहा मैं तो चैतन्यज्ञानस्वभाव हूं मेरा शरीर तो ज्ञान मात्र ही है ऐसासच्चा भाव का परमतत्त्व होकर मैं कैसे कूड़े कचरे में लगरहा इन्द्रियके सुखमें सम्यग्दृष्टीको तो दुःख ही लगा जिसे जिसकी लगगई उसे वही सुहाती है । सम्यग्दृष्टि मुनि जब उसके निद्रा भी होता है तो उस निद्रामें ४८ मिनट तो लगातार नही लगते । ४८ मिनट तो मोटी बात है प्रमत्तगुणस्थानका अन्तमुर्हूर्त भी बड़ा नहीं है । हां तो साधुको स्वभाव सुहाताहै क्योंकि जिसके जो लग गई उसको वही सुहाती है मुनिके भीतर ज्ञायक स्वरूपका संस्कारहै संसारसे संवेग है यदि निद्राका

एक अन्त मुहूर्तसे ज्यादा हो गया तो उसके वह छटा गुणस्थान नहो रहेगा जिनके भी अंतरंगके कपाट खुल गये कि भीतर रे प्रताप चल रहा है कि देखो निद्राका प्रमाद दूर तक नहीं रहता। एक मुहूर्तके भीतर ही वह फिर सावधान हो जाता है और निज चैतन्यरसकी ओर ढलता है ज्ञानी जीवोंको वही वही रुचिकर होता है चर्चा चाहेगा तो उसी की, सुनेगा तो उसी चैतन्य तत्त्वको।

कोई भिखारी था किसी जगह रईसोंका भोजन हो रहा था भिखमंगे ने रोटी मांगी रईसने जवाब दिया चल हट। भिखारीने दुबारा रोटी मांगी, भिखमंगेको कहा चल हट वे यहां तो पंगतका काम लग रहा। भिखारीने कहा तेरे काममें आग लगो मुझे तो दो रोटी ही की तो जरूरत है सम्यग्दृष्टि सोचते हैं कि जगतमें सुख और वैभव अपने अपने जगह रहे मुझे तो एक ऐसी दृष्टि से ही काम है—ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुष जिसे शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव हुआ उसे वाह्य झंझटें नही लगा करती कर्मोदयमें कोई आ पड़े तो वहां रहता, उसमें भी उसको रुचि नहीं रहती। ऐसे जिसको अपने आत्मतत्त्वका भान हुआ है वह पुरुष जब देह से रहित हो जाता है फिर उन जीवोंको सुख दुःख कहां होता होगा। इतनी बात समझने वालेके संदेह नही होता। सिद्ध प्रभुका का ज्ञान और सुख उनके ज्ञान और सुखके स्वभावसे होता है इसी तरह इस गाथामें यह बात सिद्ध की कि केवल ज्ञानीके सुख दुःख नहीं है उनके जो परम अतीन्द्रिय आत्मीय सुख है इनके जब तक सयोगकेवली है साताका उदय है परन्तु कोई ऐसा सुख नहीं लगता जो लौकिक हो किन्तु इन्द्रियातीत ही उनके स्वाभाविक सुख है। ऐसा उत्कृष्ट सुख निज चैतन्यके लक्ष्यसे स्वयं प्रगट होता है अतः सत्सुखार्थीको निज ज्ञायक भावमें स्थिर होना चाहिये

अब ज्ञानके स्वरूपके विस्तारको और सुखके स्वरूपको विस्तार क्रमशः जिसका कि पहिले भी कुछ वर्णन था उसके अनुसार कहते हैं, अभी तो यह बात बतलाई है कि जो शुद्ध आत्मा हो जाती है उसने

ज्ञान और सुख असहाय अर्थात् परकी अपेक्षाके विना होता है अब उसी ज्ञानके स्वरूपको जो कि निरपेक्ष है—परकी अपेक्षाके विना है—अपने स्वरूप स्वभावसे व्यक्त होता है तथा उस सुखके स्वरूपजो जो ज्ञानकी स्वभावस्थितिसे व्यक्त होता है ऐसे इन दोनोंके स्वरूपको कहते हैं। उनमें इस केवली भगवानके ज्ञानमें अतीन्द्रिय ज्ञानका परिणमन होनेके कारण सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है। स्वभावको देखो ज्ञानका स्वभाव क्या है ? ज्ञानका स्वभाव जानना है यद्यपि वह अंदर पूर्णरूप से व्यक्त हो और उसे आवरण डाके ऐसा नही है किन्तु उस आवरणके दूर होते ही वह ज्ञान पूर्णतया व्यक्तिमें प्रकट हो जाता। कहीं ऐसा अपूर्ण अवस्थामें भी नहीं है कि कर्म ज्ञान गुणको जड़ बनाये रखता हो। यह तो ऐसा ही निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध है जिससे ऐसा ही होता है कि आवरणके रहते हुए ज्ञान उस अपने कालमें अपूर्ण रहता। आवरणके रहते हुए भी जो विकास थोड़े थोड़े मालूम होते हैं वह ज्ञानके स्वभावसे प्रकट होते हैं ! जहाँ पूर्ण आवरण दूर हो जाय वहाँ ज्ञानका पूर्ण विकास अपने ही स्वभावसे प्रकट हो जाता है। इस तरह यह ज्ञान स्वभावमय आत्मा अनादि अनंत अखंड जिसका किसी अन्य आत्मा व परमाणुमात्र भी अन्य पदार्थोंसे परमाणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं पूर्ण स्वतन्त्र है। क्योंकि सर्व पदार्थ स्वतंत्र अपनी पर्यायसे अपने स्वरूपको भोग रहे है, अपनी ही परिणतिको भोगते इसलिये सर्व पदार्थ हैं।

इस वस्तुनियमके अकाटय प्राकृतिक स्वतःसिद्ध व्यवस्थानके हेतु इस ज्ञानमय आत्माको ज्ञान और सुख मिलता ऐसा सोचना ही भ्रम है। ऐसे सोचने वालोंके लक्ष्यका उपलक्षणकर "जिनकी उपस्थिति में यह आत्मा निज भावकी दृष्टिसे दूर होकर विभाव परिणमन करता है और दुःखी होता है उनसे सुख दुख हुआ ऐसा कहा जाता है। भ्रम को त्यागकर अनादि अनंत अहेतुक ज्ञान स्वभावको कारणरूपसे उपादन कर जो परमकाष्ठाप्राप्त ज्ञान परिणति होती है वहाँ सर्व प्रकार नि-

विकल्प दशा होती है वहाँ अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख होता है जिस अतीन्द्रिय केवल ज्ञानके विषयमें जो कि स्वभावतः प्रत्यक्ष है तीन लोक व तीन कालकी समस्त द्रव्यगुणपर्यायमें प्रत्यक्ष ज्ञान है। जहाँ केवल ज्ञानका संयुक्त प्रयोग हो वहाँ केवलज्ञानका अर्थ ज्ञान गुण की केवल अवस्थाकी तरंग-व्यक्ति है। वह केवल ज्ञान कितना व्यापक है और कितना शक्तिमान है अब इसे बताते हैं

एक अधिक उत्कृष्ट युक्तानंतकी संख्याको उतनी ही बार रखकर अर्थात् एकाधिक उत्कृष्ट युक्तानंतका विरलन उसे कहते हैं जैसे १० के विरलन करके गुणा करना है तो १० बार १०-१० परस्पर गुणा करते जाना इसी तरह अनंतका विरलन करके परस्परमें गुणा करते जाना अन्तमें जो लब्ध हो फिर उसका विरलन कर गुणा करना उसका भी अन्तिम लब्ध है उसका विरलन कर गुणा करना इस प्रकार तीन बार उस अनंतका विरलन गुणित होने के बाद जो लब्ध हुआ उसमें सिद्धोंकी संख्या निगोदोंकी संख्या वनस्पतिकी संख्या अनंत गुणे पुद्गलोंकी संख्या उससे अनंत गुणे समयोंकी संख्या इन सबको मिला कर जो राशि बने उसका फिर ३ बार उपर्युक्तशैलीसे विरलन गुणित करना अन्तमें जो लब्ध हुआ उसमें धर्मद्रव्य अधर्मका व अगुरुलघु गुणके अविभाग प्रतिच्छेद मिलाना. जो राशि लब्ध हो उसे फिर ३ बार विरलन गुणित करना फिर उस विशाल अनंतराशिको केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंमें से घटाकर जो लब्ध हो उस लब्धमें उस प्रकृत अनंतराशिको मिला देवे। जो हुआ इतने अनंतानंत केवल ज्ञानके शक्त्यंश हैं इतना तो शक्तिमान् है और जो भी सत् है उस सबका विषयी होनेसे सर्वव्यापक है। शक्त्यंश बतलानेके लिये ऐसा इसलिये किया गया कि उस राशीकी सारी संख्यासे इतने अनंतानंत गुणित केवल ज्ञानके शक्त्यंश हैं कि उसके बतानेका उपाय यही मात्र था कि जो वह विशाल संख्या है उसे केवल ज्ञानशक्त्यंशोंमें से घटा

कर उसमें उन्हींको मिलाकर कह दिया जावे। जैसे-५ संख्या है उसे २० में से घटाया १५ हुए अब १५ में ५ मिला दो २० के ही २० हो गये। यहां २० का मोटा दृष्टान्त केवल ज्ञानके लिये समझलो और ५ का दृष्टान्त उस संख्याके लिये है जो अनंत संख्याको ६ बार विरलन गुणन और कितने ही मिलन करके जो लब्ध हुई है। इतने सब अंशोंको केवलज्ञान शक्त्यंशोंमें से घटाओ और फिर वहीं जोड़दो अपने केवल ज्ञानकी शक्त्यंशकी संख्या पूरी होगी।

ज्ञान सुखके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्या इतनी विशाल अमित होती है जिस कारण हम ज्ञानको मात्र क्षेत्रसे व्यापक नहीं कह सकते कि केवलज्ञान लोकाकाशमें या सर्व आकाशमें व्याप कर रहता है इसलिये ज्ञान व्यापक है क्योंकि यदि विशुद्ध ज्ञानको इतना ही व्यापक माना जावे, वह केवल ग्यानको इतना ही व्यापक माना जावे तो वह केवल ज्ञान आकाशके बराबर ही रहा परन्तु इतना ही नहीं है, केवलग्यान समुदायसे भी अनंत गुणा है इससे बड़ा कुछ अन्य है नही। इसलिये केवलज्ञानको क्षेत्रकी अपेक्षा व्यापक न जानना। केवल क्षेत्रके भीतर व्यापक माना तो जितना आकाश है उतना ही रहा किन्तु वह तो त्रिलोकव्यापकके अतिरिक्त त्रिकालव्यापक भी है और शक्त्यंश इनसे अतिरिक्त हैं देखो भैया! लोकाकाश उसे कहते है जहाँ छहों द्रव्य पाये जावे अब यहां विचारो केवलज्ञान यहां ही व्यापक नही, वह तो लोकाकाशके बाहर भी व्यापक हो गया अहो क्या किया? क्या जैन सिद्धान्तकी मर्यादा तोड़ दी? नहीं। यहां प्रश्न हो सकता है कि आगममें तो यह कहा है कि जहां मात्र आकाश ही पाया जावे और कोई तत्त्व न पाया जावे वह आलोकाकाश है किन्तु तुमने तो यहां ज्ञानको आलोकाकाशमें भी व्यापक बताया तब विरोध ही तो रहा। समाधान—देखो इस वर्णनको ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिसे देखें प्रदेशवत्त्वके संयोगसे नहीं, तो समझमें आयगा कि यह निर्मल केवलज्ञान लोकाकाशमें ही व्यापक नहीं, अलो-

काकाशमें भी है। इतना भी नहीं किन्तु वह केवलज्ञान तो जितने द्रव्य हैं उनमें व उनके अनंत गुणोंमें व उनकी त्रैकालिक अनंत पर्यायोंमें व्यापक है, आले काकाशमें जितने प्रदेश हैं उनकी अनादि अनंत पर्याय हैं उनमें भी केवल ज्ञान व्यापक है।

इसका विवरण इस प्रकारसे समझिये—किसी वस्तुकी परीक्षा द्रव्य क्षेत्रकाल भाव ४ दृष्टियोंसे होती है तब यहां द्रव्यसे परीक्षा करें तो वह गुणपर्यायके पिण्डरूपमें पिण्ड अधिष्ठान रूपमें ज्ञानकी परीक्षा है। ज्ञानपर्यायके अधिष्ठान पिण्डरूपमें बात ऐसी ही है कि वह "लोकाकाश के अन्दर ही समस्त द्रव्य पाये जाते हैं इस नियमके अनुसार वह ज्ञान पिंड लोकाकाशमें ही पाया जा सकता है, इतना भी कथाचित्। सर्वदा तो यह तेज प्रमाण निजक्षेत्रमें ही पाया जाता है, इसी तरह क्षेत्रकालकी अपेक्षा भी संकीर्णता है परन्तु इस शुद्ध आत्माके जब चैतन्य—ज्ञान दर्शन भावकी दृष्टिमें देखते हैं ज्ञानके भावकी दृष्टिसे देखते हैं तो वह ज्ञान इतना बड़ा है कि समस्त लोकाकाश और समस्त द्रव्य गुण पर्याय सबमें गत है इसलिये इसको व्यापक कहा है।

इसे मात्र ज्ञानस्वरूपसे न देखकर विस्तृत जाननेके प्रसंगमें जहां इस ज्ञानको प्रदेशके साथ जोड़ेंगे "जहांकि यह दृष्टि बनानी पड़ेगी कि कि ज्ञान एक गुण है, गुण द्रव्यके अन्दर ही रहता, द्रव्यके प्रदेश ही गुण का आधार है,, तब यह ज्ञान गुण द्रव्यमें प्रकट होकर ऐसे स्वरूप को रखे रहता है ऐसे स्वभावमें विकसित हो रहा है कि जो समस्त लोका लोकके सर्व द्रव्य गुण पर्यायके ज्ञान रूप बना रहता है। जहां प्रदेश और ज्ञानकी संधि करके बात कहोगे वहां पर ऐसी दृष्टि आवेगी प्रदेश व ज्ञानकी संधि बिना ज्ञानस्वलक्षणको विचार करें वहां सर्वव्यापकताकी ही बात है। बाधा कोई नहीं आती, केवल विवक्षाका ही इसमें भेद है।

अब ऐसा जो केवली है—जो अनन्तज्ञानमय परिणमता है उसके समस्त जगत प्रत्यक्ष होजाता है इसप्रकारसे विभावयति याने आचार्य श्री दुबाते है—कहते हैं—उसके अपने अन्दर अपनी प्रेरणापूर्वक धारण

करते हैं। यह विभावयति का रहस्य है इसकी बात लग रही है कि ज्ञान के शुद्ध स्वरूपको उसमें गर्भित सुखके शुद्ध स्वरूपको अभी धारण करते हैं। इसी तरह अभिदधाति का सामान्यतया कहते हैं ऐसा अर्थ होता है किन्तु इन शब्दों के टुकड़े कर विचारने से क्या अर्थ होता है दधाति याने धारण करता है व अभिदधाति याने सर्वांग में धारण करता है अर्थात् आचार्य श्री ज्ञानके स्वरूपके व सुखके स्वरूपके विस्तार को युगपत् होते हुये भी कारण कार्यविधिके वारण कालकी अपेक्षा बताने में व बतानेकी अपेक्षा व्यवहारमें क्रमसे सर्वांगमें धारण कर रहे हैं। ज्ञानके स्वरूप को व सुखके स्वरूप को कहते हैं इसमें इस रहस्यमय आनन्दका वर्णन है कि ज्ञानके स्वरूपको व सुखके स्वरूपको दृष्टिमें धारण कर रहे हैं और कहते हैं—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

इसमें उस केवलज्ञानीका जो ज्ञान है वह अतीन्द्रियज्ञानयमय परिणमता है इसी लिये सर्व एक साथ जानता है ऐसी बात कही है। शुद्ध आत्मा में परिणमता हुआ जो ज्ञान है केवली भगवान है, शुद्ध ज्ञानमें परिणमता हुआ जो केवली भगवान् है उसके समस्त द्रव्य समस्त पर्याय पत्यक्ष होजाते हैं क्योंकि केवली अवग्रह आदि क्रियावों के द्वारा नहीं जानता है वह तो इन्द्रियों की सहायताके बिना ही जानता है अतः क्रमरहित सर्व को प्रत्यक्ष अपने शुद्ध स्वरूप से करता ही है अतः एव वह स्वयंभू है। अर्थात् जैसे हमारा वतमान ज्ञान उत्पन्न होता है तो पहिले अवग्रह होता है इसके अनन्तर ईहा होता है इसके बाद अवाय औरतत्पश्चात् धारण होती है ऐसे केवली भगवान का ज्ञान नहीं होता। हम जिस पदार्थको देखते हैं देखतेही उसका पहिले कुछ सामान्य बोध होता है सामान्य बोध के पश्चात् कुछ विशेष बोधमें प्रयत्न होता है विशेषबोधके कार्यात्मक प्रयत्नके बाद फिर उसका

निश्चय होता है। हमारे ज्ञानकी ऐसी ही परिचित वस्तुवोंको भी इसही शैलीसे जानते हैं वहाँ अवग्रहादि किस शीघ्रतासे होगये, हम उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं हमें ज्ञानसे ही दिखते ही ऐसा लगता है कि हमने इसे एकदम ही तो जान लिया किन्तु बात ऐसी नहीं है कि किसी पदार्थको देखते ही हमें अवाय हो जाय। वहां अवग्रह ईहा अवाय धारण का इतना कम अन्तर पड़ता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि कि हमने एक को या अनेकको एकदम स्पष्ट जानही लिया। हां तो जैसे छद्मस्थ अवग्रहादिपूर्वक जानता है इस तरह भगवानका ज्ञान नहीं होता उनके ज्ञानमें प्रतिसमय त्रिलोक व त्रिकालका सर्व द्रव्य गुण पर्याय हुआ करता है।

सर्वज्ञका ज्ञान सविकल्प नहीं है, हम उसके ज्ञानको अपने विकल्पकी सदृशता लेकर सोचना चाहें तब यह संशय होता है कि केवली भगवान कैसे जानता है? यदि इसका अपनी भाषामें उत्तर दिया जावे तो यह कह लो कि नहीं जानता है परन्तु है ज्ञान स्वभाव तो इसका सही यह है कि सबको जानता है। जिन विकल्पोंसे हम सर्वज्ञके ज्ञानको सोचते हैं—"कुछ भी नहीं जानते हैं"। हमारी दृष्टिमें जैसा विकल्पोंको उन भावोंको पर्यायोंको जानना होता है उस दृष्टिसे तो वह एक भी द्रव्यको नहीं जानता है परन्तु वह तो समस्त त्रिलोक त्रिकालके पदार्थोंको निर्विकल्पतया जानता है। कैसा विलक्षण परमात्माका ज्ञान है। और तो जाने दो हम भी जो कुछ जानते हैं जान तो जाते हैं फिर भी उस ज्ञानको हम ही नहीं बता सकते—कैसे चीजोंको देखा जाता उसके विषयमें क्या बात कही जावे। बड़े ज्ञानी उसका वर्णन करने बैठे तो भी वे क्या हमें प्रत्यक्ष कर देखेंगे। केवली भगवान् का जो ज्ञान व सुख है उसका कुछ भी विशद वर्णन हम नहीं कर सकते क्योंकि उसने उस पदार्थको परमशुद्धिसे परिणत होकर नहीं जाना और जो जानते है वह बातचीत भी नहीं करते। यह सब तो उस मार्गके नेतावोंने बताया जो हम अपने अनुभव के आधार

पर भी उसका तथ्य बोध करते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञानकी बात तो दूर है जो इन्द्रियजज्ञान है जो कि विकल्पात्मक है उसके विषय में ज्ञानका प्रकट निर्णय नहीं कर सकते। इसके सर्वांगरूप के ज्ञानको आपने विकल्पसे बतलाया। कैसे जानते है यह नहीं कहा जायगा। यहां ज्ञानके स्वभावको तो देखो ज्ञान। स्वभाव ऐसा है कि समस्त द्रव्य गुण पर्याय को यह ज्ञान जानता है जानने का इसका स्वभाव है, ऐसी कोई भी शक्ति नहीं जो केवलीके असीम ज्ञानको रोकरखे अथवा जो ज्ञान में ऐसा भेद कर पाये कि यह अपनेको ही जाने परको नहीं जाने। तात्पर्य केवलज्ञानकी बाधिकाअँव कोई ऐसी शक्ति नहीं जो विरुद्ध निमित्त बना सके। अतः वह ज्ञान अपने स्वभावसे समस्त द्रव्य गुण पर्याय को जानता है इसमें भूतकाल व भविष्यकालके भी जानने की असीम शक्ति है। थोड़े भविष्यकी बातको तो हम लोग भी जानते हैं जैसा जानते हैं वह चाहे सच न निकले परन्तु भविष्यके जाननेकी जैसीहालत तो आपके अन्दर है। निमित्तज्ञानी अवधिज्ञानी आदि महापुरुष तो जानते ही हैं फिर केवलीके ही भविष्यज्ञानमें क्या शंका करना। हमारा वह भविष्यके जाननेका ज्ञान यदि सच्चा नहीं निकलता तो उसका कारण आवरण कर्म है परन्तु केवलीके तो आवरण नहीं। और देखो हम आप कुछ भूतकालकी बातोंको तो स्पष्ट जान ही लेते हैं। भूत वर्तमान भविष्य की बातको जाननेका स्वभाव ज्ञान में स्वतः सिद्ध है। इसप्रकार यह ही बात युक्ति युक्त भी है कि जिस आत्मामें कोई आवरण नहीं रहा बंधन नहीं रहा इन्द्रिय नहीं रही कषाय नहीं रहा कर्म नही रहा उस आत्माका ज्ञान इतना व्यापक होता है कि वह तीन लोक तीन कालकी बातोंको स्पष्ट जानता है अलोकको भी जानता है।

समस्त आवरणके क्षयहोते ही अनादि अनन्त अहेतुक जो स्वभाव है इस ज्ञानको ही कारण बनाकर यह ज्ञान ही कारण बनकर इस स्वभावके ऊपर प्रवेश करते हुए केवलज्ञान उपयोगरूप होकर आत्म स्वयं परिणमता है यह केवली होनेका सर्व व्यवसाय है। देखो भैया।

ज्ञान स्वभावको जो केवल, ज्ञान है यह परमपारिणामिकभाव है जिसको कारण रूपसे उपादन करके अंतरात्मा केवल ज्ञानोपयोगी बन गया अर्थात् आत्माके अन्दरही अनादि अनंत अहेतुक जो ज्ञानसामान्यत्वभाव है वह परमपारिणामिकभाव—कारणसमयसार ही कल्याणका मूल आधार व स्रोत है। वह चैतन्यभाव जो निगोदमें भी इस एकरूप एकरस से रहा और मुक्त होने पर भी एकरससे रहता रहा। यह किसकी चर्चा चल रही है। सामान्य कहते किसे हैं? देखो जैसे इतने मनुष्य बैठे हैं सबमें मनुष्यपन है, मनुष्यपना सबमें सामान्य भावसे है। यह १० डिगरीका मनुष्य है यह २० डिगरीका मनुष्य है इस किसी भी प्रकार मनुष्यपनकी डिगरी नहीं होती। विकासमें पर्यायमें डिगरियां हैं जैसे यह इतनी डिगरीका ज्ञानी है यह इतनी डिगरीका गुणी है यह इतनी डिगरीका बहुमान्य है आदि परन्तु उनमें मनुष्यपन तो सम ही है। इसको कहते हैं सामान्यभाव (यह तो तिर्यक् सामान्यका उदाहरण है।

आत्माके ज्ञान स्वभावकी बात ऊर्ध्वतासामान्यके उदाहरण से देखें—जैसे एक मनुष्य बालक था वही जवान हुआ वही बूढा है, यहां बालक जवान बूढा ये सब अवस्थायें हैं इनमें जो जैसा मनुष्यपन एक अवस्थामें है वही वैसा मनुष्यपन सब अवस्थाओंमें है फिर मनुष्यपन किसी एक अवस्था रूप नहीं है यहां मनुष्यत्व सामान्य है। इसी तरह समस्त ज्ञानोपयोगोंमें ज्ञानसामान्य वही वैसा ध्रुव—सदा रहता है। वह ज्ञानोपयोग सामान्यसे उठकर चलरहा है। आत्माकी इन शुद्ध अशुद्ध सब कुछ पर्यायोंके अंदर अन्य रूपको पाने वाला एक चैतन्य सामान्य भाव है वह अनादि है, अनंत है, अहेतुक है ऐसा जो ज्ञान स्वभाव है इस ज्ञान स्वभावको ही कारण करके करण करके, कार्य करके अर्थात् इस ज्ञानका ही लक्ष्य बनाकर इसको ही प्रतिष्ठित करके इसमें ही स्थिर हो करके इस ज्ञानस्वभावके ऊपर प्रवेश किया जो केवल ज्ञान उस उपयोग रूप होकर आत्मा स्वयं परिणमता है।

केवलज्ञान केवलज्ञानपर्याय रूप है प्रतिसमय नवीन नवीन पर्यायरूप है ज्ञानको शुद्ध तरंगका नाम केवलज्ञान है। केवल ज्ञान पर्याय एक परिणमन है उसके पहिले भी यह ज्ञान स्वभाव था इसलिये उसके ऊपर केवल ज्ञानोपयोगका प्रवेश बतलाया। इस ज्ञानस्वभाव को कारण पाकर प्रविष्ट हुआ केवलज्ञान कैसे आया? केवलज्ञानको उपयोगरूप बनाकर वह शुद्ध आत्मा ऐसा ही परिणम गया।

देखो भैया इस रहस्यके अन्दर सारा मोक्षमार्ग आगया कि हे मोक्षमार्गी जीवों कल्याणाभिलापियोंको केवल ज्ञान पाने वा मोक्ष पानेका एक यही उपाय है और कोई उपाय नहीं है। क्या उपाय है? अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे ग्रहण करके...(यह हाथके द्वारा गृहीत नहीं, क्रियाके द्वारा नहीं, कायक्लेशके द्वारा गृहीत नहीं, यह एक लक्ष्यके द्वारा ही गृहीत होता है) हां अपने आपमें रहने वाले अनादि अनंत अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावको ग्रहण करके उसमें ही स्थिर होकरके विश्राम करो। इस उपायसे निश्चयसे अन्दर निर्मल ज्ञानपर्यायका प्रवेश होगा पहिले निर्मल अपूर्ण ज्ञानकी पर्यायका परिणमन होगा वह निर्मल इतना बढ़ेगा कि सम्पूर्णज्ञानोपयोग होकर परिणम जायगा। यह मोक्षमार्ग है। अनंतर भी अनंत काल तक सदृश ही स्वभाविक केवलज्ञानरूप निर्मल पर्याय प्रकट होती रहती है! अहो मोक्षमार्ग कितना सहज है इसमें तो पर वस्तुकी प्रतीक्षा ही नहीं करना पड़ी मात्र अपने बिखरे हुए चुट पुट ज्ञानोंको केन्द्रित करके एक लक्ष्य पर रखना ही किया गया।

जैसे—आदमीका काम होता है जो कि जला देता है-सूर्यके सामने रखने पर सूर्यकी किरणोंके केन्द्रित होने पर अर्थात् सूर्यको निमित्तमात्र पाकर किरणपंक्ति रूपमें परिणम जाने वाले छोटे छोटे स्कंधराशियोंके केन्द्रित होने पर (एक दिन कहा था कि सूर्यकी ये किरणे नहीं है सूर्य तो मात्र इतना ही है जितना कि उसका पिण्ड

है उसके बाहर उसकी कोइ किरणें नहीं निकलती किन्तु सूर्यका निमित्त पाकर जैसे यहांके पदार्थ अन्धेरे अवस्थाको छोड़कर प्रकाश अवस्थामें आये वैसे ही आकाशमें फैले हुए छोटे छोटे स्कंध भी सूर्यका निमित्त पाकर प्रकाश अवस्थामें आये उन्हें जब हम सूर्यके सन्मुख देखते हैं तो सूर्य और आंख इन दोनोंके बीच रहने वाले स्कधोंकी पंक्तियां दीखती है उन्हें ही किरणों शब्दोंसे कहा गया है। खपरैल छप्पर वाले जो घर हैं उनमें कहीं छिद्र हो तो उस छिद्रमें से प्रकाशित स्कंध चलते हुए से नजर आते है। यह प्रकाशित वहां सीमित हैं इस कारणसे खपरैलमें प्रकट नजर आता परन्तु आसमानमें बिलकुल फैला हुआ क्षेत्र है इस कारण हमको उड़ते हुए नजर नहीं आते किन्तु पंक्ति किरणरूपमें नजर आते है, यह बतलाया वस्तु स्वरूपका नियम कोई वस्तु किसी वस्तुको कुछ नहीं परिणमाता-सूर्यने इन पदार्थोंको प्रकाशित नहीं किया, सूर्यका निमित्त पाकर ये पदार्थ स्वयं प्रकाशित हो गये। हां तो जैसे आधासीसी काचमें किरणोंके केन्द्रित होने पर यहां भी क्या हुआ ? वस्तुतः काचकी ही तरंग वैसी केन्द्रित हो गई जैसे पर किरणें केन्द्रित हुई इसका अर्थ यही है कि काचकी ही वैसी ही वैसी बात एक लक्ष्यरूप हुई इसके प्रतिफल स्वरूप उसका कार्य ज्वलन हो जाता है। इसी तरहसे इस आत्मामें जो ये प्रकट ज्ञान हैं इन ज्ञानोंको केन्द्रित कर दियाजावे—फैले हुए जो अनेक पदार्थ विषयक ज्ञान हैं उन्हें केन्द्रित कर दिया जावे अर्थात् पर लक्ष्यको छोड़कर एक निज ज्ञानको लक्ष्यीभूत रखा जावे। यही पर लक्ष्यका त्याग है इस तरह अंतरात्माका जब लक्ष्य एक हो जाता है अर्थात् बाह्य अर्थोंपर लक्ष्य न देकर एक चैतन्यभाव पर ही लक्ष्य हो जाता है तो इस अनादि अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वभावके लक्ष्य होनेपर रत्नत्रयमें निर्मलता अपने आप आती ही है और यही काम केवलज्ञानरूप शुद्ध पर्याय को प्रकट कर देता है क्योंकि जैसी दृष्टि होती है वैसी सृष्टि हो जाती है।

निर्मल ध्रुवके लक्ष्यसे निर्मल पर्याय प्रकट होती है। लोग कहते हैं धर्म करो, धर्म क्या कोई रूपी चीज है जिसे यों बताया जाय, आकार बना दिया जाय या कुछ कर दिया जावे, तो लो, कह सकें कि इसने धर्म कर दिया। धर्म बाह्यमें तो रहता नहीं, मेरा धर्म मेरा ही स्वभाव है, अन्य सर्वका नहीं, जो सर्व को जिसका कि धर्म कहलाया अमुक तरह से हाथ लगा लिया तो धर्म होगया या अमुक तरहसे लड़ गये तो धर्म हो गया या अमुक तरहसे खड़े होगये तो धर्म होगया आदि धर्म किसी परका स्वभाव नहीं है जो सर्वकी क्रियामें हम धर्म पा लें। धर्म राग द्वेषादि भाव तो हैं नहीं जो शिथिलसे शिथिल द्वेषको करके या बढ़े से बड़ा अच्छा राग करके हम धर्मभाव को पा सकें। फिर धर्म क्या चीज है? धर्म है निर्विकार निर्विकल्प शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रूप परिणमन। प्रारंभमें चैतन्यभावका लक्ष्य रखना धर्म है। इस चैतन्यभाव रूप ही रहना रत्नत्रयकी पूर्णता है। वह निर्मलता वहां अपने आप प्रकट हो जाती है। इस ज्ञानसामान्यका लक्ष्य ज्ञान में होगया तो चारित्रमोह के विपाक को निमित्तमात्र पाकर होने वाला भगवान् के ज्ञानका स्तवन वर्णन अनुराग वंदन आदि सब शुभोपयोग हैं। जिसके अवलोकन कर चुकनेपर चरित्रमोहोदयवश शुद्धात्मविषयक शुभोपयोग होता है वह अंतरंग भाव धर्म है और मिश्रप्रेरणावश जो यह कार्य होगया वह व्यवहार धर्म है। यह धर्मके स्वरूपकी आलोचना होरही है। एक बार कुछ सर्व मूर्च्छाको दूर कर निजज्ञानस्वभावके वस्तुके निरपेक्ष सामान्य स्वभावके यदि दर्शन करले तो उस निरपेक्ष सामान्यके दर्शनके पश्चात् जितने शुभोपके काम हैं वे एक अंकपर लगगये और उसकी भीतरी कीमत बढ़ती जावेगी। और एक चैतन्य प्रभुका दर्शन न होवे तो भाई भगवान्का उपदेश है कि उस एक के श्रद्धान विना वह कीमत तो नहीं रख सकनेका है उल्टा संसार ही चलता है।

एक अंक पहले आनेपर ही शून्यकी कीमत होगी। चाहे ऐसी शून्य कितने ही करते चले जावें परन्तु एक तत्त्वको लेकर न चलें तो उन

शून्योंकी कामत शून्य ही रहेंगी। एक बार अपने आपको उत्साहित करके जिस धर्मके दर्शनके विना दुःखी होना पड़ा रहता है उसे सर्व अन्तरंग प्रयत्न करके देख तो लो। जगतके वस्तुके अस्थिर स्वरूपके ज्ञानके पश्चात् रागद्वेषमोहकी शिथिलता होनेके कारणभूत इस ज्ञानस्वभाव का अनुभव प्रकट होगा वस्तुके अंतरंग स्वरूप को देखो बाह्य अस्थिर ताका भी ज्ञान सरल होता। केवल बाह्य स्वरूपको देखकर ही उसके विषयमें पूर्ण निर्णय करके सत्य आत्मीयबुद्धि स्पष्ट न आवेगी। भगवान की मूर्तिके आगे पूजा ही पढ़कर उनके गुणोंका स्मरण कर इन कार्योंके रहते हुए भी यदि हमारे अनादि अनन्त चैतन्यभगवान् का दर्शन न हो तो हम टोटेमें ही रहेंगे। कोई व्यवहारपदवी में व्यवहारके निषेधकी बात नहीं कही वहां रह कर भी निश्चयस्वरूपकी दृष्टि दृढ़ बन जाय इसका प्रयास रहे। पूजन में मूर्तिके समक्ष भगवान्के गुणोंका स्मरण कर रहे हो वहां अपने अनादि अनन्त अहेतुकभावका लक्ष्य करते जावे जितना भी बन सके उसकी ही दृष्टि लगाते जावे। क्या यह पूजा नहीं कहलावेगी? यह तो भगवान के रहस्यकी बात पानेवालेकी उत्तम पूजा होगी। यह व्यवहार धर्म तो तीर्थ की रक्षाकेलिये है। व्यवहारसे निश्चय नहीं मिलता ऐसी बात सुनकर व्यवहारमें आवे ही नहीं या व्यवहार आवे ही नहीं इसका यह मतलब नहीं। तथा यद्यपि यह ठीक है कि व्यवहारधर्म तीर्थका रक्षक है उसे वहां करना चाहिये किन्तु धर्म तो निश्चयसे अपने अंतरंगसे प्रगट होता है। अनादि अनन्त अहेतुकज्ञान स्वभावका अवलंबन ही सर्व कल्याण का मूल है। इसके अन्दर बड़ा रहस्य भरा पड़ा है। समस्त मोक्षमार्गको यहीं बतला दिया है। तुमको सुखीहोनेकेलिये क्या करना है? यह इस पंक्तिने बतला दिया "समस्तावरणक्षय क्षण एवानाद्यनंताहेतुकासाधारणज्ञानस्वभावकारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविशत्केवलज्ञानोपयोगीभूय स्वयमेवात्मा विपरिणमते यह किसी अन्य की दी कोई बात नहीं है इस शुद्धतामें रहकर तत्त्वकी साधना करो आपकी ही यह बात है।

परमात्मा तो शुद्ध हो गये मात्र उनके गीत से क्या ? व्यवहारमें हैं तो क्या करें वहां रहकर भी निश्चयकी साधना करो, दृढतासे स्वमें रहकर निश्चयकी साधना करो। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो ज्ञान स्वभावका लक्ष्य करो। यह तेरा पद है यहां दृष्टि रख, इसका जानना ही तेरा मित्र है, रक्षक है। जगतके और कोई पदार्थ तेरे रक्षक नहीं हो सकते। करोड़ोंकी सम्पदा, पुत्र पिता स्त्री मित्र यह सब कोई तेरे रक्षक नहीं हो सकते सुखके कारणहीं हो नसकते। तेरे अनुपम सहज सुखका कारण निज चैतन्य भगवानका दर्शन ही है। सब ओर से लक्ष्य हटाकर—जहाँ जहां दिमाग पहुंचा है उन उनको सबको दूरकर अपने आपमें ज्ञानसामान्य स्वभावके लक्ष्मका प्रवाह उस स्वभावमें उपयोगी रहे तो निर्मल परिणाम आ आकर केवल ज्ञान के रूपमें बना देगा।

केवलज्ञान ज्ञानकी परम स्वच्छ तरंग है यह अत्यंत स्वतंत्र परापेक्षारहित प्रभुकी महिमा है। केवली भगवान इंद्रियोंका भी सहारा लेकर नहीं जानते। जो इन्द्रियोंका सहारा लेकर जानता है उसके ज्ञानके विकासमें फर्क पड़ जाता है। पहिले अवग्रह फिर ईहा फिर अवाय पुनः धारणा। छोटीसे छोटी परिचित वस्तुके भी जहां सामने देखा कि क्रमशः अवग्रह ईहा अवाय धारणा उसके इन्द्रियज ज्ञानके होती है। एक अपरिचितको देखो तो वहाँ अवग्रह ईहा अवाय धारणाका स्वरूप स्पष्ट समझमें आता। सामनेसे कोई आदमी आ रहा...पहिले तो यह सोचा कि आदमी है फिर यह सोचा कि यह तो दक्षिण देशका है परन्तु उसमें अभी पूर्ण निश्चय नहीं और न अभी कोई संशय है। जाननेपर विशेष प्रयत्नशील हुआ उसमें यह बोध आया कि यह दक्षिण देशका है। इस ही का निश्चय पूर्ण हुआ यह अवाय है फिर उसे न भूले यह धारणा है। यहां अपरिचितमें अवग्रह ईहा अवाय धारणाका वर्तन स्पष्ट समझमें आता, परन्तु परिचितमें समझमें नहीं आता कि कब अवग्रह हुआ और कब ईहा अवाय

धारणा हुए, फिर भी वहां क्रम है। ये इन्द्रियां हमारे ज्ञानमें क्रम डाल देती हैं। परन्तु जिनके इन्द्रियां नहीं है इन्द्रियोंके कारणभूत भावेन्द्रियां भी जिनके नहीं रही अर्थात् जिनके केवलज्ञाना वरणका अभाव हो गया ऐसे परम आत्माके केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है तो वह किस ढंगसे होता है उसके सम्बन्धमें केवलज्ञान के मार्ग। यह एक आलौकिक चित्रण किया गया है कि अनादि अनंत अहेतुक ज्ञान स्वभावको (यहां ज्ञानस्वभावको गुण समझना या सामान्य तत्त्व समझना) ग्रहण करके (यहां उपादाय शब्द दिया है जिससे उपादान शब्द बनता है यह उपादान निमित्तके प्रसंगमें भी प्रयुक्त होता है)-उस चैतन्यभावको कारणरूप से उपादान करके उस स्वभावके ऊपर प्रवेश करने वाले केवल ज्ञानरूप उपयोगी होकर आत्मा स्वयं शुद्ध परिणम जाता है। चैतन्यस्वभाव—ज्ञान-स्वभावके ऊपर केवलज्ञान पर्यायरूप होकर आत्मा परिणमता है अर्थात् इस शुद्ध पर्यायमें ज्ञानमात्र भी चल रहा है और केवलज्ञान भी चल रहा है और केवलज्ञान भी चल रहा है ऐसा बुद्धिमें आनेकी बात है वस्तुत वहाँ दो पर्याय नहीं हैं।

यहाँ उपरि शब्द डालनेसे यह रहस्य अवगत हुआ कि केवलज्ञान हो जानेके बाद-सर्वज्ञके ज्ञानमात्र खतम नहीं हो जाता। जो बात सामान्य स्वभाव पहिले कारणसमयसार नामसे व्यवहृत होता था. वह ज्ञानमात्र यहां खतम नहीं हो जाता।" ज्ञानस्वभावके ऊपर,,ऐसा कहनेसे पुद्गलकी तरह—स्कंधकी तरह उसको नहीं समझना कि ज्ञानमात्र तो ऐसा नीचे है और उसके ऊपर केवलज्ञान शुद्ध तरंग आई क्योंकि स्कंधमें अनेक द्रव्य हैं परन्तु यहां तो एक यह ही है। ज्ञानस्वभावकी जो शुद्ध तरंग है वह केवलज्ञान है। तरंग तो अनादि सांत होती कोई सादि सान्त होती, शुद्धात्माकी वह तरंग सादि अनंत होती वर्णन प्रवाहकी अपेक्षा है एक एक क्षणकी दृष्टिमें तो सब तरंग सादि सान्त एक क्षणस्थायी हैं। वह शुद्ध तरंग आई तो वह पर्याय रही'

यह पर्याय किस आधारमें आई था है जिसके आधारमें यह पर्याय चल रही है उसे कहते हैं ज्ञानस्वभाव। यह ज्ञानस्वभाव चल रहा है और ज्ञान स्वभावका ही शुद्ध अवस्थारूप परिणाम-तरंग-केवलज्ञान भी चल रहा है। उस कालमें वहां उस केवलज्ञानरूप तरंगके आश्रयरूपको केवलज्ञानसे भिन्नलाक्षणिक ज्ञानस्वभाव कहते हैं। वहां स्वभावके अनुरूप ही पर्याय है फिर भी प्रत्येक केवलज्ञानीमें उस प्रतिसमय की सर्वज्ञताकी पर्यायोंमें अनन्यरूपसे चलनेवाला जो ज्ञान स्वभाव है वह तो है ही। उस ज्ञानस्वभावका कारण रूपसे उपादान करके उसके ऊपर प्रवेश करते हुए केवल ज्ञानके उपयोगरूप आत्मा परिणमता है। कौन? केवली आत्मा। इसलिये इस केवली भगवानके ज्ञानमें एक साथ समाक्रान्त कहिये आया सर्व जगत है। —आक्रान्तका अर्थ है आक्रमण किया हुआ और समाक्रान्तका भाव हुआ, केवलीके ज्ञानमें जगतके सभी पदार्थोंने सभी पदार्थोंने सभी शक्तियोंसे सभ्यतासे विनयसे मानो आक्रमण कर दिया अर्थात् वह सबके सब केवलीके ज्ञानमें झलकने लगे-ज्ञात हुए। इस तरहसे नहीं आये कि वे पिण्डसे आगये हों अथवा आकर ऊधम मचा दिया हो, यही तो समका भाव है ज्ञाता भी अपने अस्तित्वसे सुरक्षित है, सर्व अर्थ भी स्वयंमें सुरक्षित रहे फिर भी सब ज्ञानमें आये अर्थात् सर्वपदार्थोंको निमित्तमात्र करके जो ज्ञानमें ज्ञेयाकार हुआ वह समस्त विश्वके अनुरूप है। उनके ज्ञानमें तीनों लोकोंके पदार्थोंका द्रव्य भी झलक रहा क्षेत्र भी झलक रहा, भाव भी झलक रहा तो सब त्रिलोकके पदार्थोंने मानो भगवानके ज्ञानमें अपने द्रव्यक्षेत्रकाल भाव सबने एक साथ आक्रमण कर दिया। लड़ाई नहीं हो रही है। यह प्रभुत्व है। सभ्यताका आक्रमण है—तत्त्वके स्वरूपको खेद न हो। भगवानके स्वरूपको धक्का न पहुंचे प्रत्युत पूर्ण व्यक्ति पाये, ये सर्व द्रव्य गुण पर्याय ऐसी सभ्यतासे आये। कैसा अनुपम यह आक्रमण है। अर्थात् निमित्त पाकर ज्ञानमें यह

सर्व ज्ञेय प्रतिविम्बित हो गया है इस कारण ये समस्त ज्ञानमें आलम्बन आता।

केवली भगवान् खरगोशके सींगको नहीं जानते, खरगोशके सींग ही नहीं, जाने कैसे ? परन्तु हमारे यदि अपनी कल्पना में "खरगोश है यह उसके उसके ऊपर सींग लगगये" ऐसा विकल्प हुआ तब यह तो केवली के ज्ञानमें आया ही क्योंकि यह विकल्प सत्का परिणमन है परन्तु खरगोशका सींग सत्ताका परिणमन नहीं, उसका ख्याल सत्ताका परिणमन है वह ख्याल जो कि ध्याताका परिणमन है। निष्कर्ष यह है-कि जिसकी सत्ता होती है वह भगवानके सर्वज्ञपनाका आश्रयमात्र है। यह आश्रय भी ऐसा नहीं कि वर्तमानावच्छेदेन सामने हो तभी सामने रखकर ज्ञान जाने किन्तु जो है वही तो ज्ञानमें आया। पदार्थमें (पदार्थ में) सत्ताका सम्बन्ध चाहिये वह किसी कालावच्छेदेन हो वह समस्त संवेदनके आलंबन भूत होकर वह सर्व द्रव्य गुण पर्याय केवल ज्ञानमें प्रत्यक्ष जाने जाते हैं। सर्व अर्थ के प्रत्यक्ष होनेपर भी विकल्प न होने केकारण साधारण लोकोंकी दृष्टिमें प्रत्यक्ष होना ज्ञान होना न होने बराबर सा है। उनको सारा विश्व प्रत्यक्ष हो गया इससे उनको लाभ क्या हुआ ? जितने लोग किसी चीजको जानना चाहते हैं वे किसी लाभके लिये ही तो जानना चाहते हैं, केवलीने सारा विश्व जाना वह किस लाभके लिये जाना ? नहीं, केवली ने समस्त विश्वको जाननेका प्रयत्न नहीं किया ज्ञानकी स्ववृत्ति ही ऐसी है जो इस रूपको लिये हुए है इसलिये किस लाभके लिये जाना यह प्रश्न ही नहीं उठता वहां तो ज्ञानकी सहजवृत्ति हुई फिर भी हम अपने ख्यालसे उत्तर देवें तो यह सुनिश्चित होता है कि सर्वको जाननेपर इनको विकल्प आनेका कोई अवसर ही नहीं रहता। जो क्रमसे जानता है उसके विकल्प उठता है।

जो सर्वको जानता है उसके निर्विकल्पना-विरागत्व कायम

यह है परन्तु यह उत्तर हमारी आदतके मेलका है, भगवानकी यह निर्विकल्पता सर्वज्ञपनाके कारण नहीं किन्तु वीतरागताके कारण है— रागद्वेष मोहके विनाशके कारण हैं उनमें जो सर्वज्ञता आई वह सर्वज्ञता आती ही है, ज्ञान जब स्वच्छंद हो जाता है उस पर जब कोई आवरण नहीं रहता तब ज्ञानकी तरंग इसको सर्वज्ञता रूप होती ही है फिर भी निर्विकल्पता निराकुलताकी सर्वज्ञता पुष्टि रखती है। यह सब किसका प्रताप है ? यह प्रताप है सम्यग्दर्शन का। यहां जो विशुद्ध ज्ञायक भाव पर उपयोग लगाया, उसका लक्ष्य किया उसका यह फल है केवलज्ञान। शुद्ध अवस्थामें जो छिप गये—पहुंच गये, श्रेणियोंमें भी जो साधु चले गये वह सब यहांके सम्यग्दर्शनका प्रताप है तथा वह भी सम्यक्दर्शनके पहिले, सम्यग्दर्शनके पहिलेके करण परिणामका प्रताप है। तब आपने यह समझा कि अधिक मेहनत किसने की ? सो अर्हन्त बननेमें सबसे अधिक मेहमत कहां हुई ? सबसे अधिक मेहनत सम्यग्दर्शनके पैदा होनेके समय अर्थात् प्रथमे करणत्रय परिणामोंमें हुई। यह लक्ष्यकी बात नहीं कर रहे हैं कि हमको लक्ष्य उन करण परिणामोंमें करना चाहिये जिनकी मेहनतसे हमें सिद्धि हुई। आदर्श तो शुद्धका स्वरूप ही रहना चाहिये क्योंकि उसका आदर्श या ज्ञान स्व स्वरूपका आदर्श हुए बिना करण परिणाम ही होंगे कहांसे ? परन्तु यहाँ तो कार्यकी बात बतला रहे हैं कि सबसे बड़ा काम उन करण परिणामोंमें रहा क्योंकि अनन्त संसारकी क्षति उन करण परिणामोंसे हुई, वे करणपरिणाम मिथ्यात्व गुणस्थानमें सातिशय मिथ्यादृष्टिके हुए। तब यह समझना कि मोक्षमार्ग केलिये जो प्रथम प्रयास है वह सर्वोपरि महत्त्वका प्रयास है आगेका प्रयास इसके समक्ष सरल है।

अ आ क पढ़नेवाले शिष्यका बड़ा परिश्रम था और बी. ए. एम. ए. में पढ़नेवाले शिष्यका परिश्रम कम है। इसी प्रकार मास्टरोंके परिश्रमको भी बात है। अभी भी बड़े बड़े विनयी जो हुए या होते है वे क का पढ़नेवाले मास्टरको उसी आदरसे अथवा महान् आदरसे

देखते हैं जो बड़े मास्टरका होता है। यह बात पहिले कह ही चुके हैं कि आदरसे करणको लक्ष्य बतानेकी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु यहां यह कह रहे है कि सबसे अधिक जो परिश्रम होता है वह आत्माका मोक्षमार्गमें चलनेके लिये अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामोंमें होता है। वह परिणाम कब पैदा होता कैसी स्थितिमें पैदा होता ? तो भाई वह परिणाम भी अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञायकभाव को कारण पाकर होता। सम्यग्दर्शनके बाद व्रत परिणाम कैसे होता ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण पाकरके जो स्थिरता होती उसमें होता है। अच्छा ! महाव्रतका परिणाम कैसे होता ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण रूपसे ग्रहण करके होता। किन्तु श्रेणीयोंमें यह आत्मा कैसे पहुंचता ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारण रूपसे उपादान करके पहुंचता। अब क्षीणमोह कैसे होता ? तो अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभाव को ही कारण पाकर के उस स्थिरतामें होता। और केवली कैसे होता ? तो भी यही उत्तर है अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके केवलज्ञानोपयोगी होकर स्वयं परिणमता है।

देखो भैया ! यह परमपारिणामिकभाव एक ही अपूर्व मास्टर है गुरु है देव है जो हमको सम्यक्दर्शनसे सम्यक् चारित्र तक और अत्यन्त शुद्ध पर्याय तक ले जानेवाला है इसही की कहीं चर्चा कहीं बोध कहीं लक्ष्य, श्रद्धान, भावना, ध्यान, उपयोग, परिणमन होता है। इसही निज ज्ञानस्वभावका लक्ष्य—यही करना ही एक हमारा अभी धर्म है। हमारे व्यवहार धर्मके अन्दर भी ज्ञानीको केवल यही करने का होता है। सारे प्रकारके शुभोपयोगमें बसकर भी ज्ञानी जीवका काम यही रहा करता है। हमारी समझमें इसके चिन्तवनमें हमको परिश्रम करना चाहिये यह परिश्रम नहीं, अपूर्व आराम है जिसका रहस्य या द्वार अब तक देखा भी न था। २४ घन्टे में विषय कषायोंके परिश्रम में यह जीवन प्राणियोंका बरबाद हो रहा है। एक बार विषय कषायोंसे

हटकर अपने आपमें आवो अथवा अपने आपके स्वरूपको देखो इस ही में स्थिर होओ। उसे विषय कषायके परिणाम स्वयं हटेंगे ही। एकबार सहज सुखामृतका अनुमान करो। स्त्री पुत्र आदि सब उठकर प्रायः नही जाते वे सब घरमें ही हैं आनन्दसे रहेंगे। उनके उपयोगमें अब तक इतने रहे अब कुछ ५ मिनट ही (आगे मिलेंगे यह भाव रखकर नहीं) तो उन बातों का ख्याल छोड़कर अपने ज्ञानस्वभावमें आवो, लग जावो, रहो आधा सेकिण्ड भी सेकिन्डके हजारवें भाग भी अथवा जैसे बिजली चमकती उस शैलीके क्षणसे अपने स्वभावके पास आजावो। यदि कोई अपने ६०-७० वर्षके जीवनके भीतर एकपाव सेकिन्ड को भी यह बात पालेवे तो वह सर्व दुःखसे पार हो सकता है। सारा समय तो रक्खा विषयके लिए। मन नहीं माने तो राग केलिये, कुछ समय स्वरूपचिन्तनसे लगावो। और यदि आपको चिन्ता होहै उन सर्व अत्यताभाववाले पदार्थोंकी, तो हम कहते हैं आपके बाल बच्चे सब ठीक रहेंगे। एक मिनट आधा मिनट सर्व बाह्यसे उपयोग हटाकर आरामसे तो बैठो ज्ञानस्वभावका अवलोकन हो जायगा। देखो यह अनुभव होनेपर व्यवहार सत्य है ज्ञान सत्य है, चारित्र सत्य है। अन्यथा वक्ताओंकी गाली ही खानेको मिलेगी।)

एक चैतन्यमात्रका अनुभवन किया हो तो उसे अन्य सब भार प्रतीत होता है, उस भावसे जो जाना कि उसे ज्ञायकभावका लक्ष्य आ ही गया। कभी किसी चारित्रमोहनीयकी प्रबल प्रेरणासे किसी कार्यमें लगे हुए भी उसके वियोगबुद्धि लगी रहती कि किस दिन वह समय आवे कि यह खटपट न करना पड़े, ऐसे भाववाला लोकमें भी रहता अपने ध्रुवस्वभावके लक्ष्यमें रहता। इसही भावकी करामात है कि गृहस्थीमें रहकर भी ४१ प्रवृतियोंका संवर है। सम्यक्त्व होनेपर प्रवृत्तियोंसे भी अनंतसंसार नहीं होता। ज्ञानीजीवकी शुभप्रवृत्ति व्यवहारधर्म कहलाता है वहां ज्ञानीका क्या ध्येय है कहाँ लक्ष्य है इस रहस्य को न जान सकनेवाला प्रवृत्तिमुग्ध प्राणी यदि शुभप्रवृत्तिको ही धर्म मान-

लें तो इस भावसे वह धर्म- शान्ति- आत्मविश्राम नहीं पासकता। जैसे कोई सेठ धान्य खरीदने गया १४रु० मनमें धान्य खरीद लिया। एक मूर्ख जो धनी बननेकी चाहसे सेठकी प्रवृत्ति को देखरहा था और सोचरहाथा कि जो सेठजी करें वही हमें करना है। उस मूर्खने निश्चय किया कि इस मटमेंटले पदार्थथों का १४रु० मनमें खरीद लो वहमिल में गया और वहाँ पड़े हुए चांवल रहित मटमे ले तुप की १४ रु० में खरीदनेकी कहने लगा अधिकारियोंने सोचा कि यह मजाक कर रहा होगा किन्तु उ .के बार बार हठ करने पर और मूल्य आगे धर देने पर विवश होकर दे दिया। अब आप यह सोचें कि वह मूर्ख धनी बनेगा कि गांठ की रकम खोवेगा। इसी तरह जीवका निज ध्रुव तत्त्वपर लक्ष्य गया—इस ज्ञानी जीवसे कर्म विपाकवश शुभोपयोग कार्य हुआ इससे भी दूर न रहसका। यह किस अवस्थामें किस दृष्टिमें उसके हुआ इसे अज्ञानी न पहचान सका और ऊपरी ही बात देख ली ऊपरी प्रवृत्ति में हो धर्म है इसे करनेसे ही कल्याण है इस श्रद्धाको रखकर बांह्यप्रकृत्तिमें तन मन लगाके लगा तो क्या बाह्यप्रवृत्तिमात्रसे अर्थात् ज्ञानियां की ऊपरी औपाधिक प्रवृत्तिको नकलमात्रसे अज्ञानी अंदरके वैभव को पासकता है ? धर्म शान्ति आत्मविश्वास कर सकता है या संसारका ही बंध करता है।

सिर्फ दृष्टि का फेर है, व्यवहार का निषेध नहीं, यह व्यवहार धर्म भी आचाराङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग विषय है। क्योंकि निर्बल अवस्थामें शुभोपयोगसे अलग रहकर स्वच्छंद हो सकता है। परन्तु इन कर्त्तव्योंमें रहकर भी देखो अपने अंतरंगभाव को। निज ज्ञानस्वभावाको ही शरण बताकर अपने उपयोग की पर्याय करो। देखो भैया ! धर्मका मूल क्याक। चौथे गुणस्थानसे लेकर अत्यंत शुद्धपर्याय प्रकट होने तक यही होता दूसरा काम नहीं। ज्ञानस्वभाव का कारणरूप से उपादान-लक्ष्य; श्रद्धा, भावना, उपयोग परिणमन रहा। कहीं अनुभव हुआ तो कहीं परिणमन हुआ, परन्तु रहा रहा सर्वत्र ज्ञानस्वभावका ही सम्बन्ध।

ज्ञानस्वभाव तो वह कहलाता जो प्रत्यक्ष ज्ञानपर्यायमें रह सकता है व जघन्य परोक्षपर्यायमें भी रहता, सामान्यमें भेद कहाँ ? ऐसा वह ज्ञान स्वभाव अर्थात् आत्मद्रव्य है तो अपने ध्रुव स्वभावसे रहता ही है। द्रव्यका स्वभाव ऐसा नहीं कि कहीं कम या ज्यादा रहे ऐसा रहने वाला तो स्वभाव ही नहीं, व्यक्ति है। यह स्वभाव निगोदमें अपूर्ण हो और केवल ज्ञानमें पूर्ण हो नहीं क्योंकि स्वभाव की अवस्थामें तो अन्तर होता किन्तु द्रव्यमें व उसके स्वलक्षणमें अन्तर नही होता।

जो स्वभाव द्रव्यमें अनादिसे अनंतकाल तक पूर्ण है उस निज स्वभावको जिसने नहीं जाना उसे कहते हैं परमार्थसे नास्तिक। उस स्वभाव को जिसने जाना उसे कहते हैं आस्तिक। आस्तिक अन्तरात्मा के अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभावसे अनुभवसे परिणामोंमें निर्मलता बढ़ने लगती है तब श्रेणीगत अन्तरात्माके एक ही पदार्थमें एक योगसे ठहरे हुए ध्यानमें १२वें गुणस्थान तक वीतरागभाव था सर्वज्ञता नहीं थी। १२ वें गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानवरण दर्शनावरण अन्तराय कर्म का क्षय होते ही एक ही समयमें उस ज्ञान की यह हालत होती है कि तीन लोकके तीन कालके सर्व द्रव्य गुण पर्याय एक साथ उस केवलज्ञानमें आजाते हैं मानों उनसबका उसज्ञानभूमिकामें एक ही साथ समाक्रमण हो जाता है। देखो भैया ! १२वें गुणस्थान तक तो सर्वज्ञता नहीं थी फिर वह ज्ञान कितने रूप था कैसे नररहाथा, किसपर केन्द्रित था जो वहाँ एक के बाद एक समयमें एक साथ ऐसा हो गया। वह है निर्विकल्प ज्ञानानुभव। यह ज्ञानका स्वभाव है कि सबको जान यहाँ अचानक यदि ऐसा कोई अद्भुत काम हो जाय तो घबराहट आ-जाय. वहाँ अन्तवीर्य प्रकट है अनंतज्ञान प्रकट है इस केवली भगवान् के एक समय माक्रन्त व समस्त द्रव्य क्षेत्रकाल भाव होनेसे समस्त संवेदनके आलम्बनभूत जो यह सर्व द्रव्य गुण पर्याय हैं वे सब प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इस तरह से गाथा में यह बात सिद्ध की कि केवली भगवान् का जो ज्ञान वह अतीन्द्रियज्ञान के परिणमन होनेके कारण सर्व-

का प्रत्यक्ष करनेवाला हो जाता है। इस अद्भुत किन्तु सहजमहिमा का उपाय क्या है ? धैर्य धरो जगतके पदार्थोंको समझनेकेलिये उतावली न करो अपनेको समझो और अपनेसे भिन्न शरीर आदि है ऐसा समझो इसमें ही सारा जगतका ज्ञान सामान्यरूपसे हो गया। अब उतावली न करो प्रत्येक भौतिक पदार्थके निरीक्षणकी। धैर्य धरो धैर्यका मीठा फल है, इच्छा न करो किसी अन्यके जाननेकी इच्छा न करो किसी चीजके सम्बन्ध बढानेकी। इच्छा न करो किसी प्रकारसे किसीको प्रसन्न करनेकी। इच्छा न करो यश अपयशके होने व छुपानेकी। किसी इच्छाका आदर मत करो अपने ध्रुव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञानस्वभावको देखो। वह स्वभाव अखंड है यद्यपि उसे खंडज्ञानरूप उपयोगमें ही देखते हो तथापि खंडमें अखंड विराजमान तो रहने दो भूमिका भी अल्प समयमें पूर्व व्यापक अखंड हो जायगी।

हम किसी भी पदार्थको पूर्ण तौरसे नहीं जान रहे जो हम एकदेश देखते हैं उतने ही हम जानते हैं परन्तु शुद्ध आत्मद्रव्यका वह ज्ञान त्रिलोक सर्वका ज्ञाता होता है। द्रव्यदृष्टिसे तो वह देहाकार असंख्यप्रदेशोंमें ही विराज रहा परन्तु भाव दृष्टिसे देखो वह केवलज्ञान सर्वव्यापक है। वह इतना ही व्यापक नहीं कि लोकमें ही रहता हो, अलोकमें भी है। वर्तमानमें ही वर्तमानकी पर्यायोंमें ही व्यापता हो ऐसा नहीं किन्तु इसकी व्यापकता अतीतकालकी सर्व अनंत पर्यायोंमें है भविष्यकालकी सर्व अनंतपर्यायोंमें है कारण कि वह सत्सम्बन्धको जानता ही है चाहे वह सम्बन्ध पर्यायरूपमें हो या 'गा' या रहे। यह सम्बन्धकी वात पर्यायोंके लिये कह रहे हैं। जो भाई केवलज्ञानको व्यापकतामें प्रादेशिक जैसी दृष्टि लगाकर क्षेत्रसे ही व्यापक मानते हैं उनको केवलज्ञानके विषयके इतने ही आधारसे चलकर सर्वथा अद्वैतवाद जैसी श्रद्धा हो सकती है अर्थात् और कुछ नहीं है बस मात्र एक ज्ञान ही ज्ञान है। परन्तु पहिले यह निश्चय करके

चलो कि केवलज्ञान भावदृष्टिसे व्यापक है और भावकी दृष्टिमें इतना हो व्यापक नहीं कि वह लोकमें ही वर्तमानकी पर्यायोंमें ही व्यापक हो वह तो त्रिलोक त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य गुण पर्यायोंमें व्यापक है। ये पर्यायें कबसे है ? यदि कहो अमुक समयसे ? तो वह एक पर्याय आदि रूप हुई तो वह पर्याय किस सामान्यकी—द्रव्यकी तरंग है ? उसका जो उत्तर होगा वह क्या पहिले निस्तरंग था ? नहीं, तब पर्यायें अनादि से हैं और अनंतकालतक पर्यायें चलती रहेंगी क्योंकि यदि अमुक दिनसे ही चलें-रहें तो किस हालतमें द्रव्य रहेगा ? इससे सिद्ध है भविष्य भी अनंत है।

देखो केवलज्ञानीके ज्ञातापको इन सर्वका ज्ञाता है। किन्तु वह हमारी तरह छांट करके जाने तो उसको सर्वज्ञातृत्वसे स्तीफा देना पड़े किन्तु यह दोनों असंभवहै अर्थात् वह सर्वज्ञाता नहो यह असंभवहै और छांट याने विकल्प करके जाने यहभी असंभवहै। देखो केवलज्ञानी के तेजको,एक ही समयमें अनादिकालकी पर्यायोंमें व्यापक हो गया भविष्य अनंतकालकी पर्यायोंमें भी व्यापक हो गया। यह सब भावदृष्टिसे कसने पर सब सही उतरता है। मात्रक्षेत्रकी दृष्टिसे ही व्यापक मत देखो। ऐसा ज्ञानमें व्यापकत्व देखने पर कहीं गलती हो सकती है; उस गलतीका परिणाम अद्वैतवाद है। अद्वैतवाद सत्य है परन्तु वह अखंड एक द्रव्यमें। इस तरह वह केवलज्ञान इतना व्यापक है। जो पदार्थ जैसा है उस पदार्थको उस रूपमें जानो। यह बात इसलिये कही कि केवलज्ञान में इतनी लम्बी व्यापकता समझमें आनेपर यह बात सहज समझमें आयगी कि केवलज्ञान जिस आत्मद्रव्यके आधारमें है वह आत्मद्रव्य पिण्डसे देहाकार निज प्रदेशोंमें ही है। क्यों ? देखो यदि हम इस ज्ञानको क्षेत्रमें ही व्यापक मानें तो यह प्रतीत हो सकता है कि केवलज्ञानका आधारभूत जो आत्मा है वह भी इतना ही फैला हुआ होगा। और जब केवलज्ञानकी व्यापकता भूतकालकी पर्यायोंमें भी चली गई भविष्यत्कालकी पर्यायोंमें भी

चली गई तो यह आत्मापिन्ड को छोड़कर इनमें कहां कहां कैसे विचरता होगा भविष्यत्कालकी पर्यायोंमें व भूतकी पर्यायोंमें आदिमें कहां जावेगा तब कम से कम इतना तो निश्चित हो गया कि जितना केवलज्ञान व्यापक है उतना व्यापक आत्मद्रव्य नहीं है। द्रव्यदृष्टिसें पिन्ड दृष्टिसे इतना व्यापक आत्मद्रव्य नहीं है।

देखो यह एक लक्ष्यकी बात बतलाई जारही है तभी तो आगेका कथयिष्यमाण यह विरुद्ध नहीं होगा कि जितना बड़ा ज्ञान है उतना ही बड़ा आत्मा है। यदि ज्ञानसे कम आत्माको माने तो क्या दोष होगा ? ज्ञानको आत्मा से कम माने तो क्या दोष होगा ? समाधान देकर निर्णीत होगा कि ज्ञानप्रमाण आत्मा है न यह कम है न वह कम है। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि देहसे मुक्त होनेपर वह आत्मा देहके प्रमाण क्षेत्रावगाही ही क्यों रहता है ? तब यह सामाधान है जिस आकारमें अवस्थित आत्मा अन्तमें मुक्त होता है व देहसे अलग होता है वह जितना था उतना ही रहा घटा नहीं बढा, नहीं। इसमें तो हेतु आनेकी जरूरत नहीं किन्तु यदि घटे या बढ़े कुछ तो उसमें हेतु पूछा जायगा कि क्या कारण है जो बढ़ गया अथवा घट गया। नवीन बात होनेमें हेतु पूछा जायगा। जो जैसा था वैसा ही रहा इसमें क्या खोजने की व्यग्रता की जाय। अपने व्यवहारमें भी देखलो कोई मामला घरमें, संस्थामें आजाय जिसमें कुछ घटाया बढ़ाया जाय कुछ लोगोंके खिलाफ हो तो निश्चय होता है कि जैसा है वैसा ही रहने दो उसमें कुछ अन्तर मत करो। वह अरहंत केवली जिस देहाकारसे मुक्त हुआ है उस देहाकारके प्रमाणसे आत्मा घट गया या बढ़ गया तो कारण बताओ। अतः शुद्ध आत्मद्रव्य देहसे मुक्त जब हो जाता है तो जिस देहसे मुक्त हुआ उस प्रमाण वह सिद्धलोकमें भी विराजमान रहता है।

यदि यह कहा जाय कि ऐसी भी कुछ प्रसिद्धि है कि पूर्व देहाकारसे कुछ कमआकार रहता है जो वैसा कम तो इस समय भी है जो देह

में छिद्र है ऊपर की सूक्ष्म त्वचा है नख है बाल है. वहां आत्मप्रदेश नहीं फिर क्षेत्र की दृष्टिमें विशेषता क्या रही।। अर्थात् जितने कम आ- कारमें रहेंगे रहते हैं, देहमें उतने कम आकारमें हम भी रहते हैं अभी शरीरके ऊपर की चमड़ी जो मक्खीके पर की तरह पतली है जिस पर कदाचित् जरा सी रगड़ लगजाय तो मैल ही निकले किन्तु तकलीफ रंच भी नही होती यह त्वचा आत्म प्रदेशरहित है ।यहां जितने बाल नि कल रहे यह भी अंग वन रहे इनमें भी आत्मप्रदेश नहीं है, तभी देखें। जब कोई कैंची आदिसे बाल काटे तो जरा भी हमें ख्याल नहीं रहेगा रंच भी दुःख।। अनुभव नहीं होगा। यही बात इन नखों की है यह भी हड्डी का मलमात्र हैजे ऊपर निकले हैं। तब जो जो इस आत्मा प्रदेशसे बाहर की चीज है अर्थात् जिनमें प्रदेश नहीं है वहाँ तो आत्म प्रदेश अब भी हमारे आपके नहीं हैं। इस तरहसे देहप्रमाण क्षेत्रस्थ भी इस अत्मामें वह ज्ञान प्रकट होता उसकेवलज्ञान में कोई भी प्रतीक्षा नहीं होती। भ वदृष्टि से वह इना व्यापक है वह अतीन्द्रिय स्वाभाविक है इससे कहते हैं कि इस भगवानकेवलीके अतीन्द्रियज्ञान होनेसे ही पूर्व- ज्ञान सुख है। यही शब्द इसलिए कहा कि शंकाकार कहता था कि जिनके इन्द्रिय नहीं उनके और आनन्द कैसे होगा, उसके लिये निर्णय हके पर कहाकि इन्द्रिय नहीं है इसलिए ही पूर्णज्ञान और सुख है जिसको कि किसी की सहायता या प्रतीक्षा आदि नहींकरना पडती। अब कहते हैं कि इस भगवान आत्माके अतीन्द्रिय ज्ञान मेंपरिवत होने से ही कुछ भी नहीं रहता अज्ञात नहीं रहता इस बात को अभिप्रति अर्था त् कहते हैं ।यहां अभिप्रति शब्द कहा जिसका रहस्य है कि आचार्य अपने मन का भिदा हुआ अभिप्राय कहते हैं अथवा यही इष्ट है उसकी शक्ती से कहते हैं।

णत्थि परोक्खं किंचिवि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥२२॥

प्रभु समस्त इन्द्रियोंके गुणोंसे समृद्ध हैं। देखो केवली भगवान का वर्णन चल रहा है, शब्द यह है कि जो समस्त इन्द्रियके गुणोंसे समृद्ध हैं—युक्त हैं, इन्द्रियके ज्ञानकी वृत्तिसे युक्त नहीं परन्तु इन्द्रियां जिन जिनको विषय करता था उन सबका ज्ञान तो पूर्णज्ञानी अक्षातीत के है ही सो देखो इन्द्रियकी जो करामात है वह तो उनमें है परन्तु वहाँ उन विषयोंका विकार स्वाद नहीं और विकल्प नहीं। क्योंकि जिनकेमोह व इन्द्रियज ज्ञान ही नहीं तो विकार स्वाद कैसे हो। उन पदार्थोंका भी जो भगवानको ज्ञानहै वह भी ज्ञानकी स्वच्छतासे होता। उस ज्ञानकेलिये उन आत्माको कोई प्रतीक्षा नहीं करना होती।

यह केवली—जो इन्द्रियोंसे रहित ज्ञानवाला है सब आत्माके प्रदेशोंमें सब इन्द्रियोंके गुणसे अथवा आत्मगुणों से पूर्ण है। इन्द्रिय ज्ञानसे पूर्ण नहीं किन्तु इन्द्रियावस्थामें जितना जानन हो रहा था वह तो उनके है ही. इससे भी अनन्तानंत गुण ज्ञान होगया ऐसा जो केवली भगवान हैं उनके ऐसा ज्ञान प्रकट होता कि जिसमें त्रिलोक त्रिकालके सर्व द्रव्य गुण पर्याय प्रकट होते ही है। हम देखते हैं अपने विकल्पके ढंगसे कि सही क्या होगा? परन्तु भैया! विकल्पके होनेके अनुसार उनके ज्ञान नहीं, उनका ज्ञान निर्विकल्प होनेसे है क्योंकि इस अवस्थाके होने का कारण—मूल कारण निर्विकल्प ज्ञान स्वभावका लक्ष्य है यह बात इक्कीसवीं गाथामें कही गई थी उससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि मेरा सत्यार्थ काम केवल अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य करना ही है। इस कामको करते रहो जितने भी प्रयत्न में रहो वह इस कामके लिये रहो तो कोई न कोई ऐसा समय आवेगा ही कि हम उस विशुद्ध स्वरूपके अनुरूप परिणम ही जावेंगे। कार्य बस यही है—ज्ञानस्वभावकी ही चर्चा, ध्यान रहे। एक जुलाहा था उसे एक साहबने पतलून दिया इनाममें। वह उसे पहिनना नहीं आवता था। उसने कभी तो पतलून को सिरसे बांधा, कभी कमरमें तो कभी उसमें हाथ डाले, अनेक उपाय किये, इतही में कभी दोनों पैर डाल दिये तो

वह पतलून फिट बैठ गई तब समझमें आया यह यहां ही पहिननेकी चीज है। यह तो मात्र दृष्टान्त है तात्पर्य यह कि हम भी तत्त्वस्वरूप पर एकाग्रध्यान बनाये रहते रहें कभी वह ध्यान फिट बैठ जायगा। व्यवहारमें भी पूजा वंदना चिन्तन आदि होते रहें व यहां भी अंतरंग दृष्टि ठीक रखनेका प्रयास रहेगा तब वह दिन दूर नहीं, जब इस ज्ञायक भावका स्थिर अनुभव होगा। अपना अन्तरंग लक्ष्य न छोड़ो।

इस गाथाकी उत्थानिका में "अत्र इस भगवान कार्य रूमयसार-मय परमात्माके अतीन्द्रियज्ञानमें परिणत होनेसे कुछ भी परोक्ष नहीं है अस्पष्ट नहीं है ऐसा अभिप्रेति अर्थात् कहते हैं" इन शब्दोंमें अभि-प्रेति शब्दसे अभिप्राय ही बना दिया क्योंकि जब कोई बात अतिशय कर उपयोगमें बैठ जाती है। तभी वह अभिप्राय बनता है। कहते कहते तो बहुत सा समय व्यतीत हो जाता है परन्तु अभिप्राय बने बिना उसका लेश भा प्रयत्न नहीं हो सकता। आध्यात्मिक सूरिको मात्र कहना ही इष्ट नहीं होता उनका वैसा अभिप्राय होता है। ज्ञान की ऐसी निर्मलता जिसमें सर्व द्रव्य गुण पर्यायें प्रत्यक्ष हों. इसका ही अ-भिप्राय-अवलोकन वे धि प्राप्त पूज्य आत्माओंके रहता है जो कि उस पूर्ण व्यक्तिके मूल आधार ज्ञायक स्वभावके लक्ष्यमें गर्भित है। यहां सर्व प्रत्यक्ष हों इस पर भी लक्ष्य नहीं है किन्तु यह तो उस निर्मल ज्ञान की पहिचानकेलिये कहा गया जिसकी इस लक्षणसे पहिचान की उस निर्मलज्ञान का ही अभिप्राय है अथवा निर्मलज्ञानपर्याय पर भी दृष्टि नहीं है किन्तु अनादि अनंत अहेतुक असाधारण एक ज्ञानस्वभावपर ही दृष्टि है। जिसके लक्ष्य-अनुभव-परिणमनके प्रसाद रूप जो निर्मल अवस्था होती है उसकी प्रशंशा पूर्वक अभिप्राय व्यक्त किय जा रहा है। अभिप्रेति शब्दमें अभि प्र एति ये तीन शब्द हैं जिनके शब्दार्थ हैं चारों ओर प्रकर्पता पूर्वक गमन करता है जिसका भावार्थ है अभिप्राय करता है अथवा इष्ट करता है—इस भगवान आत्माके कुछ भी वस्तु परोक्ष

नहीं है ! इस आत्माका नाम ही भगवान है । भग याने ज्ञान उसका जो स्वामी होय वह भगवान् अर्थात् ज्ञानवान् ।

यही चैतन्य चेतन इसी प्रकार अनेक नामोंसे पुकारा जाता है। जैसे—विष्णु-जो इस ज्ञानभावसे व्यापक होय सो विष्णु, आत्माका ऐसा ज्ञान जो लोकालोकमें व्यापक है विकास रूपमें ऐसा पूर्ण आ सकता है, आता है तब यही आत्मा विष्णु है। बुद्ध—जो जाने सो बुद्ध। हरि—जो पाप को हरे सो हरि, पापोंको कौन हरेगा ? पापको मैं ही हरूंगा, यद्यपि भगवानके स्वरूपका लक्ष्य होनेपर वह आश्रय है तथापि उनका कोई अंग गुण मेरे पापको हरनेमें समर्थ नहीं। मैं ही हरि हूं। ईश्वर—जो निजके ऐश्वर्यका स्वतन्त्र स्वामी हो वह ईश्वर है। वह भी मैं हूं। जिनका ऐसा काम है जिससे वे ही अपने आप अपने आपसे आपको करले उसे कहते हैं ऐश्वर्य। हमभी सारे काम अपनेमें अपने लिये अपनेसे अपने द्वारा करते हैं इस लिये मेरे कामका नाम ऐश्वर्य है। निज द्रव्यमें जो सत् शुद्ध है वह है ईश्वर, ईश्वरके भावका नाम ऐश्वर्य। स्वयं यह कल्याणमय आत्मा पवित्र है आदर्श है अनन्त सुखमय इसकी प्राकृतिक शक्ति है संयोगाधीन दृष्टि छोड़कर द्रव्यसे देखो मैं और भगवान एक ही बिरादरी का तत्त्व है। परलक्ष्य हटने पर आत्मा अनंतसुखमय हो जाता है।

देखो भैया ! ऐसा परमपवित्र निज आत्मनिधान को भूलकर थोड़े सुखाभास—जो सुखका विकृत अंश है—के लिये वैभाविक सुख के अर्थ परके लक्ष्यसे अपना विनाश कर रहे हो। देखो धर्म आत्माके स्वभाव रूप होता है तभी लोकोंने अपने अपने मतोंका जो धर्मके लक्ष्य से बनने की बात थी—जो जो नाम रखा है वह ऐसा नाम रखा है जो आत्मस्वभावको छूने वाली बातको बतलावे। जैसे जैन—जो कर्मों को जीते सो जिन, उन्होंने जो मार्ग बतलाया सो जैन, जो विषय कषाय कलंकको जीतने का मार्ग है सो जैन। वैष्णव—विष्णु नाम है ज्ञान का, जो व्यापक है, उस विष्णु तत्त्वकी बातको जो माने सो वैष्णव।

आत्माके तत्त्वको बतावे वह धर्म है उसमय जो हो सो भगवान, आत्मा यह वैष्णव। मुसलमान-मुसल्ले ईमान—जो अपने ईमानपर कायम रहे सो मुसलमान आत्माका ईमान सत्य क्या है? ज्ञान स्वभाव व उसमें रहनेकी स्थिति उसमें दृढ़ रहना, यह शब्द कहता है। पारसी-पार्श्वी-पारस -पार्श्व कहते हैं समीपको, जो समीपवाले की आत्माकी आराधना करे सो पारसी। संस्कृत में पार्श्व नाम समीप का है। इस पारसकी बातको माने अपने अन्दरकी बात देखे जाने उसका नाम पारसी। हिन्दू—हिं-दू—जो हिंसासे दूर रहे सो हिन्दू हिंसासे दूर रहना अथवा विशुद्ध ज्ञान स्वभावमें समवस्थित होना, विधि व प्रतिषेधमुखेन एक ही आत्मतत्त्वका बोधक है। ऐसे हीं धर्मकी किसी भी भूमिकामें वे शब्द रखे जाते जो कि धर्मकी बातको प्रकट करे।

निजधर्म करि विशिष्ट यह आत्मस्वरूप भगवान—इस भगवान आत्माके एक क्षेत्रावगाही समस्त आवरणों का क्षय होते ही उस ही क्षण सांसारिक ज्ञानकी उत्पत्तिमें जबर्दस्त कारणरूप बनी रहनेवाली इन्द्रियां से रहित अतीन्द्रिय परम केवल ज्ञानमय हो जाता है। ये इन्द्रियां इन अस्पष्ट अनर्थ व्यर्थ आदि अनेकविध बोधके उत्पन्न करनेमें आवश्यक कारण हमारे बेहोशपनसे बन रही हैं जो कैसी इन्द्रियां है कि परिमित विषयको ही ग्रहण करे। उन इन्द्रिय रूप आपदासे मुक्त अतीन्द्रियज्ञान है। यह जिसके प्रगट हुआ उसके कुछ परोक्ष नहीं है। इन्द्रियज्ञानमें ही सारी कैद है इस विषयमें एक दृष्टान्त है—एक मनुष्य अपने ४-५ गामोंको जाने वाला था कि विशिष्ट अधिकारी ने हुक्म दिया कि तुम एक दिनमें एक ही गाँव जावो और इन ५ प्रतिष्ठित लोगोंके ही साथ जा सकोगे। इस दृष्टान्त का प्रयोजन इतना ही है कि देखो, उसको अपने काम करनेमें कितनी पराधीनता आई। इसी तरह इस पर्याय मूढ, वाह्यमूढ आत्माको ज्ञानमें कितनी परतन्त्रता है कि बन्धन कह रहा है कि तुम एक बारमें एक ही विषय जानो और अन्तरंग बाह्य अनेक कारणोंकी समग्रता को साथ पाकर ही जानो। सो देखो कैसा!

यह मनुष्यभवगत विशिष्ट भी आत्मा इन पांच ५ इन्द्रियों का आस्रव रखकर ज्ञान पाता है, इसमें भी प्रकाश तन्दुरुस्ती आदि अनेक बाह्य साधन भी अपेक्षित हैं। इतने पर भी वह एक साथ सब विषयों को नहीं ज्ञान पाता है जब सुननेका यत्न है तब देखने आदि का नहीं इसी तरह ५ विषयोंके बावत यही बात है।

इन सब। ज्ञान करने वाला यद्यपि आत्मा ही है तथापि निमित्तदृष्टिसे कथन यह हो रहा है। शब्द रूप गंध रस स्पर्श इनका काम क्रमशः कर्ण चक्षु घ्रान रसना स्पर्शन इंद्रियां कर रही हैं अर्थात् इन विषयोंको क्रम क्रमसे जाननेमें निमित्तस्वरूप काम कर रही है। ये इन्द्रियां एक साथ काम करनेको तैयार नहीं है। जल्दी जल्दी जानते हैं इससे भ्रम हो जाता है कि हम एक साथ कई विषय भोगते। चाहे इसे समझनेकेलिये तैलमें पकी हुई वेशनकी पूरी भी खाकर देख लो अर्थात् खाई हुई का दृष्टान्त लेकर देखलो। सब इन्द्रियां एक साथ ज्ञान करती हुई मालूम होती हैं। ख्याल हो रहा न? नाकसे गंध भी आ रही है, आंखसे उसे देख भी रहे हो, कानसे चुर्र चुर्र आवाज भी आती है, जीभमें स्वाद भी आ रहा है। कड़ी कड़ी भी लग रही है। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है परन्तु वहां भी बात ऐसी नहीं है। उन इन्द्रियोंका विषय उपयोग इतने जल्दी क्रमसे हो रहा है कि उस क्रम का पता नहीं रहता। इन पांचों विषयोंका ज्ञान बिलकुल क्रमसे होता है यह इतना पराधीन हमारा ज्ञान है। हमारी आजादी सारी छीन ली विषय विकारके स्वाद ने। हम जगतमें आशा कर भिखारी रहे आये। परका लक्ष्य कर करके अपने आपको पतन की ओर लेते गये परन्तु यह भगवान आत्मा इन इन्द्रियोंसे अतीत है ऐसे उपयोगमें ये सारी आपदायें समाप्त हैं। ज्ञान और सुख वहाँ परिपूर्ण है। विषयेच्छुवों को ही यह शंका होती है कि जिनके इन्द्रियां नहीं होती उनके ज्ञान और सुख कैसे होगा। किन्तु भाई इन्द्रियां ही ऐसे अवगुण मूलक हैं कि जिनकी लपलपीके कारण ही हमारा ज्ञान सुख स्वच्छ पूर्ण प्रकट नहीं हो पाता।

इन्द्रियों से जो अतीत हैं–दूर हैं उनके वह जानना नहीं मिट गया जो इन्द्रियाधीन दशाओंमें जानते थे, मात्र रागद्वेष नहीं है तथा उससे अनन्तगुणा और जान रहे हैं इसीसे इन्द्रियोंके व केवल ज्ञानमें जातीयताका भी महान् अन्तर कहागया है। क्योंकि सर्व जानते हुये भी केवलीके वह अनुभव नहीं जो इन्द्रियों के भोगमें मूढ़को आता था। वह परिणाम न रहनेसे विषयस्वादी जन ज्ञान और सुखकी कल्पना तकभी केवलीमें नहीं कर पाता। इस तरह केवली इन्द्रियातीत हैं फिरभी स्पर्शका ज्ञान रसका ज्ञान रूपका ज्ञान शब्दका ज्ञान जैसेकि अनेक द्रव्य गुण पर्यायोंका ज्ञान वैसेही निर्विकल्पतासे सर्वज्ञाके हो ही रहा। अर्थात् सर्वज्ञ अमूर्तसर्व आत्मा अमूर्त धर्म अमूर्त अधर्म अमूर्त आकाश अमूर्त काल मूर्त पुद्गल इनसबके गुण अन्त, इन सबकी अनन्त पर्यायें भूत भविष्य वर्तमान सबको केवली विकल्पन करता हुआ जानरहा हैं कैसे ज्ञान होगया? स्वयंही समस्तरूपसे जैसा पर हैं वैसा अपनेमें ज्ञेयाकार द्वारा परका प्रकाश करताहै व अपना प्रकाश करताहै। यहां परभी हम सबका जो ज्ञानहै जितने विकासको लिये हुयेहैं; इसही शैलीसे जान रहाहै। जैसे पुस्तकका ज्ञान हुआकि यह पुस्तकहै। सो पुस्तक को जानने वालेके यह घबराहट नहीं होती कि जिस ज्ञानमें हमने पुस्तक जानी वह ज्ञान सच्चाहै कि नहीं। यदि वहां असन्तोष हो जाय तो इसका निर्णय करना पड़ेगा। जिस ज्ञानके द्वारा हमने पुस्तकको जाना उस ज्ञानका निर्णय करो तो उसके लिये दूसरा ज्ञान पैदा करो फिर द्वितीयज्ञान भी सच्चाहै कि नहीं इसके निर्णयके अर्थ तृतीय ज्ञान पैदा करो उसकी सच्चाईके लिये चौथा इस तरह एक वस्तुके जाननेके अनगिनते ज्ञानोंका सौदाही करते रहो उन ज्ञानोंका ही झगड़ा नहीं निपट पायगा। परन्तु यहांतो वस्तुस्वभाव कैसा प्राकृतिक अविरोधी हैं? देखो जिस ज्ञानके द्वारा ज्ञात किया कि यह पुस्तकहै उसके ज्ञानका निर्णय स्वयंहै चाहे वह ज्ञाता इन शब्दोंमें नहीं कहेकि मेरा पुस्तकका ज्ञान करने वाला ज्ञान ठीक है तोभी वह समझता हैकि

ज्ञान ठीकहै । यदि किसीने कहाकि पुस्तक नहीं तो यह भी अवश्य कह देता कि मेरा ज्ञान ठीकहै । ज्ञाताको दोनों जगहकी दृढ़ताका निर्णय एक ज्ञानपरिणतिमें है जिस ज्ञानके द्वारा जाना वहभी ठीक और जिस वस्तुको जाना वह भी ठीक, अत: अथवा यत: ज्ञान स्वपरप्रकाशक है ।

जैसे दर्पणका यह स्वभावहै कि अपने आपकी भी झलकहै और प्रतिबिम्ब का भी झलक रख रहा । तात्पर्य–जैसे दर्पणमें ये दोनों चीजेंहै कि अपनी झलकभी रखताहै और बाह्यकी झलक भी रखता इसी तरह ज्ञानमें भी स्वतन्त्रता है कि अपना प्रकाश भी रखता है और परका प्रकाश भी करता है । ऐसा ज्ञान स्वभावत: व्यापक है । केवलीके केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद कोई शक्ति ऐसी नहीं हैकि जो उसे ढक सके । केवल ज्ञान जैसी सर्वज्ञता–यदि यह केवलज्ञान विकसित है तो ज्ञानावरण आदि कोई वर्ग उसका आवरण करनेमें समर्थ नहीं ।

कल एक प्रश्न आया था कि वह ज्ञान स्वभाव क्या है जो कि सामान्य स्वरूप है जिसकी केवलज्ञान मतिज्ञानादि अवस्थामात्र हैं । अच्छा ! देखो यह अंगुली है इस समय सीधी है अब अर्ध वक्र हुई है अब टेढ़ी हुई अब मुट्ठी में बना दी गई । सारी दशा इसमें होती हैं परन्तु जिसकी यह सारी दशायें होती हैं ऐसी यह एक दृष्टान्ताभिमत ध्रुव हर दशामें एक है, हर दशाओंमें अंगुलि सामान्यपर दृष्टि डालकर देखो जिसकी ये दशायें हो रही हैं वह एकरूप बुद्धिमें मालूम पड़ती है । इसी तरह से जिस ज्ञानस्वभाव की ये सारी तरङ्ग चल रही हैं मिथ्यात्वमें मिथ्याज्ञान सम्यक्त्व में सम्यग्ज्ञान, मति श्रुत आदि, देखो इन सारी तरंगोंमें अनादिसे रहा हुआ जो अनन्त-काल तक भी रहेगा वह ज्ञानसामान्य है । जैसे प्रत्येक पर्यायमें वही वही एक द्रव्य है, द्रव्य अभेद विवक्षासे गुण भेद विवक्षासे है । अच्छी तरह से सोचलें कोई पर्याय है वह किसीकी अवस्था ही तो है जब वह अवस्था न रहा तो उसकी दूसरी अवस्था होगई ऐसे सर्व अवस्थावों का अधिष्ठान तो एक ही है । जब जिन व्यक्तियोंमें उसका विकास

होता है तब यह कहा जाता है कि इसकी पर्यायका विकास है। ज्ञानसामान्यमें शक्ति विकासका प्रश्न ही नहीं। यदि मानों सर्व पर्यायोंमें अनुगत जो एक तत्त्व है वह शक्तिरूप है तो इसकी एक विवक्षित पर्यायकी शक्तिरूप ही ज्ञानसामान्य नहीं होना या कहेंगे कि सर्वपर्याय की शक्ति, तो सर्व पर्यायकी शक्तियां क्या हैं वह तो एक शक्तिमय है अतः शक्तिसामान्य यहलो। वस्तुतः शक्ति रूप भेद तथा उसके विकासका भेद मिटाकर सब पर्यायमें अनुगत जिसकी यह तरङ्ग चल रही है वह तत्त्व देखो। जैसा यहां अंगुलीमें स्थिर या वक्र आदि देखने में जो अच्छी तरह से आये यद्यपि उनसे अतिरिक्त नेत्रने हमें कुछ नहीं दीखता तो भी उसे न देखो ज्ञान नेत्रसे जिसकी ये सब अवस्थायें हैं उस अंगुलिमात्रको निरखो। उसके निरखनेमें जरा कठिनता है आपको डरसा भी लगेगा कहीं समाप्ति प्रलयकी बात तो नहीं होजायगी। ऐसी अंगुलि हम आपसे कहेंगे कि टेढ़ी न देखो न सीधी केवल अंगुली देखो तो कठिनाई होगी फिर आप कहेंगे कैसे देखें? तो ज्ञानसे ही यह समझजावे जब टेढ़ी थी तब सत् अब सीधी है तब भी वह सत्—वही अंगुलि, अन्तरसे देखो। जैसा यहां अंगुलिका दृष्टान्तमात्र लियाहै वैसे तो अंगुलि भी पर्याय ही है। इसी तरह ज्ञानको पर्याय दृष्टि न डालकर देखो अर्थात् जिसकी अवस्था है वह है पर्याय।

आचार्य देव का कहना है कि जीवके संसारमें भ्रमते भ्रमते परपदार्थोंका लक्ष्य करके अनन्त भव गुजर गये परन्तु इस अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावका दर्शन नहीं किया। वैभव पर है, दूसरे आत्मा पर हैं, जिस शरीरमें अधिष्ठित है वह पर है। परका क्या सुधार बिगाड़ करेगा? द्रव्यकर्मका भी तू सुधार बिगाड़ करने वाला नहीं। उनकी संयोगाधीन दृष्टि कोछोड़। वस्तुस्वरूप को देख। अच्छा और परीक्षा कर द्रव्य कर्मको निमित्त पाकर जो रागद्वेषादि विकृत तरङ्ग होती है वह भी पर है कदाचित् आवरणके क्षयोपशमवश

जो आत्मा में अल्प अल्प, अपूर्व ज्ञान प्रकट होतेहैं ऐसा ज्ञानविकास भी पर है क्योंकि नू तो ध्रुव है। इन सब परद्रव्य परभावोंमे अतीत भी ज्ञानका पूर्ण विकास शुद्ध तरङ्ग, अहो यह भी मैं नहीं—आत्मस्वभाव नहीं यह तो सादि पर्याय है। तब सब भेदोंसे अतीत सब पर्यायों में रहता रहने वाला जो ज्ञानसामन्य है जो दिखता तो नहीं परन्तु प्रज्ञासे ग्रहण किया जाता है उसे अनुभूत करो। धर्म के नाम पर अनेक लड़ाइयां या व्यायाम करते हो करलो परन्तु जिसके अन्तरमें शुद्ध ज्ञानभावका लक्ष्यमात्र भी नहीं हुआ तो कुछ भी कष्ट सहलो कोई त्याग नहीं किया उल्टा विकल्पका परिग्रह ही रखा। हां विकल्पोंकी जातिमें भेद दृष्टिसे अन्तर हुआ, मोक्षमार्ग नहीं हुआ।)

निज अन्तरमें इस ज्ञानस्वभाव को देखो यह धर्मकी मूर्ति यहीं विराजमान है यह आत्मा ही धर्मरूप है। भगवानकी पूजा तो अपने पाप मिटानेकेलिये है, भगवान्के स्वरूपका दर्शन अपने दुःखको मिटाने केलिये है। कहीं भगवान अपने रिश्तेदार या कुटुम्बी नहीं है जैसे कि यहां लोग कहा करते दादा बाबा आदि तो हमारे भगवान् दादा आदि कोई नही। वह तो साक्षी ज्ञाता द्रष्टा शुद्ध परमात्मा है हम भी वैसे ही द्रव्य हैं। कोई हमारा ऐसा ठेका नहीं कि हम उसकी पूजा करते रहें और वे पुजते रहें! किन्तु है क्या? कहते हैं—भगवान्! जितने भव्य जीव आपकी शरणमें आते हैं वे आपके स्नेहसे नहीं आते क्योंकि यदि स्नेहसे आवे, स्नेहके लिये आवे तो घरके पुत्रादिने क्या बिगाड़ा? वे सब ज्ञानी स्नेहसे आपके पास नहीं आते—आपकी जो पूजा वंदना आदि करते हैं वे भव्य जीव आपके स्नेहसे या स्नेहके लिये नहीं करते, तो भगवान् मानो पूछते हैं कि फिर आते ही क्यों हैं? हमसें स्नेह नहीं तो आते क्यों हो? तो भगवान् हमको निरुत्तर नहीं कर सकते क्योंकि भगवान् के शासनका ही शिष्य हूं। हे भगवान्! आपकी शरण में आनेका कारण एक है वह क्या है? यह सारा संसार दुःखोंसे भरा है इस संसाररूपी दावानलमें जल रहे हैं लोग। ऐसे इस दुःखसे

विह्वल होकर संसारसे भयभीत होकर उनको कोई सहारा नहीं दीखता इस दुःखसे बचनेके वास्ते। इसलिये भगवान जब कोई सहारा ही नहीं मिलता—दीखता इस ज्ञानी अवशिष्ट दुःखी को तो वह आपके गुण स्मरण रूप छायामें आ ही जाता और वह करता भी कुछ शांति का अनुभव।

जैसे कि कोई नंगे पैर नंगे सिर दोपहरीकी ग्रीष्म धूपमें किसी सड़क पर किसी गामकी यात्राके निमित्त जा रहा हो। तब उसका स्थितिको विचारो—पैर जल रहे हैं सिर भी जल रहा है कड़ी धूप भी लग रही है तथा रास्तेमें उस धूपको बर्दाश्त न कर सकने के कारण उपायकी खोजमें भी चित्त व्यायाम कर रहा है। उसे पासमें एक वृक्ष मिल गया तो वृक्षके नीचे छाया में पहुंच गया। वहां कुछ समय ठहर गया। उसके भावको देखो क्या वह वृक्षके प्रेमसे वृक्षके नीचे गया? वृक्षके प्रेमसे नहीं गया क्योंकि थोड़ी देर बाद ही वृक्षको छोड़ देने की मनमें है और छोड़ेगा भी ऐसा कि फिर पीछे मुड़कर देखेगा भी नहीं वृक्षको। फिर क्यों गया? वह यात्री कड़ाके की गर्मीको न सह सकने के कारण सहायमात्र—आश्रयमात्र देखता था। अन्य कोई सहारा तो दीखा नहीं संतापको मिटानेका। यह ही दिखा सो वृक्षके नीचे छाया में पहुंच गया। उसने शांति भी कुछ पाई। देखो भैया यह छाया भी उस ही पुरुष की अवस्था है जो उस पुरुषपर है उसमें वृक्ष निमित्त-मात्र है। हाँ तो इस स्थितिमें आया वह। यदि वह वृक्षकी छायामें वृक्षके प्रेमसे गया होता तो वृक्षके नीचे ही उसे बैठे रहना चाहिये परन्तु २-३ घन्टे व्यतीत होते ही गर्मी कम होनेपर वृक्षको छोड़कर आगे बढ़ जाता है। इसी प्रकार गतिके वैभाविक दुःखोंको न सह सकनेवाले और आत्माके ज्ञान स्वभावको देख लेनेवाले जो ज्ञानी हैं उन्हें यह बड़ी विपदा मालूम होती है। विषय कषायोंमें संताप ही प्रतीत होता है। यह रागद्वेषके भावोंमें लगनेका साधन है इसका फल दुःख ही है, उन्हें ये बड़े बड़े वैभव दुःख मालूम हो रहे हैं उनमें यह नहीं फंसना

चाहता और विपदायें तो दुःख हैं ही। वह संसार-विभावके दुःखसे संतप्त है, अतः शांति केलिये ही उद्योग करता है सो उसे मात्र शान्त आत्माके अतिरिक्त कहीं शांतिका स्वरूप भी नजर नहीं आता। अतः शांत शुद्ध आत्माके गुणस्मरण रूप छायामें विश्राम करता है।

देखो भैया ! यह गुणस्मरण रूप अवस्था उसही भव्यकी है उस में आश्रयमात्र परमात्मा है। हां तो इस स्थितिमें आया वह। इस प्रकार ज्ञानी भगवान् की शरणको प्राप्त होते हैं। घरका सहारा लो वहां भी कोई तत्त्व नहीं दीखता तो छोड़ो नेहको। किसका सहारा लूं ? मित्रका लो, राजाका लो कहीं भी इसे सहारा नजर नहीं आता। तो जैसे अपने ज्ञान स्वभाव से देखा ऐसा ज्ञान स्वभाव जिनमें प्रकट हो गया उस स्वरूपके स्मरण करने रूप छायाका उसे सहारा हो जाता है हे भगवन्! यदि स्नेहसे भव्य जन आपके पास आये होते उन्हें भगवानका स्मरण ही सदाही करते रहना चाहिये था, उन्हींके पास सदा बना रहना चाहिये था अनन्तकाल तक माथा ही रगड़ते रहना चाहिये था परन्तु ज्ञानके स्वभाव से सोचना—जरा कर्म शाँत हुए शुद्धोपयोग का मार्ग मिला शुद्धतत्त्व के लक्ष्यको बनाने की प्रक्रिया पर निर्विकल्प ध्यान होगया तब उस भक्तिरूप वृक्षको छोड़कर निर्विकल्प तत्त्वमें समा जाते हैं। यदि भगवानके स्नेहसे भगवानकी पूजा की होती तो अनन्तकाल इस तरह जैसा पड़े रहनेकी भावना करते ? नहीं करते। जबही विकल्पका दुःख आत्मामें आता है तो भगवानके स्मरणकी छायामें पहुंचते और जहां विकल्पकी गर्मी कम हुई तो गुणस्मरण रूप छायाको छोड़कर निर्विकल्प स्वरूप में स्थित होजाते। देखो भैया गुणस्मरणरूप छाया उसही भक्त पुरुषकी है उसमें परमात्मा तो विषयमात्र निमित्त है। तत्त्वस्वरूपको ठीक निरखना चाहिये। भगवानने जो कहा वही कहा जा रहा है।

आत्मसम्बोधनमें मेरे एक कल्पना हुई जो अब आत्मसम्बोधन के भक्तिप्रकरण में निबद्ध है कि हे नाथ मैंने अपना सर्व भविष्य

आपको सौंप दिया मुझे अब क्या परवाह ? हाँ यदि मेरा पर्याय अशुद्ध झलका हो तो यह आपकी अशुद्धता मिट जावे। क्या मतलब ? भगवान् अशुद्ध नहीं परन्तु भगवान्के ज्ञान में, हम यह सोचते हैं कि यह अशुद्ध पदार्थ ज्ञेयाकार से पड़ा है तो वह झलक अशुद्ध तो उनके ज्ञानमें आगया। तब देखो—अपने निमित्तसे भगवानको हम किस स्थितिमें छोड़ रहे हैं। जहां यह अशुद्ध झलक है, झलकसे आगे की बात नहीं सोचना, सिर्फ उस दृष्टि की बात जो भगवानके ज्ञानको ऐसी ज्ञानपर्याय रखना होरही है। मैं तो बड़ेका सहारा पाकर निश्चिन्त हूं अब तो कुछ कह लो तो यह व्यथा है कि मेरे निमित्त भगवान्के ज्ञानमें इस प्रकार अशुद्धता न रहे। मेरे विषयक अशुद्ध ज्ञेय भगवानमें न झलके, इसका मतलब तो सही ही हो गया। यह भगवान्की भक्ति है। कहीं अशुद्ध पर्याय विषयक-अशुद्धज्ञेय भगवान्के ज्ञानमें झलकता रहे तो केवली भगवान्के हमारे जैसी बात नहीं होती। हमारा जैसा अनुराग उन्हें नहीं छूता। फिर भी भक्त की भक्ति है। मानो ऐसी बात हो हमें तो भगवान् तुम्हारे भलेके वास्ते अनुराग रहा। जो ज्ञाताके स्वभाव में प्राप्त है भगवान् में ऐसा अनन्य हो जाता है उसके लिये सारी बातें साफ हो जाती हैं। यों तो मेरी अशुद्ध पर्याय मिटने पर भी भगवान् के ज्ञानमें तो वह झलकती ही रहेगी क्योंकि ये वर्तमान मात्रको ही जाने ऐसा नहीं है और न ऐसा भी है कि केवली यह छांटनेका रोजगार करते रहें कि यह भूतमें पर्याय चली गई अब यह वर्तमानमें आगई, आदि फिर भी जिस क्रमसे पर्याय हैं उस क्रमसे व्यवस्थित पर्यायोंको जानते हैं।

हाँ तो ऐसा जो भगवान् आत्मा शुद्ध व स्वच्छ ... जिनके लगा तार सदृश ज्ञान तरंग शुद्ध प्रकट हो गये ऐसे उस आत्माके ऐसी उस ज्ञानपर्यायमें यह समस्त त्रिलोकवर्ती त्रैकालिक ज्ञेय एक साथ प्रकट प्रकाशमान होते हैं क्योंकि ज्ञान स्वच्छ है। स्वभाव, कार्य विना खाली नहीं रहता। सन्दूक में दर्पण रखा है तो यहाँ ही जो सामने है उसे

झलकाता, बाहर निकालकर रखो तो ये सब पदार्थ एकदम झलक रूप हमला कर देते हैं। इसी कुछ प्रकार से ज्ञानमें देखो ज्ञान पर आवरण हो तो भी यह ज्ञान कुछ जानता और जब निरावरण हो जाता, तब वहाँ विश्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव सर्व रूपसे ज्ञेय हो जाता है। कहीं पदार्थ ऐसा हमला नहीं करते हैं कि अपना कुछ खो बैठे और दूसरे में कुछ घटा देवें। परन्तु देखो तो जितना नाटक यहां हो रहा है वहां भी झलक रहा है मानो उस सारे विश्व की स्थिति दोनों जगह हो गई। तथा जैसे एक साथ ज्ञानमें द्रव्य ज्ञेय होताहै वैसे क्षेत्र काल भाव भी। इसलिये जगत्का कोई भी तत्त्व उनके लिये परोक्ष नहीं रहता। यहां ज्ञानका स्वभाव बतलाया कि भक्ति चलही रहीहै जिसमें ज्ञानका स्वरूप बताया जारहाहै कि स्वरूप ऐसा है वहां लक्ष्य होरहाहै। इस ज्ञानके अन्दर जगत् का जो न आये वह कोईरूपसे नहीं होता अर्थात् असत् है कैसा ऐश्वर्य है मानो कहा जारहाहो कि जो इस ज्ञानके दरबारमें न आवेगा उसकी सत्ता नहीं रहेगी। जैसे कि यहां ऐसा कहा जाय कि जो राजदरबारमें न आवेगा उसके घरबार सबको नष्ट भ्रष्ट कर दिया जायगा ऐसा राजका हुकुम हो तब वैसा ही यहां स्वाभाविक हुकम है कि जो सर्वज्ञके ज्ञानमें न आया उसकी सत्ता नहीं। जिनको अपनी सत्ता रखनी हो वे ज्ञान में पहुंचे। न कोई पहुंचनेवाला और न कोई पहुंचानेवाला। वहांकी परिस्थिति जाननेके लिये चीज मात्र है।

भगवानके ज्ञानमें, जो भी सत् है पर्यायमें था है होगा सब ज्ञेय है। इस प्रकारका लगातार ज्ञानतरंग होता रहता है ऐसे शुद्ध आत्माके कोईभी परोक्ष नहीं रहता। कहां तो इन्द्रियजज्ञानी और कहां अतीन्द्रिय स्वभाववाले परमात्मा। कहां तो इन्द्रियोंके संभाले वह और कहां जो अतीन्द्रिय होगये, मात्र शुद्ध तरंगकी संभली संभलाई संभाल जिनके है वह देखो इन दोनोंमें कितना अंतर है? जैसे लोग कहदेते जमीन आसमान बराबर अन्तर। आसमान असमान कहते किसे हैं? जो समान न हो वे वह समान, आसमान जो अपनेमें चारों ओरसे समान होवे वह। इस

तरह इन्द्रिय जज्ञानी वैसे अतीन्द्रियकी बराबरी करे वह तो जमीनकी तरह नीचे है, अतीन्द्रियज्ञानी आसमान है और संसारी विषय है। फिर भी द्रव्य को देखो आसमान है जो भगवान है सो मैं हूं। पर्याय दृष्टि से ही उक्त महान् अन्तर है। जिस भव्यने परसे अपना लक्ष्य हटाया ऐसा आत्मशक्तिमय आत्मा इस द्रव्यसंधि को बनाकर समीप आता है तो वह परमात्मा हो जाता है। जैसे दीपकके पासमें पहुंचा हुआ तैल दीपक बनजाताहै लौके पास पहुंची हुई वत्ती दीपक बनजाती है इसी तरहसे शुद्ध आत्माके गुणके पास पहुंचा हुआ आत्मा शुद्ध बन जाता है और जैसे जंगलके बासोंमें रगड़ पहुंचते ही आग पैदा होजाती है इसी तरह निज शुद्धस्वभाव आत्माकी आराधनासे शुद्धात्मत्व प्रकट होजाती है। समस्त आत्मा और शुद्धपरमात्माके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। व्यक्तिका भेद है। मैं वह हूं जो हैं भगवान। जो मैं हूं वह हैं भगवान आप तो अपने स्वरूप का निर्णय करो भैया। और भगवानके स्वरूपके निर्णयकी व्यवस्था कीजिये यह ज्ञानी जीव की कला है।

अपने आपका जिसने निर्णय नहीं किया आपने आपको जिसने नही समझा कितना ही बाह्यक्षेत्रमें परमात्मामें देखे, निजस्वरूप समझने में न आ पावेगा। वह तो आपने आपके अनुभवमें दिख पाता। जिसने अपने स्वभावको न देखा अपने स्वरूपका जिसने अनुभव नहीं किया वह कितनी ही आंख गड़ाकर परक्षेत्रमें भगवान देखे स्वरूपकी समझ होगी ही नहीं। आपको अपना स्वरूप समझमें आया तब भगवानका स्वरूप समझमें आया। तब हृदय बोलता है आत्माका प्रतिनिधि बन कर मैं वह हूँ जो हैं भगवान जा मैं हूं वह हैं भगवान। यहाँ विनय रखा है कि पहिले भगवानसे अपनी उपमा की फिर अपने स्वभावसे भगवानकी उपमा की।

फिर अन्तर यहीं ऊपरी जान वे विराग यह राग वितरन। अन्तर यहां वही है जो कि ऊपरी है। ऊपरी क्यों है तो देखो भैया। २१ वीं गाथाकी पंक्ति परसीं पढ़ी थी उसमें तो ज्ञान स्वभावके ऊपर

केवलज्ञान जैसी शुद्ध पर्यायका प्रवेश बतलाया। कहा था कि अनादि अनंत अहेतुक ज्ञानस्वभावको कारणरूपसे स्वीकार करके उसपर प्रवेश करनेवाले केवलज्ञान उपयोगरूप होकर आत्मा स्वयं परिणमता है उस ज्ञान स्वभावके ऊपर प्रवेशकरते हुए केवलज्ञानको बताया। फिर जहां ज्ञान स्वभावके अनुरूप होने वाली पर्यायके विषयमें भी स्वरूप की दृष्टिसे स्वभावपर प्रवेश ही कहा वहां आत्मामें यह राग अन्तरमें ही हो जायगा क्या? स्वरूपकी चीज हो जायगी क्या? स्वरूपकी वस्तु बन जायगी क्या? नहीं। अन्तर यही ऊपरी जान। ज्ञान सामान्य स्वभावके भीतरमें यह बात नहीं है इसलिये ऊपरी अन्तर है। क्या अन्तर है? वे विराग यह रागवितान शब्दका भाव यह है मैं रागी नहीं हूं किन्तु यहाँ राग का फैलाव है यह स्वभावसे रागवितान नहीं है। किन्तु यह जो आत्मा है इन प्रदेशोंमें वर्तमान रागका प्रसार है। विशेषतया आत्मामें ज्ञानस्वभाव श्रद्धास्वभाव चरित्र स्वभाव आदि अनन्त शक्ति हैं सामान्यतया सर्व ज्ञानद्वारा अनुभूत होनेसे ज्ञानस्वभाव है तब जैसे ज्ञानशक्तिके ऊपर ज्ञानतरंगका प्रवेश है वैसे उसही आधार में चारित्रगुणके ऊपर वह राग प्रसार है।

अब अभेद दृष्टिसे देखो चारित्र भी आत्मा ही है तब द्रव्यकी ओरसे कहा गया कि इस आत्मापर रागवितान है। ऐसा मानो कि मैं हूं। परिणमना हूं और प्रत्येक वर्तमान क्षणमात्रमें एक ही तरंग हूं जिसकी तरंग यह तो मैं-सामान्य स्वरूप है और जो तरंग है वह व्यतिरेकी अन्य रही। तब जैसे एक मकान वह तो वहां ही है परन्तु आदमी आये और गये। एक दृष्टि कारणसे इसी तरह यह आत्मा सामान्य है और इसमें क्रोध आदि राग द्वेष आदि आये और गये, आये व गये। इसलिये यह रागवितान कहा है। परन्तु यह राग वितान इतना ही ऊपरी है यदि राग स्वभावके भीतर आये तो फिर विरागता ही नहीं हो कभी स्वभावमें औपाधिक भाव न आजाये ऐसी ही द्रव्यकी द्रव्यता है। जड़वत् होगया। इसलिये भगवानके स्वरूपका स्मरण करनेवाला भेद-

विज्ञानी व अभेदविज्ञानी अपने स्वरूपको और अपने भगवानके स्वरूप की ओर दृष्टि करता हुआ भगवानसे अलग ही स्वमें आनन्द लिये हुए हैं। प्रत्येक जीव अपनी मानीहुई स्थितिमें आनन्द पाते हैं जो स्वाभाविक स्थिति का अपनी समझे वह ज्ञानी है व सहज आनन्द पाता है और जो वैभाविक स्थितिको अपनी समझे वह अज्ञानी है और आकुलतामय सान्त आनन्द मानता है। यों तो लोक में भी कहा करते कोई कहता दधि मधुर है, कोई कहता शक्कर मधुर है कोई कहता दाख मधुर है जिसका जहां मन लगा वह उसको मधुर है। वस्तुतः सहजज्ञान का संवेदन ही मधुर है! वाह्य भ्रमात्मक मधुरता तो विषय प्रसंगकी वात है अतः जिसका जिस विषयमें मन लग गया उसको वही मीठा है। परन्तु ज्ञानकी वात तो निरपेक्ष है। जिसका भगवत्स्वरूपमें मन लग गया उसे भगवत्स्मरण ही मधुर है। इस मधुर स्थितिमें सत्यमधुर का निर्णय करलो यह अकेले का ही काम है निरपेक्ष काम है। भगवद्गुणस्मरण निजशुद्धात्मचिन्तत रूप आनंद होता यह अकेले मेरा ही काम है। परिणमन है। इनमें पुत्रमित्रादि कोई साथ नही देसकते।)

यह सहजपरिणमन अंतरंग वाह्य सर्वत्र एकका ही काम है। पर का इसमें भार नहीं। परन्तु जगतके जितने भी सुखविकार भार रखते हैं। इतने साधन चाहे ऐसी इन्द्रियां चाहे ऐसा लोक चाहे अनेक प्रकार की वहां परतन्त्रता हैं। फिर भी मिटताहै और अकुलता रखताहै। यदि विषयसुखसाधनप्रयोग सदा मनचाहे रहते होते किन्चित् भी अन्तर न आता न दैहिक मानसिक आदि दुर्वलतायेंनआतीं तो ऐसी प्ररूपणा होसकतीहै कि आत्माका धर्म व सुखमार्ग विषयसेवन है। ऐसा कहना संकोच का भी काम न था क्योंकि आचार्यदेवको तो प्रयोजन यह है कि किसी प्रकार प्राणी शाश्वत सुखी होजाय यदि संसारमें विषय सुख साधन आदि शाश्वत रहे एकरूपमें रहे निरंतर वना रहे शक्तिकी प्रवलता बनाये रहे पूर्व आनन्द रखे रहे तो लो ऐसा ही करना धर्म है क्या हर्ज था। परन्तु विषय सुख तो क्षणिक है पराधीन है वहां सुखका नाम भी

नहीं विषयाभिलाप विषयानंद अधर्म ही है। इसलिये जगत के ये पदार्थ जिनको आश्रय बना कर मोह नाचता है जरा विचार करो. कुछ इष्टसे लगने हों उनमें न दौड़ो, अपनी शांतिके मार्गका निर्णय करो। देखो, अहो परकी इच्छामें ही सारा ज्ञान खो दिया अपना स्वरूप बिगाड़ लिया। अपने आपके स्वरूपका निर्णय करो अधिक समय लगावो। विचारमें-इसका निरपेक्ष स्वयंका भाव क्या है? अपने चरित्रकेलिये पथगमनकेलिये अपने निरपेक्ष स्वरूपका निर्णय करो अपने ज्ञातृस्वभाव को पहिचानो। इसके पहिचानने के अनन्तर ही यह बुद्धि जागेगी कि कि यहां मेरा ज्ञानस्वभाव विकसित होगा। नहीं तो जगतके जितने भी पदार्थ हैं यदि उनमें राग हो तो ज्ञान न जागेगा। कोई कहे कि परिवार को ठीक करके सन्यास लूंगा तो यह बहानामात्र है जो इनमें बोलताहै लगताहै वह फसताही जाताहै। अतः भैया सर्व उपद्रवोंसे बुद्धि हटावो परमात्मस्वरूपको देखो। विशुद्ध दर्शनज्ञानस्वभावी निज परमात्मद्रव्यमें रुचि करो, स्थिर होओ।

अब उस आत्माके प्रमाण आदिके विषयमें वर्णन करते हैं आत्मा ज्ञान प्रमाणहै और ज्ञान सर्वगत है इसप्रकार ज्ञानकी सर्वगतता सिद्ध करते हैं। ज्ञानकी दृष्टिमें आत्माको देखनेपर निर्विकल्पकताका मार्ग मिलताहै। आत्मामें रहनेवाले अन्य गुणोंकी दृष्टिमें नहीं। निर्विकल्पता ध्यान का जहां वर्णन किया गया व स्वरूपाचरण चारित्रका जहां वर्णन किया गया वहां यह बात स्पष्ट कहीगई है कियहस्थिति वहहै जहां ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय वही एक है अथवा जहां ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयमें कोई भेदनहीं रहता जिस ज्ञानने ज्ञानकी स्थितिको ही जाननेका काम किया उस ज्ञानका ज्ञेय वही ज्ञान होजाताहै। इसके लिये ज्ञप्ति क्रियामें स्थिति जैसे आत्माका ध्यान. हो वहां निर्विकल्पकताका मार्ग मिलता ही है। यही कारण है कि आत्मामें अनन्त गुण होनेपर भी ज्ञानका वर्णन शास्त्रोंमें अधिकतया मिलता एवं वही असाधरण लक्षण कहागया है। मानों मालूम होता है कि ज्ञानकी सिद्धि के ही वास्ते अन्य गुण है,

आत्मद्रव्य एक चैतन्यपुञ्ज है उस चैतन्य गुणकी सेवा में हों मानों अनन्तगुण हैं। वे अनन्त गुण आत्माकी सिद्धिकेलिये हैं मानो इसपद्धति से उन अनन्त गुणोंका समूह एक आत्मा है और आत्मा ज्ञान स्वभाव है। इसकारणसे अनन्तज्ञानका प्रयोजन ज्ञानस्वभावी आत्माकी सिद्धि है इसलिये ज्ञानकी दृष्टिमें आत्माको देखा जा रहा है कि आत्मा कितना बड़ा है? आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान कितना बड़ा है? ज्ञान सर्वव्यापक है। इस बातके उद्योतयंति अर्थात् प्रकाशित करते हैं। चमकाते हैं, तात्पर्य—कहतेहैं। उद्योतन करना तभी बनता है जब यह बात निज गुणके प्रकाशमें दृष्ट हो और बाह्य का भी प्रकाश देखा जा रहा हो। इस बातके वर्णनका प्रकाश करना वह जिस आत्मामें लक्ष्यहै उसी तरहका जिनको अनुभव है उनके कहने का नाम उद्योतन करना है। देखो जैसे कहनेके अनेक शब्द हैं—कहता है बोलता है बकता है भाषण करता है व्याख्या करताहै हुवाता है आलोचना करता है उद्योतन करता है आदि पर इन सबमें सूक्ष्मभाव एक नहीं है। इनके अर्थ अनेक हैं जैसे-बकता है-निःसार कहता है, सुननेवाले सावने हो तो कहा जाता बोलताहै, भाषण करता है-स्पष्ट करके बोलता है, व्याख्या करता है कोई एक विषयके आश्रयमें विवरण करनाहै, आलोचना करता है, गुण दोष दृष्टियोंके स्वरूप रखता है, आद आदि। यहां उद्योतयति शब्द है, उद्योतयतिका अर्थ है प्रकाश करता है ऐसे कहनेका नाम जिसमें कुछ भी अनुभव करताहै और वर्णन करताहै! तब यहां आत्म जो है ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है इसप्रकारका वर्णन करते हैं—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है, ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है। इस लिये ज्ञान भी सर्वगत है। आत्मा गुणपर्यायके सम है ऐसा कहा

तब आत्मा ही क्या सर्व ही द्रव्य प्रत्येक अपने अपने गुणपर्याय के बराबर है। जितने गुण हैं जितने पर्यायें हैं उन सबका जो समूह है वह द्रव्य है। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि तब क्या द्रव्य एक समय में नहीं होता? एक समय में द्रव्य है परन्तु द्रव्य कितना होता कब से रहता? कब तक रहता इन सब बातों का स्पष्टी करण करने वाला उक्त परिभाषण है जितनीपर्यायें हैं उनका समुदाय द्रव्य है। परन्तु प्रति वर्तमान में जो सामान्य रूपसे रह रहा वह द्रव्य नहीं है इसका खंडन नहीं है। किन्तु यह द्रव्य वर्तमानमात्र ही न रह जाय आगे रहने वाला है अनादिसे रहने वाला है यह बात इसके रहती ही है इसलिये अनंतपर्याय जितना है वह एक द्रव्य है वह अनंतगुणोंका समुदाय एक द्रव्य है द्रव्य खंड रूप नहीं है कभी पैदा हो कभी नष्ट हो जाय ऐसी भी व्यंवस्था नहीं है। इसी हेतु यह सिद्ध है प्राकृतिक है कि द्रव्य गुण पर्याय के समान है।

अब कोई दृष्टि बना कर आमका दृष्टान्त लो उसे रूपकी दृष्टिसे देखो तो आम रूपमात्र है यह रूपमुखेन वर्णन है। तब आम रूपप्रमाण है। उसे सूंघें तो ज्ञान तो आपको आमका ही होगा किन्तु गंधमुखेन होता है वहां आम गंध प्रमाण है। इस तरह जब रसनेन्द्रिय द्वारा उसका अनुभव होगा जहाँ आमके स्वाद रस का ही बोध है वहाँ आम तो जाना परन्तु वह आम रस प्रमाण है ऐसा अनुभव रहा। जिस समय आप अंधेरेमें आमको टटोल कर परीक्षण करते हैं तब आपको आम लगेगा इतने आकार वाला ऐसा है वहां आम स्पर्श आकार प्रमाण है जिस गुण की दृष्टि में देखते हैं द्रव्य उस गुणरूप मालूम होता है। इस समय आत्मा अपने प्रधानगुण ज्ञान स्वभाव की दृष्टि से देखा जा रहा है तो आत्मा ज्ञानप्रमाण है। आत्मा को प्रदेश संयुक्त दृष्टि से नहीं देखना नहीं तो यह प्रकरण समझ में नहीं आवेगा कि यह प्रकरण किस बातको सिद्ध करनेके लिये है। प्रदेशों की दृष्टि से न लेकर ज्ञान दृष्टि से आत्मा को देखने के लिये कहा गया है—आत्मा ज्ञानप्रमाण है

यदि यह आत्मा ज्ञान प्रमाणसे कुछ कम मानो तो देखो विडम्बना। ज्ञान तो रहा बड़ा और आत्मा रहा छोटा तो इस आत्मासे बाहरका ज्ञान तो आत्मासे निराधार रहा अर्थात ज्ञान तो रहा बड़ा और आत्मा रहा उससे कम तो आत्मासे बाहरका जितना ज्ञान है वह तो आत्माके आधारसे रहित रहा। जो ज्ञान निराधार है चेतन द्रव्यके संसर्गके नहीं लिये हुए है तो वह नाम का ज्ञान अज्ञान अचेतन हो गया। इसी तरह यदि ज्ञानसे अधिक आत्मा मानो अर्थात आत्मासे कम ज्ञान मानो तो यह विडम्बना देखो! ज्ञान तो रहा छोटा और आत्मा रहा बड़ा -अब ज्ञानसे बाहर का जो आत्मा है वह ज्ञान शून्य रहा और जिसमें ज्ञान नहीं वह आत्मा नहीं तब अधसूखे वृक्ष जैसा केवली हो जायगा कि आधा है हरा आधा है सूखा कि आधा आत्मा ज्ञानवान है और आधा ज्ञान रहित है। जो ज्ञान रहित है उस आत्मा की शुद्धि क्या ? तथा वह तो दो द्रव्य हो गया ? ज. तर्क से बिल्कुल विरुद्ध है इसलिये आत्मा ज्ञान प्रमाण है उसको न जरा कम समझो न ज्यादह समझो ज्ञान से। यह ज्ञान दृष्टि में वर्णन चल रहा है। ज्ञान के साथ न तो आत्मा हीन रूप परिणमता है और न अधिक विस्तार लेकर अतः आत्मा ज्ञान प्रमाण है।

आत्मा तो ज्ञान प्रमाण है परन्तु ज्ञान कितना बड़ा है यह तो बतलाओ, देखो जैसे दो हाथ लम्बी लकड़ी में आग लगी सारी लकड़ी में आग लग रही है कोई पूछे वह आग कितनी बड़ी है तो कहेंगे आग इस लकड़ी के प्रमाण है दो हाथ लम्बी आग है, परन्तु यहां आग का स्वरूप तो देखो, आग का स्वरूप क्या है ? जैसे कि लकड़ीका क्षेत्र है ऐसे इतने क्षेत्र रूप रहना ही क्या आगका स्वरूप है ? जैसे लकड़ी नापी जाती है पकड़ी जाती है वैसे आग का स्वरूप पकड़ा जाता है नापा जाता है क्या ? नहीं, आग का स्वरूप गर्मी गुणरूप है। वह गर्मी कितनी बड़ी है ! क्या गर्मी में क्षेत्र है ? गर्मी तो भाव स्वरूप है गर्मी में लम्बाई नहीं चौड़ाई नहीं न अन्य आकार फिर भी गर्मी ईंधननिष्ठ है।

तब आधारके प्रदेशोंको संयुक्त दृष्टिसे देखकर कहो' तो जितना बड़ा इंधन है उतनी बड़ी आग है। इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयनिष्ट अंतर्ज्ञेयनिष्ठ है। यहां विचार करें-वह ज्ञान क्या है जो जानन रहता है जिसके जानन पन है। वह जानता है ऐसा कहनेमें यह बात आजाती है कुछ कुछ जानता है किसी को जानता है इस तरह जानना तो ज्ञेयको लिये हुए है विषयको लिये हुए है विषयके बिना जाननेके बिना ज्ञान क्या चीज ? वह ज्ञान तो ज्ञेयनिष्ठ मालूम होता है। जैसे आग को इंधन के आधारमें बतलाया जायगा तब व्यपदेश होता आग इतनी बड़ी है। इसी तरह जब ज्ञान गुणसे बतलाया जावेगा तब ज्ञानके लक्ष्य से बताया जायगा कि ज्ञान इतना बड़ा है। तब ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ होने से इंधन में निष्ठ आग के इंधन प्रम एकी तरह ज्ञेयके प्रमाण सिद्ध हुआ अर्थात ज्ञान कितना बड़ा है इस प्रश्न के होने पर यह उत्तर आया कि वह ज्ञेय के बराबर है। ज्ञेय कितना है ? लोक अलोक के विस्तार में फैला हुआ जो अनन्तपर्याय और उसमें अनन्त समस्त द्रव्य जो उत्पाद व्ययध्रौव्यकर सहित है वे सब के ही सब द्रव्य ये ज्ञेय हैं अर्थात् केवली के अनन्त ज्ञान अनंत पर्याय में सब ज्ञेय है अर्थात इतना बड़ा है। जितना ज्ञेय है उतना ज्ञान है। यह ज्ञान भी स्वयं स्वयं के लिये ज्ञेय है ऐसे ऐसे अनंतज्ञानी व उनकी पर्यायें भी प्रत्येक केवलीके ज्ञेयहैं। जब प्रदेशसंयुक्तदृष्टि साथ काम कर रही है ऐसी दृष्टि बनायें तब आत्मा देहाकार प्रमाण है और देहाकार प्रदेशोंमें आत्मा के सर्वगुण हैं। किसी द्रव्य के कोई भी गुण द्रव्यके प्रदेश से बाहर नहीं रह सकता क्यों कि गुणकासमूहमय प्रदेश है गुण ही रूपमें इस मव है जिसे हम प्रदेश कहते हैं ऐसी प्रदेश संयुक्त दृष्टि होनेपर और ज्ञानके स्वरूप लक्षण के कार्य को भी निहार ने पर ऐसा ज्ञात होरा कि यह ज्ञान होता कि यह ज्ञान आत्मा के उन प्रदेशों में रह कर सारी दुनिया को जान रहा है यह है ज्ञान प्रकाशको प्रदेशके साथ देखकर समझने की दृष्टि।

यहां प्रदेश सम्बन्ध की दृष्टि न रखकर ज्ञानके समझने दृष्टि है।

ज्ञान सर्वगत है। जितना ज्ञेय है उतना ज्ञान है। जैसे घटज्ञान घटमात्र घटप्रमाण है तब लोकालोकका ज्ञान लोकालोकमात्र लोकालोकप्रमाण है। फिर भी जो लोग इस बातको समझेहुए है कि ज्ञान आत्मा का गुण है आत्मा असंख्यात प्रदेश है, असंख्यात प्रदेश में ही आत्माके सारे गुण आधारमें रहते हैं इसका विरोध नहीं करता। परन्तु ज्ञानके स्वरूप में तो ज्ञान ही प्रतीत है इस दृष्टि के रखनेपर बीचमें अपेक्षा कहनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी कि यह भाव दृष्टिसे वर्णन कर रहेहैं, अतः इस दृष्टिमें सर्वथा ऐसा समझकर ज्ञानदृष्टिसे निरीक्षण करने वाले ज्ञानियो। अन्यदृष्टि को गौण करके उसकी बीचमें अन्यापेक्षा न लेकर जानने की दृष्टिसे ज्ञानकी दृष्टिसे संवेदन करो, अनुभव करो तो ऐसा अलौकिक अपूर्व समस्त व्यापक आत्मा ज्ञान अनुभव से बाहर न रहेगा। स्याद्वादीके किसी कथनमें संदेह नही होता और जिस समय जो कथन किया जा रहाहै उस कथन में समझमें खूब आगे बढ़नेमें संकोच नहीं होता। यहां ज्ञानदृष्टिसे वर्णन चल रहा है और उस वर्णन में समझमें व्यवहार खतम होते हो तो होने दो। ये तो जब जिसदृष्टि के विषयमें लग रहा उस दृष्टिमें देखेगा। उसके विषयमें उसरूप संवेदन करेगा। ज्ञानी जिस दृष्टिको लेकर चलरहा है उस दृष्टिसे उसके रहस्यको पाता है।

इस हेतु ज्ञानी योगीन्द्र यह कह रहे हैं कि आत्मा तो ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। यह कैसे ? समस्त आवरणके क्षय के समयमें ही लोकालोक में पड़े हुए समस्त वस्तुवोंके आकारके पारको प्रमाण करके वह केवली उस पद-स्थितिसे च्युत नहीं होता। कारण,-वह ज्ञान विपक्षरहित है, सर्वके जाननेरूप रहता है अतः वह ज्ञान सर्वगत है। कमरे को देखनेपर अभी आप भी कहेंगे कि मेरी दृष्टि इससमय सारे कमरेमें चलरही है वह दृष्टि क्या है जो सारे कमरेमें चल रही है ज्ञेयको आश्रयमात्र करके बतारहे हो कि मेरी सारे कमरेमें जा रही हैं उस दृष्टिको ज्ञानके क्षेत्र या आकारसे बताया जारहा है। आप कहतेहैं

कि मेरी दृष्टि तो सारे नगरमें हैं और बैठे हो घरमें। दृष्टि को पहिचानो उस दृष्टि से सचमुच में आपकी दृष्टि सारे नगर में पहुंच गई। वह दृष्टि क्या चीज है? क्या वह पिण्डात्मक मिलेगा? आकारात्मक मिलेगा? नहीं। तव वहां कहेंगे कि वह दृष्टि प्रदेशापेक्षारहित है आकार रहित है फिर ऐसी तो दृष्टि है जो सारे नगर में फैली रहे। यह तो यहाँ की वात वतला रहे। इसी तरह परमार्थ में लगावो, जिनका ज्ञान समस्त लोकालोक में व्याप्त हो गया उस व्यापकज्ञान के चिन्ह व्यक्त करो तो वह स्वयं के क्षेत्र से नहीं वताया जा सकता – आकार रूप में नहीं वताया जा सकता – प्रदेश के आधार की अपेक्षा में नहीं वताया जा सकता— इसलिये यह ज्ञान निराकार है – निराधार है जो ज्ञान सर्व व्यापक है उस ज्ञान स्वरूप से जव आत्मा के स्वरूप को कहें तो उनका भी ज्ञान स्वरूप देखने जानने के कारण सर्वगत है। देखो देखो यहाँ उस आत्मा को भी प्रदेश से भी छोड़ दिया तो वे प्रदेश सिद्ध लोक में व केवलिदशा में देह के आकार प्रमाण हैं ऐसा होते हुए भी ज्ञान भावका वर्णन सोचते चिन्तवन करते करते आत्मा की यह प्रदेश की सीमा ज्ञानी के उपयोगमें खतम हो जाती है। यहाँ भी हम किन किन आधार काल क्षेत्र में वस रहे हैं यह खतम हो जाती है। वहाँ एक अद्वैत ज्ञान अपने आपको प्रतिभासित करता है।

यहाँ यह प्रश्न होता कि जब ज्ञान का ही ऐसा वर्तन करना था तो केवल ज्ञानमय का ही वर्णन कर लेते, ज्ञानके साथ आत्माका वर्णन करनेका क्या प्रयोजन है? इसका समाधान यह है कि जैसे हम इन्द्रियोंके द्वारा एकदम पूर्ण प्रतीत हो ऐसे आम को नहीं जान सकते किन्तु आम में रहने वाले रूप को, रसको, गंधको, स्पर्श को जान सकते हैं। वहाँ केवल रूप आदि को भी नही जानते। वहाँ हम रूपके द्वारा उस पदार्थ को जानते हैं इसी तरह हम ज्ञानकी दृष्टि छोड़कर आत्मा को नहीं जान सकते और आत्माकी श्रद्धा दृष्टि छोड़कर आत्माके गुणको भी नहीं जान सकते। इसलिये जब हमे आत्मा जानना

हो तो आत्माके गुण मुखेन आत्माका जानना होगा। जैसे जब हमें आम को जानना होगा तो रूप आदि के विस्तार मुखेन आम को जाना जावेगा वैसे ही आत्माके परीक्षा कभी सुख गुणके द्वारा देखो कभी ज्ञानगुणके द्वारा कभी दर्शनगुणके द्वारा जो आत्मामें असाधारण गुण वे उनके द्वारा जानो। वहां सर्वप्रधान ज्ञान है। अन्य जो गुण हैं वे भी अपना अनुभव कराने के लिये मानों ज्ञानका ही मुख ताकते हैं, ज्ञान द्वारा अनुभूत होने पर तन्मय आत्माका ज्ञान होता। जब हम आत्मा को ज्ञानगुणके द्वारा जानेंगे तो ज्ञेय भी ज्ञान होजाता है और ज्ञान भी ज्ञान रह जाता है। तब वह अनाकुलत्व लक्षण वीतरागस्वसंवेदनरूप परम पदका अनुभव रहताहै जो शान्ति स्वरूप है सुखस्वरूप है। इसलिये हम ज्ञानके द्वारा ज्ञानमय आत्माको जाननेका प्रयत्न करते हैं। यह शैली तो मोक्षमार्ग में चलनेके लिये तो उपदृष्टि ही है आत्माको जानने की भी अपूर्व शैली है।

यद्यपि ऐसा नहीं कि ज्ञानगुण को ज्ञेय करके उसके प्रथम आश्रय से ही आत्माको जाने, आत्मामें रहने वाले और गुणके द्वारा आप जान सकते हैं परन्तु वह जानना तब तक पर की भांति है जब तक स्वसंवेदनमें गर्भित होकर ही वे जानने में न आयें क्योंकि अन्य गुणोंके बोध में ज्ञानकी दृष्टि नहीं! आत्मामें रहने वाले अन्य किसी गुणकी मुख्यतामें जाना तो आत्माको उस गुणमय जाना। जैसे सुख या वीर्य आदिके ज्ञानमें वह गुण झलका इसलिये सुख, वीर्य आदिके द्वारा जब आपने जाना तो केवल सुख आदि को जाना परन्तु ज्ञानमें आत्माके सब गुण प्रतिबिम्बित हैं, जैसे कि ज्ञानमें विश्व प्रतिबिम्बित है। इसी तरह आत्मामें ज्ञानमें अनन्त गुणोंका प्रतिबिम्ब है तब ज्ञानकेद्वारा आत्माके जाननेपर सर्वगुणमय आत्मा का जाननाहोताहै इस लिये ज्ञान गुणके जानने का उपदेश है। ज्ञानगुणके अतिरिक्त आत्मामें रहनेवाले और गुण, ज्ञानस्वरूप न होनेके कारण वे भी दीनसे होरहे हैं—कि हे ज्ञान तुम हमे मानो,प्रकाश करो; हमे भी अनुभवमें लो।

ज्ञानराजासे आत्मामें रहने वाले और गुण निवेदन कररहे हैं कि हमें अनुभव किये बिना न रहने दो नहीं तो सत्ता असत्ता मेरी बराबर होजायगी ॥ ज्ञान स्वयं अपने ज्ञानस्वरूपसे ज्ञानमें अनुभव करता और अनन्त गुणभी ज्ञानके होते ही अनुवमें आते। ज्ञानकी इतनी विशिष्टता है, ज्ञानका इतना विस्तार है इसलिये आत्माको जाननेके लिये ज्ञानस्वरूपकी प्रधानता ही है। यहां बताया कि समस्त आवरणों का क्षय हुआ था इस क्षयके कारण सर्वलोक अलोकमें रहने वाली जो वस्तु है उस आकारके पार को पाकर अर्थात सबको जानकरके फिर उस संवेदनसे च्युत नहीं होते। सर्व अर्थको— लोकालोकको एक समय में जाना उसही सर्व लोकालोकको दूसरे समयमें भी जाना। उसीको तीसरे समयमें भी जाना। इसी तरह अनन्तकाल तक जानते ही रहते हैं। कितने ही लोग यह संकोच करते हैं—जितने लोकालोकको केवली प्रथम समयमें जानगये उनको ही दूसरे समयमें जाना उन्हींको तीसरे समयमें जाना तो वहां उत्पाद व्यय ध्रौव्य क्या हुआ ? परन्तु आप यह देखो पहले समयमें लोकालोकको जाना वहां पहिले समयमें शक्ति लगाई कि नहीं ! और दूसरे समयमें जाना तब दूसरी शक्ति पर्याय लगी। समय समयमें शक्ति लग रही कि नहीं ! जानने की शक्ति समय समयमें उस केवलीके लगरही ! पहले समयका ज्ञान पहले समयमें लगाई हुई शक्तिसे हुआ दूसरे समयका ज्ञान दूसरे समयकी शक्ति से हो रहा है। जब भिन्न भिन्न समयमें शक्ति लगरही है तो उसका जो परिणमन है वह उसमें तब तक है।

जो पूर्व समयका परिणमन है वह उत्तर समयमें व्ययसे व्यपदिष्ट है और उत्तर समयका परिणमन उत्पाद है। जैसे एक दीपक जल रहा है और वह इतने बड़े कमरेमें स्थित पदार्थो को प्रकाशित कररहा है, १० मिनट तक वह दीपक जला। १० मिनटतक उसने एकरूपसे प्रकाशित किया वहां आप यह कहें कि जिस दीपकने पहिले मिनटमें जो प्रकाश किया जिसे प्रकाशित किया वैसेही ६ मिनट भी प्रकाशित कर

रहा तो उसने दूसरे मिनटमें किया ही क्या ? अच्छा भाई यदि दूसरे मिनटमें दीपकने काम नहीं किया तो दीपकको खतम हो जाना चाहिये कार्यहीन होजाना चाहिये दीपक खतम हो जावे और काम होता रहे या काम न हो और दीपक बना रहे ऐसा माननेमें अनेक दोष आते हैं। अतः दूसरे मिनटमें भी दीपक वैसा ही प्रकाश करनेवाली अपनी शक्ति लगा रहा है। तब परिणमन हुआ कि नहीं। सदृश परिणमन भी तो परिणमन है व्यतिरेकी है। यही ज्ञानमें देखो वैसा ही जाना परन्तु दूसरे समयमें दूसरी ज्ञान तरंग है पर्याय है। वस्तुमें वस्तुसे होने वाले उत्पाद व्यय ध्रौव्यके देखो। पर पदार्थके परिणमनके सम्बन्धको लेकर कहे जाने वाले उत्पाद व्यय ध्रौव्यका मूल्य नहीं। उत्पाद व्यय ध्रौव्य तो द्रव्यमें होते फिर परद्रव्यमें निमित्त क्यों घटाया जावे। केवल यह अशुद्धभावकी बात है जो परप्रत्ययक उत्पाद व्यय देखे जाते तथापि यह जो रागद्वेष पैदा होते हैं वहां भी वे पर द्रव्यको निमित्त पाकर तो हुए सही फिर भी स्वयंमें घटावो + – वहां परके कारण उत्पादव्यय नहीं किन्तु जो पूर्वराग है वह उत्तरकालमें व्ययरूप है और उत्तरराग उत्पन्न है उन सब अवस्थावोंमें अनुगत तद्भावोंके अव्ययरूप ध्रौव्य है

इसी प्रकार शुद्ध ज्ञानपर्याय की बात है। वहां भी पूर्व उत्तरकाल की अवस्था उत्पादव्ययरूप है। उन सबमें ज्ञानसामान्यरूप भाव ध्रौव्य है। यदि पर पदार्थके निमित्तसे ही उत्पादव्यय करें तब यहां यह आलोचना करना होगा कि क्या भगवान्के भी विकल्प उठते हैं– यह वर्तमान पर्याय है यह भूतपर्याय हो गई यह अभी भविष्य है सो ऐसा विकल्प तो है नहीं। कदाचित् मान भी लो ऐसा विकल्प प्रकट न होकर अव्यक्तरूप में ऐसा जान पड़ता हो तो भी उस अव्यक्तके फेरसे उत्पादव्यय ध्रौव्य सिद्ध करने में द्रव्यका मूल्य न आयगा। द्रव्यमेंही होने वाले स्वयंके परिणमन में उत्पाद व्यय ध्रौव्य करने से द्रव्य का असली मूल्य प्रतीत होगा। हां तो इस तरहसे केवली का ज्ञान उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त होता है व केवली भी उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त होता है।

जैसे कोई आदमी वजनदार वस्तुको एक शैलीसे उठा रहा है तो यहां देखो कोई यह कह बैठे कि वह तो जिस शैलीसे उठा रहा है वस्तु उठ रही है या वह उठा रहा है फिर इसमें दूसरे समय भी काम क्या हुआ तब कोई आप ही उठाकर देखलो दूसरे समयमें शक्ति लगरही या नहीं अनुभव बताता है कि मैं प्रत्येक समयमें काम कर रहा हूं। यहां तो हमारी खुदकी शक्ति लग रहीं ना। जिससे हमें विश्वास है कि प्रतिसमय में मैं काम कररहाहूं। हमही प्रतिसमय एकसा काम करे तो हमारे यहां भी अनुभव है कि मैं नया नया परिणमन करता हूं।

इसी तरहसे केवलीमें देखें एकसा काम करते हुएभी केवल ज्ञानीके प्रति समय नया काम होरहा इसप्रकार जब शुद्ध आत्मामेंज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय अंतराय चारों घायिया कर्म नहीं रहेउस समयमें अपने आप ही समस्त लोकालोककी वस्तुके आकारके पार को प्राप्त होगयेका भाव यह है कि सबका ज्ञान कर लिया। जेसे कोई नदीके इसपारको पाले तो इस पार पहुंचनेपर यह कह देते कि नदीं पार करली। उस पार करने के मायने यह है सारी उस नदीका अवगाहन कर लिया इसी तरह से केवलीने समग्र वस्तु के आकारके पारको पालिया, इसका यह भाव भाव है कि केवली ने समस्त वस्तुवोंको पालिया जान लिया। यहाँ यह शंका उठती है कि जब भगवानने सर्वज्ञने समस्त वस्तुको जानलिया तो इसमें तो पर्यायका अन्त आगया। अच्छा भैया! पर्याय का अंत आजायगा इस डरसे हमें यह बतलावो ज्ञान कितनी पर्यायोंको जानता है? शंका कार यह कहेंगे कि मानो ज्ञानने १० के मानिन्द अनगिनते को जाना जिनकीसीमा है तो उन दस पर्यायोंके अतिरिक्त जो अन्य पर्यायें है उनके ज्ञान का आवरण हो गया यही सिद्ध होगया ना। क्यों कि यदि ज्ञान है तो आवरण नहीं, ज्ञान नहीं तो आवरण है। यदि १० पर्यायको जाना तो जितनी पर्यायें जाननेमें न रहेगी उनका आवरण अर्थात् ज्ञानावरण आत्मापर रहा सो तो सिद्धान्त विरुद्ध है, वह शुद्ध द्रव्य कैसा? भगवान के तो यही बतलाया कि आवरण का उनके ले

श ही नहीं। जब आवरणका लेश नहीं तो यह कहा जायगा कि केवलीने सर्व जाना। सर्व कितना है जिसका अंत नहीं इतना सर्व जाना। ज्ञान जब अपनी शुद्धावस्था पाता है आवरणका समूल नाश हो जाता है तब उस ज्ञानके अन्दर सीमा नहीं रहसकती। फिर या तो उस ज्ञानमें यह मानो कि इसने परको नहीं जाना, केवल अपने आपको जानता! यदि परको जाना तो वहां पर सीमा नहीं लगाई जा सकती कि इतना ही जाने।

ज्ञानका स्वभावही जानना है आवरणका अभाव होनेपर जाननेकी सीमा संभव ही नहीं। ज्ञान स्व को भी जानता और परको भी जानता अतः दोनों बातें निज स्वच्छता, अंतर्ज्ञेय व उपचारसे पर पदार्थों के जाननेकी बातें युक्त हैं। ऐसा वह ज्ञान जो लोकालोकमें विभक्त वस्तुवोंके आकारके पारको प्राप्त होगया फिर वह वैसेही प्रकाश रूपसे होता रहता, च्युत नहीं होता आगे चला ही जाता। अन्यच्च—इस विशुद्धज्ञानके साथ विशुद्धसुखका ही अनुभव होताहै व वहां अनन्त शक्ति है। ऐसा नहीं है कि केवल जाने और सुख शक्ति आदि की बात ही न हो, क्योंकि यदि अनन्त सुख अनन्त शक्ति आदि न हो तो वह विश्वपर ज्ञानका अधिकार भी नहीं रख सकता।

जैसे किसी आंफीसरको कोई अधिकार दिया तो उसके मात्र एकही अधिकार न समझना वहां सम्बन्धित अनेकों अधिकार गर्भित हैं। यदि अनेक अधिकार न हो तो कामको नहीं कर सकता। तथाहि किसीको अधिकार दिया कि जिसपर शक हो उसे गिरफ्तार कर लें, इस अधिकारमें जांच करनेका अधिकार भी गर्भित है किसीकी गवाही का भी अधिकार है किसी अफसर को सूचना देने का भी अधिकार है अधीनस्थोंको ओर्डर देनेका भी आदि अधिकार गर्भित हैं। कितने अधिकार साथ हैं तब वह एक कामका पूर्ण अधिकारी है। इसी कुछ तरहसे प्रतीति कर ले—केवली भगवानको मात्र जाननेका अधिकार है इतना ही नहीं है, उनमें अनंतशक्ति अनंतसुख आदि अनेक शुद्ध

परिणामाधिकार है । देखो जैसे केवली को अनंत सुख का अधिकार न दिया जाय तो जानने का भी काम नहीं कर सकता । क्यों नहीं कर सकता ? आपको दुखी रखकर कोई क्या काम कर सकता है नहीं ? वहां अनंत सुख नहीं तो प्रतिपक्ष विधि किसकी हुई ? दुख की । तो दुखी होकर उत्कृष्ट निर्मल काम नहीं कर सकता या किसीको दुखी रख कर करवा सकता ? अथवा उस ज्ञानका लाभ क्या रहा ? व इसका ज्ञान निर्बाध कैसे रह सकेगा ! अतः सर्व गुण शुद्ध परिणमते हैं । देखलो एक जानने के लिये एक काम के लिये कितने अधिकार चाहियें, चीज वह एक है उसमें विलास कितना हो रहा है ? वह हो रहा है अनंत । इसलिये एक आत्मद्रव्य कितना बड़ा है ? विचारो क्या भाव है ? इसको यदि देखो तो एक बड़े भारी नगर की तरह से भी देख सकते । यह एक बड़ा भारी शहर है । इसकी तरह मानों यह आत्मा ही एक बड़ा भारी शहर है । इस शहर के अन्दर यह ज्ञान यही तो राजा है यह ही मन्त्री है यह ज्ञान ही कोटपाल है इसके अन्दर जितने गुण हैं वह सारी प्रजा है । नगर में जो जो तत्त्व हैं उन सब जैसा आत्मा में घटा सकते हैं यह तो नगरसे भी विचित्र बात है अभेद रूप वस्तु का अभिन्न इतना परिकर । इसका काम देखो तो जैसे किसी मील को देखते हैं वहां सब अपना अपना काम कर रहे हैं । यहां सर्व गुण अपनी अपनी जगह स्वलक्षण कार्य कररहे हैं ।

देखो काम एक सिद्धका सुख कह रहा मानो मैं अनंतसुखका परिणमन करता रहूंगा ज्ञान कहता है मैं सबको जानता रहूंगा, वीर्य कहता है मैं इनकामों को पूरा कराऊंगा यही इसका व्यापार हो रहा है तो दर्शन कहता है मैं अपने में सामान्यरूपसे लोकालोक को अर्थात् अनन्त प्रतिभास को देखूंगा । दर्शन ने किया यह तो ज्ञान कहता है तू अपने में सामान्यरूपसे लोकालोक का प्रतिभास करले और मैं तुझे जानूं तो सर्वज्ञ हो गया । इस तरह दर्शन भी कहता । देखो कितना चमत्कारहै । आत्मामें ज्ञान अपना काम कररहाहै और यहां शुद्धअवस्था

चल रही है। यहां ज्ञान का विस्तार भी अनंत हो रहा है यह है भाव का विस्तार। क्षेत्रका विस्तार प्रदेशको लेकर होता है भावका फैलाव प्रदेश को न जगाकर होता है। इसी लिये उसमें किसी सीमा की संभावना नही, ऐसा वह ज्ञान केवलीके है। वह ज्ञान सर्वगत है। इस तरह २३वीं गाथा में आत्मा को ज्ञान प्रमाण सिद्ध किया और ज्ञाने को सर्वगत सिद्ध किया॥

जो अपने आपको ज्ञान स्वरूप से चलेगा उस ज्ञान स्वरूपके स्मरण से आत्मा की अन्य झंझटें इस ज्ञान में न रहेंगी और यह ज्ञान ज्ञान के द्वारा ज्ञानमें ही अनुभव करेगा तब हमारी क्या पर्याय होगी वह पर्याय होगी " जहां ध्यान ध्याता ध्येयका विकल्प भेद नहीं चैतन्यकर्ता वही कर्म वही करण वही क्रिया हो। यह दशा अनुभवनीय है। समयसार में लिखा है — यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्त तत्कर्म ! या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥ परिणमन कर रहा है जो परिणमन होरहाहै जो परिणमति क्रिया होती है ये तीनों वास्तव में एक वस्तु हैं भिन्न भिन्न बात नहीं। ऐसा सुनकर आप कहेंगे इस ज्ञानभावनामें विशेषता क्या ? वहां तो शुद्धता है सो प्रश्न वासना नहीं किन्तु यहां भी तो चाहे मोही हो सब कर्ता कर्म क्रिया एक ही है यह तो वस्तु का स्वरूप है। फिर ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जाननेका उपदेश निर्विकल्पकता के लिये युक्त है ही ! जहां कर्ता भी ज्ञान है कर्म भी ज्ञान है उस विषयमें क्या कहना है। जो ज्ञान परपरिणतिके उपरागसे रहित है ऐसा ज्ञान ही सही ज्ञान है। और जगह तो यह भी होजाता है कि करने वाली यह ज्ञान है और ज्ञान का जो विषय है वह पर ज्ञेय है, ऐसा भी है तो भी एक वस्तु को देखो — कर्ता कर्म क्रिया एक ही है। निश्चयदृष्टिमें कर्ता कर्म क्रिया एक ही है, व्यवहार दृष्टि में कर्ता कर्म क्रिया भिन्न भिन्न है। फिर जहां अन्तर्व्यवहार की दृष्टिमें भी कर्ता कर्म क्रिया एक हो जाय उसका यह वर्णन है। वैसे तो ज्ञान, ज्ञानगुण की क्रिया है ऐसा जानना तो हो रहा, पर जहां जानका विषय व्यवहार

होकर ऐसा ही ज्ञान ज्ञेय हो ऐसा ही वह अन्तर्व्यवहार में रहा। जहां ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय एक है उस एक ही वात को देखो, रहो फिर आपमें सव वातें आही जायेगी।

एक आदमी कुल देवता को पूजता था – उसने प्रसन्न होकर वरदान दिया कि जो तुझे मांगना हो मांग वह पुरुप घर आया स्त्री से कहा मुझे वरदान मिलरहा वता क्या मांगे ? वह बोली वेटा मांगना। फिर मांके पास गया पूछा क्या मांगे वह अन्धी थी उसने कहा मेरी आंख मांगना। फिर वह पिताके पास गया तो उसने कहा धन मांगना वह विचारमें पड़ गया मैं किसकी वात मांगू और किसकी नहीं। इतने में उसे एक तरकीव सूझ आई और गया वरदान लेने। भक्ति की तव कुलदेवताने कहा वरदान मांग तो वह कहता है कि मैं चाहता हूं कि मेरी माता अपने पोतेको सोनेके घडेमें दूध पीते हुवे देखे। तो देखो इस एक मांगमें सोनेका घड़ा आगया पिताकी इच्छा पूरी हुई। मात पोतेको देखगी सो मां को आंखें मिल गई। पोतेको देखने पर स्त्रीको वेटा मिल जाता। एक मांग करो। यहां भी आप अनेक कुछ न सोचो—एक अनादि अनंत अहेतुक ज्ञान स्वभावको ही देखो। इस एक काम करनेमें सब काम आ जायगा। सव कामों की कगायें न करो। एक काम करो मोक्षमार्गके लिये। वह काम क्या है ? अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञान स्वभावका उपादान रूपसे कारण पाकर अपना इस एक लक्ष्य रूप महान् पुरुपार्थ। यही एक उपयोग में लो इस तरह ज्ञानदृष्टिसे आत्माकी सिद्धि वतलाई।

अव कहते हैं कि आत्माको ज्ञान प्रमाण न माननेपर क्या आपत्ति है इस विपयक प्रश्नपर दो पक्ष उठाकर दूपण देतेहैं समाधान करते हैं। किन्हीं दार्शनिकों के किसी दृष्टिके कथनको किसी जगह मिला देने पर यह अव होगयाथा कि आत्मा तो एक सर्व व्यापक है उसमें चित्तका मन का संपर्क होनेपर ज्ञान होता है और ऐसी अवस्था में ज्ञान आत्मा के वरावर नहीं माना जा सकता या आत्माको ज्ञान बरावर नहीं माना

जा सकता है अर्थात् ज्ञान व्याप्य है। यहाँ किन्हीं दार्शनिकों को यह आभास होगया कि ज्ञान चैतन्य एक ब्रह्म वह सर्वव्यापक हैं उसके प्रकाशमें इस जीवको देहमें अध्यास होनेपर अपनी सीमितता जानी और वही सीममात्र रहस्यका ज्ञाता है तेही आत्मा कहलाताहै तब आत्मा व्याप्य चीज है ज्ञान व्यापक है। इसी प्रकार अनेक विकल्पोंमें भूलते हुए मुमुक्षुवोंको प्रतिबोधनेकेलिये भवगान् कुंदकुंदाचार्य दो पक्षोंको उठाते हुए उपदेश करते हैं—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहियो वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तएणाणमचेदणं ण जाणादि।
अहियो वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥

जिस वादीके मत में आत्मा ज्ञानप्रमाण नहीं है उसके मतमें वह आत्मा या तो ज्ञानसे हीन कम होगा या ज्ञानसे अधिक होगा दोमें से कुछ एक निश्चित ही है। यदि वह आत्मा ज्ञानसे हीन अर्थात् ज्ञानप्रमाण न होकर उससे कम प्रमाणवालाहै तब आत्मा तो हुआछोटा और ज्ञान हुआ अधिक तब आत्मासे वाहर रहा हुआ जो ज्ञान है उसका चेतना-समवंद्वन्य जो आत्मा है उससे संबंध तो रहा नहीं तब उस आत्माका वह ज्ञान अचेतन होगया फिर जो अचेतन है वह जानेगा ही कैसे और जो जानता नही है वह ज्ञानही क्या ? यों तो ज्ञान असत् ही होगया। यदि आत्माको ज्ञानसे अधिक अर्थात् ज्ञानतो छूटा है उससे आगे भी आत्मा है ऐसा मानोगे तब जो आत्मा अधिक है वह ज्ञानसे रहितहै जो अचेतनहै, इस तरह अचेतन आत्मा जानेगा क्या ? जो नहीं जानता वह तो पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल है इनसे अतिरिक्त अचेतन अन्य क्या ? इस तरह आत्मा का ही अभाव होगया।

जैसे अग्नि उष्णप्रमाण है यदि वहाँ कोई कहे कि हम अग्निको

उष्णप्रमाण नहीं मानते तब दो ही तो पृष्टव्य पक्ष होंगे किया तो वह अग्नि उष्णतासे कम होगी या अधिक होगी। यदि अग्नि उष्णतासे कम है अर्थात् अग्नि छोटीहै और उष्णता बड़ी है तब वह उष्णता जो जो अग्निसे अधिकमें है वह अपने आश्रयभूत उष्णात्मकद्रव्यके समवायमें तो रही नहीं फिर आश्रय रहित उष्णता उष्ण न होकर शीतल ही रही सो अयुक्त है। इसीतरह यदि अग्निको उष्णतासे अधिक मानो तव जो अग्नि उष्णतासे आगे है अर्थात् उष्णताके स्वभावसे रहित है वह अग्नि शीतल ही हो गया अब वह अपना काम जो दाह आदि है वह कैसे कर सकता इस तरह तो अग्नि असत् ही हुआ। तव अनुभव युक्ति उपदेश पुस्तकोंके मिलान करने पर यह ही बात निर्विवाद सत्य है कि आत्मा ज्ञानप्रमाणही है। कितने ही लोक आत्माको अङ्गुष्ठके पर्वके बराबर मानतेहैं या वटवृक्षके बीजके बराबर सूक्ष्म मानते हैं। ऐसी क्या यह आत्मा दवाईकी गोली है क्या है? अनुभव तो इसका मजाक ही करेगा।

यहां आत्माके ज्ञानप्रमाणकी बात चलरहीथी वह भाव की अपेक्षा वर्णन था अब कुछ समय थोड़ी देरके लिये जरा प्रदेशोंकी अपेक्षा आत्मा कितना है इसविषय को ही लीजिये। इस आत्माके बारे में कितने ही लोग तो यह कहते हैं कि वह एक विश्वव्यापीहै उसके प्रकाशमें देह मन जुदे ही काम करते हैं अथवा एक आकाश है और जुदे जुदे घटकी कैदमें घटाकाश न्यारे न्यारे हैं तो यहाँ परीक्षा करें जो वस्तु एक है वह अखंड होती है अखंडमें यह प्राकृतिक चमत्कार है उसके किसी अवयवमें जो परिणमन हो वह पूरे में परिणमन करता है परन्तु हम यहां देखते हैं एक देहधारी आत्मा सुखी है तो कोई दुखी है एक ज्ञानी है तो एक मूर्ख है और उसमें भी अनेक तरतमताके साथ। इससे यह आत्मा सर्व एकव्यक्तिरूप हो यह प्रसिद्ध नहीं होता। यदि यह कहो कि घटबद्ध आकाशकी तरह न्यारे २ हैं तो देहबद्ध भी हो तब भी आकाशकी तरह सब आत्माओंकातो एक परिणमन एकही रहना चाहिये

तीसरी वात — देह मन पर आत्मा का प्रकाश क्यों पड़ा अन्यपर क्यों नहीं? क्या देह या मन चेतन है इसलिये प्रकाश पड़ा तब देह मन स्वयं ज्ञानवान हो गये तो वह चेतन आत्मा ब्रह्म आदि कुछ कहो, होगया। इस तरह अनेक युक्ति अनुभवोंसे यह ही सिद्ध होता है कि आत्मा अनेक हैं और वह देह व द्रव्यमनरूप भी नहीं अर्थात् ये आत्माकी पर्याय भी नहीं हैं। अब विचारना है कि प्रत्येक आत्मा प्रदेशापेक्षया कितना बड़ा है तो इसका सीधा उत्तर तो यह है कि जितने में आत्माको सुख है दुःख है अनुभव है उतना है और यह देहप्रमाण जैसे प्रमाणमें प्रतीत होरहा है। हां देहमें जो ऊपर बाल निकले हैं नख निकले हैं या मक्खी के पर जैसी सूक्ष्म ऊपरी त्वचा है वहां आत्मा नहीं। कभी २ आत्मा देह से अधिक प्रमाण में फैल जाता है परन्तु किसी भी स्थितिमें स्वप्रदेशसे बाहर होही नहीं सकता है। जिन परिस्थितियोंमें आत्मा देहके प्रमाणसे अधिक क्षेत्रमें रहता है उन परिस्थितियोंका नाम समुद्घात है।

समुद्घात ७ होते हैं— १वेदनासमुद्घात २ कषायसमुद्घात, ३मारणान्तिक समुद्घात, ४ विक्रियासमुद्घात, ५ आहारकसमुद्घात, ६ तैजससमुद्घात ७ केवलिसमुद्घात। जब देही किसी अधिक वेदनामें होताहै यदि पुण्योदय हो तब वह आत्मा को न छोड़कर देहसे बाहर फैलता है और औषधिका सूक्ष्म शरीरसे स्पर्श करके देह में पूर्ववत् प्रविष्ट होता है इस क्रियासे वह निरोग भी हो जाता है इसे वेदना समुद्घात कहते हैं कोई न भी स्पर्श करे व मात्र समुद्घात ही रहे प्रत्येक समुद्घातोंमें यह भाव नियमित लेना कि यह अन्य अपने मूल देह को न छोड़कर बाहर विसर्पण करता है। इसी तरह जब देही तीव्र कषाय करता है अतिसंक्लिष्ट होता है तब कुछ हो अधिक देह से बाहरके क्षेत्रमें फैलता है, इस विषय में तो एक कहावत की परम्परा भी चल रही है— जब कोई तीव्र क्रोध करता है तब उसे कहते हैं कि आप आपे से बाहर क्यों होते जा रहे हैं। फिर थोड़े ही कालमें संकुचित होकर पूर्ववत् रहता है। अब मारणान्तिक समुद्घात की बात कहते हैं जब देही मरण के समय विक-

लित होता है तब कोई कोई मरण से पहिले ही जहाँ नव जन्म होगा उस क्षेत्रतक उस आत्मा के प्रदेश फैलकर क्षेत्र छू आते हैं और वापिस पुनः पूर्ववत् देह प्रमाण होजाता है इसी तरह देव नारकी या विक्रया ऋद्धि वाले मनुष्य अपना विक्रिया से देह बढ़ाते हैं या अन्य उत्तर देह बनाते उस समय वह आत्मा मूल शरीरको न छोड़कर उससे बाहर होकर उत्तर देहमें व बीचके क्षेत्रमें फैला रहता है विक्रिया समाप्तिके बाद पूर्ववत् देहमें प्रविष्ट होता है। यदि कोई देव २—४ घन्टेको उत्तर विक्रिया करे तो वहाँ भी अन्तर्मुहूर्त में नया प्रयत्न योग करना पड़ता है यह यह विक्रिया समुद्घात है। अब आहारक समुद्घात कहते हैं आत्मज्ञानी बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह आरम्भसे रहित साधु के जब किसी विशिष्ट तीर्थवंदना या तत्त्वचर्चण का परिणाम होता है तब आहारकऋद्धिवाले साधुके ध्यानावस्थामें मस्तकसे एक हस्तप्रमाण धवलवर्ण आहारक शरीर प्रकट होता है वह तीर्थ व तीर्थंकर केवली श्रुतकेवलीके दर्शन कर वापिस देहमें विलीन होजाता है और आत्मप्रदेश भी जो कि सूक्ष्मशरीरबद्ध होकर मूल शरीरसे बाहर गये थे वे देह में प्रविष्ट हो जाते हैं। यह आहारक समुद्घात है। अब तैजस समुद्घात कहते हैं—तपस्वी साधु के तपोबलसे तैजस ऋद्धि प्रसिद्ध होती है इस ऋद्धिके कार्य स्वरूप २ प्रकार के शरीर व्यक्त होते हैं— १ शुभतैजसशरीर २ अशुभतैजस शरीर। जब साधु के प्रसाद होता है प्रजाके भले करनेका परिणाम होता है तब उनके दाहिने कंधेसे शुभतैजस प्रकट होता है और वह चारों ओर बारह योजन तक फैलकर प्रजाके अन्तरंग पुण्योदयसे सुभिक्षका निमित्त बन जाता है। किन्तु जब साधुके किसी कारणसे क्रोध की तीव्रता हो जावे तब बांये कंधेसे अशुभतैजसशरीर प्रकट होता है यह बारह योजन के भीतर जहाँ तक फैलता है वहाँ के प्राणी गृह आदि सब जलजाने का निमित्त बनजाता है। यह तैजस शरीर मूलशरीरसे भिन्न दूसरा सूक्ष्म शरीर है इसका आश्रयकर आत्मप्रदेश भी मूल शरीरसे बाहर फौरन जाते हैं और पुनः अन्तर्मुहूर्त में ही देहमें प्रविष्ट हो जाते हैं।

अशुभ तैजसशरीर प्रकट करने के निमित्तभूत कषायतीव्रतासे साधु सम्यक्त्वसे भी च्युत हो जाता है। अब केवली समुद्घात कहते हैं- कर्मक्षयकेलिये अर्थात् विशुद्धचैतन्यसमवस्थितिकेलिये उद्यत निष्परिग्रह अन्तरात्मा वीतरागस्वसंवेदनपरिणामबलसे जब घातियाकर्मोसे रहित हो जाता है तब अनंतज्ञानी अनंतद्रष्टा अनंतसुखी अनंतशक्तिमान् केवली हो जाता है इसकेवलीभगवानके शेष बचे हुए वेदनीय आयु नाम गोत्र इन अघातिया कर्मोंमेंसे जब आयु की स्थिति थोड़ी और शेष तीनकी अधिक ऐसी स्थिति होती है तब आयुके बराबर सर्वकर्मो की स्थिति जिस क्रियामें हो जाती है वह केवलि समुद्घात है । केवलिसमु-द्घातमें - केवली के आत्मप्रदेश पहिले समयमें दंडाकार होकर चौदह राजू ऊंचे देहको चौड़ाईसे से तिगुने प्रमाण चौडे फैलजाते हैं दूसरे समय वे आत्मप्रदेश कपाटकी तरह चौड़ाईमें त्रसनाली तक फैलजाते हैं, तीसरे समयमें प्रतररूप अर्थात् चारों ओर मात्र थोड़े वातवलयो को छोड़कर सर्वत्र लोक में फैल जाते हैं। फिर चौथे समयमें सर्वलोकमें फैल जाते हैं। फिर पांचवे समयमें संकुचित होकर प्रतररूप, छटे सम-य में कपाटरूप, सातवें समय में दंडाकार व आठवें समय में देहमें प्रविष्ट होजाते हैं। इस व्यापारमें बड़ी स्थितिके कर्मोकी स्थिति कम हो कर आयुके बराबर होनेलगती है। जैसे घरी कियेहुए गीले कपड़ेको एक-हरा फैला दिया जाय तो उसका गीलापन जल्दी नष्ट हो जाता है। इस तरह उक्त समुद्धातोंमें तो आत्मप्रदेश देह से बाहर भी कुछ क्षणों को हो जाते हैं इनके अतिरिक्त सदा आत्मा प्रदेशापेक्षया देहप्रमाण ही है यहाँ तक की जो अष्टकर्मोसे मुक्त होगये ऐसे सिद्ध प्रभु भी यद्यपि उस-के देह भी नहीं है तथापि पूर्व अर्थात् चरम देहके आकार प्रमाण ही रहते हैं ॥ अब आत्मा को अपने प्रधान ज्ञान भाव की दृष्टिसे देखें-तो यदि यह आत्माज्ञानसे कम मानाजावे तो आत्मासे अतिरिक्तक्षेत्रमें पाया गया जो ज्ञान है वह अपने आश्रयभूत चेतन द्रव्यके समवाय- तादात्म्य का अभाव होने से अचेतन होगया और वह रूप आदि गुणों की तरह ही जड़ अचेतन होने पर वह जानना नहीं कर सकता

जैसे रूप, रस आदि गुण हैं वे चेतनद्रव्यके नामहीं ज्ञान तादात्म्यसे रहित है वे तो जानना नहीं रखते । फिर उसका नाम ही ज्ञान क्यों रखा ? यदि आत्मा ज्ञानसे आगे भी हैं अधिक ऐसा हठ करो तो ज्ञानसे अतिरिक्त क्षेत्रमें व्यापरहा आत्मा ज्ञानसे-तो रहित है अर्थात् अज्ञानहै अचेतनहै तब जैसे ज्ञान से रहित घट पट आदिकी तरहहोगया और जैसे घट पट आदि ज्ञानशून्य होनेसे कुछ नहीं है इसी तरह वह नाममात्र का आत्मा कुछ जानेगा ही नहीं । ज्ञानविना आत्मा क्या ? और आत्मा विना ज्ञान कहां ? इसलिये अनुभवमें भी अब आनेवाला यह आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना चाहिये ।

कितने ही अन्वेषक आत्मा एक पदार्थ है और मनभी एक पदार्थ है दोनों का सम्बन्ध होने से ज्ञानरूप विद्युत उत्पन्न होती है ऐसा कहते हैं वे पृष्टव्य हैं कि वह विद्युतअर्थात् ज्ञान चाहे दोनोंके सम्बन्धमें हो परन्तुहै किसकी पर्याय ? मनकी तो होनहींसकती क्योंकि मन को अचेतन माना है वह आत्मा की पर्याय है तब फिल हाल यह तो सिद्ध हो गया कि ज्ञानशक्ति आमामें है चाहें मनके सम्बन्धसे व्यक्त हो । अब मनको देखें—मन क्या वस्तु है ? मन एक जड़ पौद्गलिक पदार्थ है उसको आश्रय करके निमित्तमात्र पाकरके आत्मा ज्ञानशक्तिके विकासरूप कार्य करता है । मन अतिन्द्रिय है या अन्तःकरण है भीतर को इन्द्रिय है । यों तो इस अशक्त अवस्थामें स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु कर्ण इन इन्द्रियों को भी आश्रय करके आत्मा जानता है तथा बाह्यमें प्रकाश आदि अनेकों को निमित्तमात्र पाकरके जानता है तो फिर आत्मा और अनेकपदार्थों की रगड़से ज्ञान बन बैठेगा । अतः यह मानना चाहिये कि आत्मा स्वभावसे ही ज्ञानमय है परन्तु अनादि से ज्ञानावरण सूक्ष्म कर्मस्कंधके विपाकको निमित्तमात्र पाकर हीनज्ञानकी अवस्थासे परिणमरहा है और उस अवस्थामें इन्द्रिय व मनको निमित्तमात्रपाकरके आत्मा अपने ज्ञानस्वभावसे यथायोग्य पर्यायरूप परिणमता है ऐसा न मानने पर अर्थात् इस दृष्टिसे आत्माको ज्ञानप्रमाण न मानने

पर भी अनेक दोप उपस्थित होते हैं अतः आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना चाहिये। देखो अज्ञानकी महिमा स्वयं ज्ञानमय तो आत्मा है और अपने स्वरूपके ही निर्णय करनेमें बड़ा परिश्रम करनेपर भी सफल नहीं होरहे हैं। अरे भैया। सर्व इन्द्रियोंको संयमित करके भेदज्ञानसे सर्वविश्वसे भिन्न निज ज्ञानमय आत्माको निज एकत्व— अभेद स्वभावसे ध्यान करके स्तिमित अन्य लक्ष्यसे रहित अन्तरात्मा होकर तुम्हें ही जो क्षण करको ही सही जो दिखेगा अनुभव होगा वही तो आत्मा रहस्य है वहां पता होगा कि आत्मा तो सहज ज्ञान सुखमय है। अतः आत्मा स्वभाव से ही ज्ञानप्रमाण है।

कितने ही अन्वेषक आत्मा एक पदार्थ है ज्ञान एक पदार्थ है और ज्ञान के समवायसे आत्मा ज्ञानी है ऐसा मानते हैं वे कुछ देर सोचें कि जब ज्ञान के समवाय से आत्मा ज्ञानी हुआ तो आत्मा तो स्वभाव से अचेतन अज्ञान ही रहा तो जैसे आत्मा है वैसे घट पट आदि पदार्थ है फिर ज्ञानका समवाय आत्मामें ही क्यों होता घटादिमें क्यों नहीं होता इसके कुछ भी कारण खोजो जैसे कि आत्मा में ज्ञान ज्ञान है यह प्रत्यय है सो वहां ही समवाय है आदि वहां भी यही प्रश्न है कि ज्ञान के स्वभावके अभावमें वहाँ ही ऐसा क्यों? तथा ज्ञानसमवाय से पहिले आत्माकी क्या स्थिति है आदि अनेकदोषोंसे दूषित होने पर यही मानना युक्त है कि आत्मा स्वभावसे ज्ञानमय है। यहां आप यह तर्क कर सकते जब आत्मा ज्ञानस्वभाव है तब आत्मा से यह ज्ञान कभी दूर होगा नहीं तब निर्वाण कैसे होगा? परन्तु भाई ज्ञानका स्वभाव मात्र प्रतिभास है, जो उसके साथ विकल्प लगे हुए वह तो औपाधिक दोप है तुम्हारे मतमें शायद संकल्प विकल्प ज्ञान ही ज्ञान होगा ऐसा ज्ञान तो वहाँ नष्ट हो ही जाता क्योंकि वह औपाधिक दोष है ज्ञान तो वहाँ भी रहता है आवरणों के क्षय होने पर वह ज्ञान सर्व का ज्ञाता हो जाता। यदि ऐसा न मानो अर्थात् आत्मा इस दृष्टि में व वैसी निर्वाण दशाको देखते हुए ज्ञानप्रमाणनहीं है ऐसी धारणा करो तो अने-

क दोष उपस्थित होते हैं। अतः आत्माको ज्ञान प्रमाण ही मानना चाहिये। देखो भैया! अभी किसीसे कहो कि तू ज्ञान रहित है अज्ञान है तो वह बहुत बुरा मानता है क्यों भाई उनके वर्तमान को जब बताया जारहा है प्रशंसा की जारही है तो बुरा क्यों मानते? और यह कहा जावे कि तुम शुद्ध उत्कृष्ट ज्ञानवंत हो तो वह उसे रुचता, तो मालूम होता कि ज्ञान तो स्वभाव है। और अज्ञान आत्माकी दुखस्था है। जैसे किसीको कहा जाय कि तू क्रोधी मानी है तो वह सुनता नहीं चाहता और कहा जावे कि तुम बहुत शांत हो तो वह ऐसो ही रुचि करता तो शांति स्वभाव ही है और क्रोध आदि विभाव हैं। यह विद्वानों की बातमें कीं बात है, नहीं तोविषयी जीवोंसे तुलना कर दोष देने लगो। सो ठीक नहीं। अथवा विषयावस्थामें भी देखो स्वभावकी बात भीतर से सुहाती है। बहुत विस्तार कर क्या! आत्माके ज्ञान प्रमाण की बात ..वं के अनुभवकी वस्तु है। यह बात कहने सुनने से नहीं उतरता किन्तु अनुभव से पूर्ण प्रमाणरूप होता है। जैसे मिश्री का स्वाद कहने सुनने से नहीं आता वह तो चखने से ही आता।

अतः हे मुमुक्षुजनों आत्माको ज्ञानमय ज्ञानप्रमाण मानकर श्रद्धा करके उसे स्वयं पूर्ण अखंड सर्व विश्व से प्रथक् एक वस्तुरूप निरखो उसी में रूचि करो, रत होओ, तृप्त होओ स्वयं ही महान अनुपम स्वाभाविक सुख प्राप्त होगा। यह आत्मा स्वयं अचिन्त्यशक्तिक है। मात्र परके लोभ—संयोगाधीन दृष्टि रखकर ही स्वयं के उपयोग में हीन बन रहा है। भाइयो इस आत्मरहस्य की बात अब न समझोगे तो और कब समझोगे। आत्मा तो इस शरीर से विदा होकर नये शरीर में बसेगा। यदि असंज्ञी पर्याय पाई तब तो गये बीते ही हो गये फिर क्या है? कोई पूछने वाला ही नहीं। यह मनुष्य पर्याय श्रेष्ठ पर्याय है, यदि मन का सदुपयोग नहीं किया तो कर्म मानो यह समझकर या जीव ही मानो यह समझकर इसे मन की जरूरत नहीं तो क्षयोपशम के अभाव से आत्माकी अशक्तिसे असंज्ञी पर्याय ही तो फिट बैठेगी।

अतः भाइयो ? चेतो इस ज्ञानमय आत्मा के निर्णयमें लक्ष्यमें उपयोग में भावनामें परिणमनमें परिणत होकर स्वयं सुखी बनो ।

अब आत्माको ज्ञानप्रमाण सिद्ध करके तथा ज्ञानको पहिले ही सर्वगत बताया सो सर्वगतज्ञानप्रमाण आत्मा होनेसे यह भगवान् आत्मा भी सर्वगत न्यायसिद्ध है ऐसा अभिनन्दन करतेहैं वर्णन करते हुए स्वयं आचार्य उस रुचिको दृष्टिको रखकर प्रसन्न होते हैं । आत्माका सर्व व्यापकपना सिद्ध करते हैं ।

सव्वगदो जिणवसहो सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा ।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥२६॥

जिन वृषभ सर्वज्ञ भगवान सर्वगत है क्योंकि वे ज्ञानमय है उस ज्ञानमें सर्व अर्थ दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह व्यवहारसे पहुंचगये है क्योंकि वे सर्व पदार्थ उस स्वच्छ ज्ञानके ज्ञेय हो रहेहैं जब जितना ज्ञेय होरहाहै उस अन्तर्ज्ञेयसे भिन्न ज्ञान क्या बताया जावे । ज्ञान तो ज्ञेयनिष्ठ ही है ज्ञेयज्ञान बिना ज्ञान नाम क्या ? ज्ञान–जानता, तब क्या जानता, किसका जानना ये सब भाव प्रश्नमें होतेहै तो जो उत्तर है वह यही है कि ज्ञान सर्वका जाननहारा है और इसी हेतु ज्ञान सर्वव्यापक है ।

ज्ञान किसी भी संकुचित सीमामें नहीं है इस बातको देखें कि ज्ञानका स्वरूप क्या है तब उक्त बात निःसंदेह प्रतीत होगी ही । ज्ञानका स्वरूप है एक जानना मात्र,हमारे जाननेमें बहुत गलतियां है । जानते ही इष्ट आनिष्ट बुद्धियां चल उठतीहै जाननेका अर्थ है, यह ऐसा है यह इस प्रकार है ऐसा प्रतिभास, न कि विकल्प, क्योंकि जाननेमें विशेष विकल्प नहीं आये तो वह ज्ञान है । यदि हमारे जाननेमें ऐसा आये कि यह अच्छा है और यह बुरा है, ऐसा बना खावे ऐसा बना नहीं खावे ऐसा पहिने और ऐसा नहीं पहिने तो यह अज्ञान है क्योंकि इस जानने में विकल्प है वहां तो खाने पहिननेमात्र का भी विकल्प नहीं होता जैसे तुरन्तका जन्मा बच्चा अपने कमरेमें बैठा सब चीज देखरहाहै उसे अपनी आंखोंसे यह दीखताहै परन्तु यह अच्छा है यह बुरा है कई

प्रकारकी ये ऐसी चीजे हैं आदि विकल्प उसके जानने में नहीं है और वह प्रतिभास स्वरूपसा रहताहै इसी तरह तो क्या, वह तो दृष्टान्त मात्र है कुछ दृष्टिको लियेहुए है जो सब पदार्थों को जानता है परन्तु मात्र प्रति भासस्वरूपही रहता है वह है ज्ञान । शुद्ध परिणमन । स्त्री पुत्रका विकल्प हो दुकान मकान—का विकल्प हो राग वैरागादिका विकल्प हो तो ज्ञान स्वभावके साथ विकल्प बना लिया । यदि ज्ञान स्वभावके साथ अन्याय होगा तो ज्ञान स्वभावका कैसे अनुभव होगा । जिस पर्यायको लेकर हम बैठे है जिन विचारोंको लेकर हम बैठे है उनपर दृष्टी रहेगी तो ज्ञान स्वभावका कैसे अनुभव होगा ।

जब तक अंतरंगमें यह विकल्प होगा कि मैं हूं ज्ञानका अनुभव नहीं होगा । जब यह समझने लगेगे कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चरित्र का अभेद स्वभाव ही मेरा स्वरूप है ऐसा अंतरंगमें विचार होगा तो अनन्तर अभेदानुभवके समय जरूर ज्ञानका अनुभव होगा ज्ञानका अनुभव जिसे जिस कालमें होताहै उसका आत्मतत्त्व प्रसन्न रहताहै ऐसा तत्त्व भाव जिसका रहताहै उसके तत्त्वभूत ज्ञानका अभाव नहीं निज स्वभावकी स्थिरतामें आविर्भूत आत्मामें रहनेवाला ज्ञान सर्वव्यापक है ज्ञान सर्वव्यापक है ज्ञान जब सर्वव्यापक है तो ज्ञानमय होनेके कारण यह भगवान भी सर्वव्यापक है अतः इस भगवानको ज्ञान स्वभावकी दृष्टीसे देखकर सर्व व्यापक कहा गया है इस प्रकार जिसको ज्ञानस्वभा-वका पूर्ण निर्मल अनुभव है वह सर्वव्यापक है । सर्वगत ज्ञानका विषय होनेसे सर्व अर्थ भी सर्वगत । ज्ञानसे अभिन्न जो भगवान उसके ये विषय हैं अतः आत्मा भी सर्वगत है यह कहा जा रहा है कि पदार्थ बोधके विना ज्ञान है क्या ? एवं सर्वगत ज्ञानके विना भगवान है क्या और सर्वगत ज्ञानके विना है क्या ? समस्त अर्थ या सर्व ज्ञेय ज्ञानके विषय है । ज्ञेय भी सर्वगत ज्ञानमें व्यापक है ज्ञाता है तब विषयविषयी भावसे देखो तो ज्ञान अर्थगतहै तो अर्थ ज्ञानगत है । एक काम देखकर और उसमें श्रद्धा करनेसे सारे अभीष्ट कार्य हो जातेहैं और जो

दुनियाँभरके काम देखेगा दुनिया भरसे याचना करेगा तो उसका कोई काम सिद्ध नहीं होगा अतः एक निज ध्रुव स्वभावको देखो सर्व अभीष्ट सिद्धि है।

एक किंवदन्ती है कि एक हिन्दु और एक मुसलमान एक नदी पार करतेथे दोनों ने सोचा अपने अपने भगवानका नाम लेकर नदीपार की जाय। हिन्दुने कहा हे ब्रह्मा मेरी रक्षा करो ब्रह्मा आये तो उसने कह दिया कि हे विष्णु मेरी रक्षा करो ब्रह्मा को लौट जाना पड़ा विष्णु आये तो उसने कह दिया कि हे महादेव मेरी रक्षा करें विष्णु लौट गये और महादेव आये तो उसने कहा कि हे शीतला माता मेरी रक्षा करो, महादेव भी लौट गये और शीतला आई तो वह बोल उठा हे दुर्गा मेरी रक्षा करो इस प्रकार देवता आते गये और लौटते गये और किसी ने भी रक्षा नहीं की और वह डूब गया, उधर मुसलमानने केवल अल्लाका नाम लिया और उत्साहसे नदी पार होगया वहाँ उसके मनमें एक दृढ़ संकल्पने बल दिया वस्तुतः हिन्दू अपनी रक्षाके बारेमें शंकित था इस संदेहने डुबाया, मुसलमानके भाव निःशंक थे सो निःशंकताने पार कराया। देवताका वर्णन तो निःशंकता सशंकताका अनुमान करनेके लिये अलङ्कार है।

यह तो मात्र लौकिक कहावत है इस प्रकार ज्ञान स्वभावकी दृष्टी रखना चाहिये मूर्ति पूजा में भी ज्ञानदृष्टी, २४ तीर्थकरोके नाम लेनेमें भी ज्ञान स्वभाव की दृष्टि, पंच परमेष्टीका ध्यान करते समयभी ज्ञान स्वभावकी दृष्टी, व्रत तप अनशन,कायक्लेश सामायिक बाह्यधर्म आदि सबमें निज स्वभाव की दृष्टी रखना चाहिये. बिना ज्ञानदृष्टिके सहज सुख स्वरूप पीयूष या अमृत नहीं प्रगट होसकेगा। ज्ञानस्वभावकी दृष्टी रखने पर ही अमर आत्मा व्यञ्जनामें भी अमर होसकता है।

देखो भैया अमृतको सब ललचाते अच्छा शर्बत पीकर मनुष्य कहताहैं कि यह तो अमृतसा मीठा है पूछा जाय कि यह अमृत क्या है? देवताओंके कंठसे भरता होगा सो ही अमृत होगा ? क्या झरता होगा

अच्छा पानी या अच्छा रस झरता होगा उस रसके झरनेके बावजूद वह अमर नहीं रहताहै। अमर कोई नहीं रहता है। जो जन्मा है उसकी कितने सागरकी भी उसके भले ही उम्र हो यह मरेगा अवश्य, पुराने जमानेमें आध्यात्मिक मनुष्य जन्मते थे। उनका सुख क्या होगा, कल्पना करो वे छोटे छोटे घरोंमें कुटियांमें रहतेथे। उन्हें किसी चीजका अभाव नहीं था वे लोक पर लोकको मानतेथे। उस समय साधु सन्तों का सन्मान होता था. राजा महाराजा लोग अपनी बडी २ गुत्थियों को सुलझाने के लिये विद्वानों का आदर करते थे और उनसे राय लेते थे। सब लोगों को यह विदित था कि आत्मा के अन्दर रहने वाला ज्ञान स्वभाव अमृत कैसे है। जो नहीं मरे उसे ही अमृत कहते हैं। ज्ञान स्वभाव आत्मा के अन्दर ऐसा है जो कभी नहीं मरता यह सर्व पर्यायों में एक स्वभाव से रहता है। ऐसे ज्ञानस्वभाव की दृष्टिको अमृत कहते हैं। ज्ञान स्वभाव की दृष्टिका सुख और विज्ञान के लौकिक सुख क्या कहीं समान हो सकते हैं। अब धीरे २ लोक रहस्य को तो भूलगये और जो रुचा उसे ही अमृत कहने लगे यह दृश्य कुछ भी अमृत नहीं। इसलिये यदि अपने को अमर होकर सुखी होना है तो ज्ञान स्वभावकी दृष्टिको धारण कीजिये। ज्ञान स्वभाव के धारण के बिना सुख शाँति नहीं होगी।

देखो यदि हमारे कहनेसे महिलाओंके भय हो गया हो कि पुरुष ज्ञानी हो जाँयगे और हमारी उपेक्षा कर देंगे तो क्या होगा, तो सुनो-महिलाओं को भी चाहिये कि वे पुरुषोंसे भी पहिले ज्ञान स्वभावको धारण करें। धर्मके मार्गमें साराका सारा परिवार लगे। जगतके प्रति इतने मुग्ध मत बनो और न यह शंका किया करो कि अब क्या होगा। जमाना बुरा आ रहा है अब क्या होगा ऐसा सोचो कि हमसे बुरे कितने ही अनगिणत लोग पाये जाते है उनका क्या होगा। उनपर दृष्टि नहीं देते और यह कहते हो कि मेरा क्या होगा। चाहिये तो यह मात्र पर पदार्थ पर भाव का लक्ष्य न

रहकर सहज ज्ञान रहे। अरे उन सब का क्या हो रहा है। चिन्ता अपने मस्तिष्क में मत रखो। ज्ञान स्वभावकी दृष्टि किसी तरह पाली जाय तो यह सब से बड़ा भारी काम है अहो देखो स्वयं ज्ञानमय होकर भी स्वयं को नहीं परमार्थस्वरूप जानता और यह लोक इसी कारण बाह्य से ज्ञान और सुखकी आशा करके बरबाद हो रहा है। भेदविज्ञानकी छेनीसे स्वभाव परभावका स्वलक्षण से भेद कियाजावे तो अपने स्वरूपतक पहुंचने में क्या देर लगे क्षयोपशम तो है ही उसे परोन्मुख करके दुरुपयोगमें डाला जा रहाहै वह स्वोन्मुख हो तब सर्व स्वेष्ट मिल जावे।

श्री पूज्य विद्यानन्द स्वामीजी अनेक वेद वेदान्तोंके परिपूर्ण ज्ञाता और पाँचसो विद्वान् शिष्योंके गुरु थे उनकी दृष्टि एकनय को लेकर बहुत गहरी विशाल थी किन्तु जब देवागम स्तोत्रके मननसे अनेकान्त दृष्टि की साधकता ज्ञात हुई तो सर्व ज्ञान स्वसाधकताकी पुष्टि का निमित्त हो गया इस लिये भैया स्वपर विवेक करो परका तो अपने में अत्यन्ताभावहै तथा परको निमित्तमात्र करके परलक्ष्यजन्य जो विभाव है यह भी स्वरूपमें नहीं है मात्र सर्व शक्तियोंके अभेद स्वभावमय निज अपने मनमें से रागद्वेष क्रोध मान माया लोभ दूर करो। जगतके बाह्य रिस्तेदारोंसे दृष्टी निजमें औपाधिक उठने वाले रागादि विभावोंसे दृष्टि हठावोगे तब इस आत्माको सुख शांति का अनुभव प्राप्त होगा। इसलिये ज्ञान स्वभावकी दृष्टि सुख की देनेवाली है यह निःसंदेह निर्णय करलो। सम्यक्त्वके बराबर दुनियांमें तीनों लोकोंमें तीनो कालों में सुख देने वाली कोई चीज नहीं। सम्यक्त्व नहींहै और वैभव है तो इससे सुख नहीं मिलेगा यदि सम्यक् है तो यही सुखका स्थान है सम्यग्दर्शन पानेका प्रयत्न करो कितनी भी बाधा आये तो मनुष्य का साथ देनेवाला कोई नहीं है कोई भी पदार्थ उसके साथ नही जाता किसी भी पदार्थसे उसका हित नहीं है,हित उसके ज्ञानके विकाश में ही है।

वाल्मीकी ऋषि पहिले लुटेरे थे ऐसी एक कथा है वे एक जंगलमें छिप

कर बैठ जाते थे और जो भी आदमी उस रास्तेसे गुजरता था उसका माल असबाव रखवा लेते थे एक दिन साधु एक आसन एक डंडा और एक कमंडल लिये उधरसे निकला। लुटेरेने कहा कि जो कुछ तुमारे पास है रख दो। साधुने कहा कि लो भाई तुम कौन हो। उसने जवाब दिया लुटेरा हूं साधु ने कहा कि लो भाई मेरा आसन डंडा, और कमंडल सब लेलो परन्तु मेरा एक सवाल है उसका अपने परिवारवालोंसे उत्तर पूछकर आओ और मुझे बताओ वाल्मीकीने कहा कि बताओ क्या पूछकर आवें ? साधु बोले उनसे यह पूछकर आओ कि मैं तुमारे लिये अनेक पाप करता हूं तुम्हें धन लाकर देता हूं इस पाप वृत्तिको लेकर मुझे जो पाप होगा उसमें तुम लोगभी हिस्सा बटावोगे कि नहीं। साधुजीका अपूर्व प्रश्न सुनकर बड़ी उत्काण्ठासे लुटेरा घर गया और परिवारवालोंसे पूछा तो सबने उत्तर दिया कि नहीं बाबा वह पाप तो तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। यह जवाब सुनकर जब वह लौट रहाथा तो रास्ते में उसने सोचा कि मैं तो इन सबकेलिये इतना पाप करता हूं और इन सबने मुझे यह उत्तर दिया इस प्रकार जगत मे मैं अकेला फिर मैं क्यों इन सबके लिये इतना पाप कमाऊ वापिस आकर उन साधुजीसे उसने कहा कि यह लो तुम्हारी सब चीजें तुम ही रखो और मुझे भी एक आसन एक डंडा और कमंडल दिलवाओ। इस प्रकार वह भी साधु बन गया और इसी वाल्मीकीने आगे चलकर रामायण आदि लिखी। इसमें क्या बात जानना है जो मनुष्य जो भाव करता है उसका परिणाम वही मनुष्य भोगताहै अन्य कोई साथ नहीं देता।

अपने अपने परिणामों को निर्मलबनानेकी चेष्टा कीजिये निर्मलताके लिये द्रव्य दृष्टि स्थिर रखिये ज्ञान स्वभाव का स्वलक्षण मतिमार्ग में बना रहे। इस ज्ञानस्वभावका क्या महात्म्य है यह उसके विकाश मुखेन इस गाथा में गाया है यह ज्ञान स्वभावसे तो सर्व शक्तिमान है ही तथापि जब ज्ञान निरुपाधिक सहज निर्मल पर्यायकी निर्मलता से रहताहै तब त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य पर्यायके रूपमें व्यवस्थित जो ज्ञेय

उस समस्तका बोध होताहै वहाँ निश्चयनयसे तो अनाकुलता रूप सुख का स्वसंवदेन हो रहाहै सो. उस स्वसंवेदनके अभिन्न आधारभूत जो आत्मा है उसके प्रमाण ही ज्ञान है वह निज क्षेत्रका परित्याग कैसे कर सकताहै यदि स्वभाव निज क्षेत्रसे बाहर कल्पना करो तो वह खपुष्पकी तरह असत् है। अतः निश्चय-नय से तो विश्वके ज्ञेयाकारोंमें आत्मा जाता ही नहीं है फिर भी जो सर्वबोध है वह आत्माके ही सतस्वभाव का महात्म्य है जो घर बैठे ही ज्ञान सर्वगत है। इसी सम्बन्धको लेकर व्यवहारनय से ज्ञान सर्वगत है और ज्ञानसे अभिन्न होनेके हेतु ज्ञान लक्षणलक्षित आत्मा भी सर्वगत है। देखो यह प्रताप उनके ही प्रगट होताहै जो अखंड निज द्रव्यपर दृष्टि करके अपने स्वभावमें रमते हैं। निज स्वभावसे च्युत होकर बाह्य अध्रुव विषयमें रमनेका फल दुर्गमन ही है।

प्रायः सारे मनुष्य मोहमें फसे हैं। जो मुख आपको सुन्दर लगता है उसीपर आप रीझते हो। परन्तु उस ही सुन्दर मुख से जब लार टपकने लगे तो ग्लानि पैदा होजाती है। नासिकासे मल निकले तो ग्लानि पैदा हो जाती है इस प्रकार ये अग तो अशुचि है। यह अशुचि निजको, और परको, सुंदरताकी बुद्धिसे राग पैदा करनेवाली है इस तरह वह सौन्दर्य कितना अशुचि है। इस सौन्दर्य से नेहको छुड़ना चाहिये घड़ी सुन्दर है स्त्री बड़ी सुन्दर है। सुन्दर हर चीज को कहते तो हो परन्तु सुन्दर शब्द का अर्थ क्या है? व्याकरणमें सुन्दर का अर्थ है सु उन्द् अर् यहाँ सु उपसर्ग उन्दी क्लेदके धातु है व अरच प्रत्यय है अर्थात् उसे सुन्दर है जो तड़फा तड़फा कर मारे। दुनियांके लोग कहते हैं कि स्त्री बहुत सुन्दर है हां बिल्कुल ठीक वह सुन्दर है क्योंकि वह तड़फा तड़फा कर मारतीहै, वह नही मारती उसका विषय पाकर रागी स्वयं मरतेहैं घड़ी बहुत सुन्दर है अर्थात् वह तड़फा तड़फा कर मारने वाली है। जगतके पदार्थ जो सुन्दर लगते हैं उन सबका यही अर्थ होता है। पदार्थ तो अपने आपमें मौजूद हैं न वे सुन्दर हैं न असुन्दर

हैं ऐसे जगतके वाह्य पदार्थका मोह ज्ञान स्वभावकी दृष्टीसे निकालकर ज्ञान स्वभावकी दृष्टि को निर्मल करो। उस दृष्टिके निर्मल होतेही सारे काम जो होनेके होगे वे सब अपने आप होजाँयगे शुद्ध दृष्टिके फलमें अंतिम स्वरूप क्या होताहै उस विषयका यहां विवेचन है, ज्ञान इस प्रकार सर्वगत हो जाता है। इसी तरह यद्यपि निश्चयसे कोई अर्थ आत्मा में व आत्म स्वरूपमय ज्ञानमें नही पहुंचताहै तथापि ज्ञानमें वैसाही तो गृहण होता है अतः विश्व भी ज्ञानगत समझिये।

निश्चय नयसे जगत ज्ञानगत नहीं है। व्यवहारनयसे जगत ज्ञानगत है ज्ञान भी इसी प्र ार व्यवहारसे सर्वगत है। ज्ञान निजतत्त्व के आधारको नहीं छोड़ता अर्थात् निश्चयसे यह आत्मा अपने ही प्रदेश में है और ज्ञान भी अपने ही प्रदेशमें है इसलिये निश्चयनपसे ज्ञानने आत्माके प्रदेशको नहीं छोड़ा तोभी समस्त पदार्थोंका ज्ञान गया ऐसे समस्त पदार्थोंमें नहीं मिलते हुए भी समस्त पदार्थ उसके जाननेमें आ गये। इसलिये ज्ञान सर्वगत कहलाता हम भी कहते है हमारा ज्ञान इस कमरेमें हैं और यह कमरा हमारे ज्ञानमें है। निश्चय नय से आकुलता या अनाकुलता जो कुछ भी हो रहीहै सो इस ज्ञान में ही अभेद दृष्टिसे होरहीहै! ऐसे अपने सुख दुःखके अनुभवमें रहनेवाला यह अपना ज्ञा-न भी कमरेमें है जगतके पदार्थोंमें यह ज्ञान घुस नहीं रहा तो भी उन्हें जान तो रहा। इस लिये व्यवहारनयसे हमारा और तुम्हारा ज्ञान इस लिये व्यवहारनय से हमारा और तुम्हारा ज्ञान इस कमरेमें होते हुए भी सब पदार्थोंको जानताहै और निश्चयनय से यह ज्ञान केवल उस आत्मा में लीन है। जैसे सूर्य की चमक अपने आकारमें ही है परन्तु उसके निमित्तसे प्रकाश सर्व पदार्थोंमें नहीं घुसकर भी पदार्थोंमें प्रकाश आनेके निमित्त होनेके कारण यह कहाजाताहै कि सूर्यका प्रकाश सर्व पदार्थों में हैं। इसी तरह ज्ञान सर्व पदार्थों को जानता है इसलिये व्यवहारनय से सब पदार्थोंके जानने कारण ज्ञान सर्वगत कहागया है।

ज्ञान अपने आपके प्रदेशोंको नहीं छोड़कर भी सारे लोकालोकमें

व्यापक है। सो यह ज्ञान मेरा मुझे ही मुझमें ही मिलता है। ऐसा मानकर ज्ञान स्वभावको पानेकेलिये बाह्य पदार्थ खोजनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। बाह्य पदार्थोंका उन्हींके तन्त्र स्वभाव जानकर अपनी दृष्टि उनपर न दीजिये। ज्ञानस्वभाव अपने आप पैदा हो जायगा। यह ज्ञान स्वभाव सर्वज्ञताको लियेहुए प्रगट होताहै इसलिये कहाजाता है कि संसारके सारे अर्थ भगवानमें आ गये। अर्जुन कहता है कि कृष्ण हमारे भीतर रहते हैं ठीक है मैं, अर्जुन अपने ज्ञान स्वभावकी दृष्टी द्वारा ज्ञान स्वभावके विराट रूप को देख सकता हैं। सम्यग्दृष्टी अर्जुन ने इस कृष्ण परमात्मापदार्थ विराटरूप को अपने अंतरंग में देखा जिस में अर्जुन खुद भी समा गया। यह दृष्टा भी समा गया। सिद्ध भगवा न का भी ऐसा विराट रूप है। जिसमें ऐसे २ विराट रूप धारण करने वाले समा गये अरे अबभी बहुत जगह है मानो उनकी चुनौती है कि ऐसे अनगिनते भी लोक हों तो उन्हें भी एक कोनेमें डाल दूंगा। ऐसे विराटरूपको ज्ञानी सम्यग्दृष्टी यहीं अपनेमें दर्शन कर सकता है उस समय यह पता नहीं रहेगा कि मैं कहां क्या करताहूं कहांपर बैठा हूँ और क्या मुझे करना है। वहां भी ज्ञान आत्मामें ही है। यह स्याद्वाद से मुद्रित है विश्वमें भी यही बात है, सर्व द्रव्य स्वतंत्र है विश्व निश्चय से अपने ही स्वयंके चतुष्ट रूप है उसका द्रव्य या उसका गुण अथवा पर्याय कुछभी उससे बाहर अन्य क्षेत्रमें नहीं होता। तब विश्वका एक अंशभी सर्वज्ञमें नहीं पहुंचा फिर भी उस ज्ञानके द्वारा व्यवहारसे वह जाना तो जारहाहै जैसा सत् गुण पर्याय यहां अर्थमें है उस प्रकारका बोध-ग्रहण तो ज्ञानमें है इस प्रकारके ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धके कारण यह समझागयाहै कि विश्व भी ज्ञानगत है। ऐसी परिस्थिति समझकर भी समझता तो यही है कि सर्व द्रव्य अपने २ स्वरूप में निष्ठ हैं। वस्तु स्वभाव ही ऐसा है इसलिये यह सुप्रतीत है कि ज्ञान ज्ञेयमें नहीं चला गया और ज्ञेय ज्ञानमें नहीं चला गया। ज्ञानके आकारमें यह ज्ञेय प्रति बिम्बित होताहै। ज्ञानने अपनी शक्तिसे ज्ञेयको जान लिया तो कहा

कि यह ज्ञेय ज्ञान में गया यहां भी मात्र ज्ञान स्वभावदृष्टि रखो।

जो आपमें ध्रुव है वही धर्मका मूल है, धर्म में बडा सुख होता है,धर्म उत्साहित होकर पालन करना चाहिये वस्तुके अंखडस्वभावकी दृष्टि आना प्रथम धर्मपालन है। घर में भी-जाकर व्यर्थ समय मत खोओ इस समय में भी हम कोई अच्छा लाभ निकाल सकते हैं। परिवार के लोगों से कहो कि विषय कषाय, मजाक गप शप आदि में समय खोने से अपने आपको बचाओ। इसमें ही सारा समय खोया तो अपना हमारा दोनोंका जीवन व्यर्थ है। सो देखो भैया अब तो उस ही आत्मस्वरूप को कहः परस्पर उसकी चर्चा कर उसे ही पूछो उसे ही चाहो उस ही में लीन होओ इस ही उपायसे अविद्यामय स्वरूपको त्याग करके विद्यामय स्वरूपको प्राप्त होवोगे स्वयं जैसे निरूपाधिक स्वभाव है उस ही रूपसे होजावोगे

अब आत्मा और ज्ञानके विषयमें अपेक्षा द्वारा परस्पर एकपने और अन्यपनेका चिन्तवन करते हैं, यह एक विचार है जिसका ध्येय वस्तुके पूर्ण स्वरूपको जानकर फिर विकल्पसे हटकर निज का अनुभवन रह जाना मात्र है। श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य यही सिद्धान्त दिखाते हैं।

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं वा अण्णं वा॥२७॥

पहिले आत्मस्वरूपका विचार करो कि आत्मा कैसा तो अस्तित्वस्वरूप है और कैसा नास्तित्वस्वरूप है और ज्ञान का विचार करे कि वह किस स्वरूपात्मक है और अवशिष्ट किन लक्षणोंके अभावात्मक है आत्मा तो चैतन्यप्रधान परिणामिक भावके साथ अनन्त धर्मोंका अधिष्ठानभूत है वह समग्र आत्मातिरिक्त शेषजीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्योंके आभावात्मक है। आत्मा तो चैतन्य प्रधान पारिणामिक भावके साथ अनन्तधर्मोंका अधिष्ठान भूत है वह समग्र आत्मातिरिक्त शेष जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्यों के आभावात्मक है और

ज्ञान समग्र अचेतन द्रव्यों में किसी भी वस्तु से तादात्म्य न रखने वाला अर्थात् किसी भी अचेतन पदार्थमें न पाया जानेवाला किन्तु केवल आत्माके साथ अनादि अनंत स्वभावसिद्ध तादात्म्यको रखनेवाला अर्थात् आत्मद्रव्य की ही प्रधान शक्तिभूत एक गुण है। तब यह सुप्रतीत है कि भावापेक्षया आत्मा व्यापक है और ज्ञान व्याप्य है अर्थात् इस गाथामें आत्मा और ज्ञानके विषयमें यह बताया गया है कि आत्मा और ज्ञान भिन्न भिन्न भी है।

पहिले कहा था कि आत्माको ज्ञान स्वभावकी दृष्टिसे देखना चाहिये तब ज्ञानके सिवाय आत्मा और कोई चीज नहीं अब कहतेहैं कि आत्मा और ज्ञान एक भी है और आत्मा और ज्ञान भिन्न भी है ज्ञान मात्र आत्माकी रहस्यमय बात समझने से पहिले वस्तुका पूर्ण स्वरूप जानना परमावश्यक है वस्तुकी एक दृष्टिकी मुख्यातासे पूर्ण अवस्थाको पाया नहीं जा सकता अतः वस्तुको पूर्ण जाननेकेलिये आचार्यमहाराज २७ वीं गाथा कहतेहैं ज्ञान है सो आत्मा है। आत्माके विना ज्ञान आपना स्वरूप कायम नहीं रख सकता इसलिये ज्ञान आत्मा ही है परन्तु आत्मा ज्ञान भी है और आत्मा अन्य भी है क्योंकि ज्ञान गुण ही हो और अन्य गुण न हो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि अन्य गुणके अभाव में ज्ञान भी नहीं रह सकता इस तरहसे आत्मामें और ज्ञानमें एकत्व और अन्यत्व सिद्ध करतेहैं। आत्मा किसे कहते है ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि असंख्य गुणोंका पिंड-समूह आत्मा कहलाताहै ज्ञान आत्मा ही है परन्तु आत्मा ज्ञान भी है आत्मा दर्शन भी है आत्मा अन्य गुण रूप भीहै पहिले आत्मद्रव्यको पूरापहिचानो सर्व प्रकारसे आत्माको समझकर फिर ज्ञान स्वभावकी दृष्टिसे आत्माको देखकर आत्म कल्याणमें लगो। खुदही आत्माको पहिचानो। ज्ञान जगतकी सारी इतर वस्तुओं से सम्बन्ध नहीं रखता। ज्ञानका पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल द्रव्यमें तादात्म्य नहीं है ज्ञानका अनंतअनादि तादात्म्यसम्बन्ध आत्मा सेहीहै जैसे अग्निकेविना उष्ण कहां व उष्णकेविना अग्नि क्या?अग्निका

और उष्णका तादात्म्य समबन्ध है।

जगतके अंदर तीन तत्त्व हैं.द्रव्य गुण और पर्याय तीनों। तत्त्वों को अच्छी तरह जाने विना अध्यात्मशास्त्र जाना नहीं जा सकता पर्याय उसे कहतेहैं जो सदा नहीं रहता है अथवा जो नष्ट हो जाताहै उसे पर्याय कहतेहैं सरल भाषा में पर्याय का यहीं अर्थ है। जो क्षणिक है और नष्ट हो जाती है उसे पर्याय कहते हैं। अर्थात् पदार्थकी प्रतिक्षण क्षणकी जो अवस्था है उसे पर्याय कहतेहैं एक क्षणकी अवस्था दूसरे क्षणमें नहीं होती चाहे सदृश अवस्थाहो या विसदृश। गुण वह कहलाता है जो तीनों काल रहताहै और किसी कोई न कोई अवस्था रहतीहै उन गुणोंका एक पिंड अभेद वस्तु कहलाती है। देखो, क्रोध, मान माया लोभ ये सब पर्याय है क्योंकि ये सदा नहीं रहते जो चीज दिखतीहैं, अथवा जो चीज नहीं दिखती परन्तु क्षणिक है वह पर्याय है उन सब पर्यायोंमें अनुगत एक जो हमारे ज्ञानके द्वारा गम्य है वह चीज कहलाती है गुण। शांति क्षणिक है वह भी पर्याय हैं चारित्र गुणकी शुद्ध तरंग है परन्तु शांति पर्याय सदृश होकर रहनेवाली चीज है। कषाय और शांतिके आधारमें रहनेवाली जो एक चीज है गुण, उसे चारित्र कहतेहैं। कषाय और शांति इस चारित्र गुणके विकार हैं क्रोध.मान, माया, लोभ भी चारित्र गुणके विकार हैं, परिणमन भी विकार है देखो यहां विकारसे मतलब परिणमनका है इसलिये स्वाभाविक परिणमन भी विकार हैं और वैभविक परिणमन भी विकार है किसी भी वस्तुकी अवस्थाएं निराश्रय नहीं हुआ करती। अवस्था किसकी है किसमें है ये प्रश्न अपने आप उठते हैं। उनका जो उत्तर है उसे गुण कहते हैं, चौकी किसकी पर्याय है ? अणु की। परमाणुओंके समूहसे होने वाली यह परिणति है, समानजातीय पर्याय है।

खम्भा सफेद हैं। यह सफेद पर्याय है क्योंकि यह क्षणिक है। काला नीला सफेद आदि सब पर्याय हैं। परन्तु इस पर्याय का आधार क्याहै ? वस्तुएं आधारके विना नहीं रहा करती। इसलिये इस पर्यायका

आधार वह तत्त्व है जिसका कोई विशेष रंग नहीं है और जो सदा रहता है पर्याय का आधार किसी अन्य अवस्थाको तीनों कालों में नहीं पकड़ता और अवस्था के बिना वस्तु नहीं रहती यह बात आंखों से नहीं जानी जाती है, आंखसे तो खम्भे का रंग ही दिखेगा. परन्तु ज्ञानसे उस रंगका आधार उसका रूप जाना जा सकेगा। अतः पर्यायका आधार जो चीज है वह कहलाता है गुण।

जैसे स्थूल दृष्टान्त लो ऊंगली मुड़ती भी है सीधी भी रहती है और हथेली में भी रहती है। ये सब ऊंगली की— अवस्थायें हैं. परन्तु इन सब अवस्थाओंका जो आधार है वह ऊंगली है। रूप गुण है वह अवस्थारूप में आता है। वहां अवस्था तो पर्याय है व जिसमें यह अवस्थाएँ आती रहती हैं और विच्छेद नहीं होता उसे कहते हैं रूप गुण। खम्भेको रूपकी पर्यायसे देखा अब इसे रसकी पर्यायसे देखें। परन्तु खम्भे की रसकी पर्याय जल्दी प्रतीत नहीं होगा इसलिये रसकी पर्याय से किसी भोज्य पदार्थ को देखो। आम को लो शुरू में कडुवा फिर खट्टा फिर मीठा जब सड़ जाता है तब तीखा हो जाता है ये सब आमकी पर्याय है। ये सब किस आधार पर हैं? रसके। इसलिये वह आमका रस गुण कहलाता है। गन्ध की भी सुगन्ध और दुर्गंध पर्याय हैं इन सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध अवस्थाओं का जे मूल होता है उसे गन्ध कहते हैं यह गन्ध गुण कहलाता है। अब तीनों को आत्मामें घटाओ। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आत्मा की सब अवस्थाएँ पर्याय हैं। परन्तु इनका आधारभूत चारित्र गुण है। स्त्री पुत्र और धनकी श्रद्धा व भगवान की श्रद्धा या सिद्ध आत्मतत्व की श्रद्धा ये सब पर्याय हैं और इन सबका एक रूप जो है वह है श्रद्धा गुण। दर्शन गुण ज्ञान गुण चारित्र गुण ये आत्मामें अलग २ नहीं रहते। अंगूठेसे लेकर शिर तक शरीरके सारे क्षेत्रमें आत्माके प्रदेश फैले हैं इन सब प्रदेशों में ज्ञान दर्शन, और चारित्र सब गुण रहते हैं एक गुण जो मस्तकके प्रदेश में रहता है वही गुण पैरके प्रदेशमें रहता है,। यदि ऐसा नहीं

हो तो कई गुण हो जाय। जो ज्ञान आत्माके एक प्रदेशमें रहता है वही ज्ञान आत्माके सबप्रदेशोंमें रहताहै और जो चरित्र आत्माके एक प्रदेशमें रहता है वही चारित्र आत्माके सभी प्रदेशोंमें रहताहै इसलिये दर्शन ज्ञान और चारित्रका अभेद्य रूप यह आत्मा है। जो प्रदेश ज्ञान गुणमें रहतेहैं वही प्रदेश दर्शन गुण और चारित्र गुणमें भी रहतेहैं। एक गुण सारे प्रदेशोंमें रहता है और एक प्रदेश सारे गुणोंमें रहता है। सारे गुण एक प्रदेशमें रहते हैं और सारे प्रदेश एक गुणमें रहते है। अर्थात् सारे ही प्रदेश सारे गुणोंमें रहते हैं और सारे ही गुण सारे प्रदेशों में रहते हैं।

दर्शन ज्ञान चारित्र आदि सब गुणोंका एक अभेद्य रूप आत्मा है इसप्रकार द्रव्य गुण और पर्याय ये तीन तत्त्व है। शरीर पर्याय है और इसके आधारभूत द्रव्य परमाणु है अनेक (अनंत) परमाणुओंकी स्कन्ध अवस्था है। क्रोध मान माया लोभ आदि भाव पर्याय है, इनकी आधार भूत आत्मा द्रव्य है जो ज्ञानकेद्वारा गम्य है। यहां यह विचारना कि आत्मद्रव्यके साथ किसकी एकता है परद्रव्य का तो अत्यन्ताभाव है उसके साथ तो अपनी एकता है ही नहीं, जो आत्मनिजक्षेत्रमें बात हो उसहीमें अन्वेषण करना युक्त है! आत्मद्रव्यमें रागद्वेषमोह, आदि जो नैमित्तिक भाव होते हैं उसका तो आत्मस्वभावके साथ कारण कार्नकी दृष्टिसे एकता है, व्यक्ति तो शक्ति नहीं हैं। इस ही प्रकार योग भी शक्ति तो है परन्तु कम्पनरूप व्यक्ति स्वभावके साथ ऐक्य नहीं रखता अपूर्ण ज्ञानादि पर्यायें भी यदि स्वभावके साथ ऐक्य रखें तो स्वभाव सीमित होजाय सो तो बात है नहीं तब शेष रही शुद्ध पर्याय. निरूपाधिक होनेसे सर्वथा निमित्तनिरपेक्ष होनेसे (काल द्रव्य तो समान सर्व परिणति मात्र का निमित्त है ही उसकी अपेक्षा का प्रसंग नहीं) द्रव्यके निरुपाधि स्वभावके अनुसार ही दशा है अतः ऐक्य (समानता) तो है परन्तु वह भी प्रतिक्षणवर्ती पर्यायहै क्षणिक है सदृशहै तथापि व्यतिरेकी है तब शुद्धदृष्टिसे स्वभावकी स्वभावतासे एकताहै और व्यवहारसे शुद्ध

पर्यायसे एकता है एवं अशुद्धव्यवहारसे रागादिभावोंका पर्यायकालमें आधार आत्मा है, तो परन्तु तादात्म्य नहीं है अविरुद्धता नहीं है। अतः जब भी आत्मस्वभाव जाननेका उपाय प्रारभ करतेहैंतोअर्हंत सिद्ध स्वरूपसे किया जाताहै, इस उपायमें इसी कारण सुलभता है।

पर्यायमें अपनी बुद्धि मत लगाओ आत्मद्रव्य ही स्वयं एक ध्रुव है उसकी रुचि अथवा दृष्टि पर्यायकी अशुद्धताके निवारणकी साधिका है उसको देखो पर्यायोंपर धोखा न खावो। अपनी भूलसे धोखा खावे पर का व्यर्थ ही नाम लगावे। इन पर्यायोंपर आत्मदृष्टि होना यह तुमारी भूल है। आप यह सोचो कि यदि मैं रागद्वेश आदि भावोंको अहित कारी पर्याय रूप क्षणिक मानूं तो क्या रागद्वेप मोह आदि भूलकर भी मुझे सता सकतेहैं। जब मैं अपने आपमें इनका पुट लगाताहूं तब यह बाह्य पदार्थ मुझे अपने वशमें कर सकते हैं।

जम्बूस्वामी जब संसारसे विरक्ति पारहेथे उससमय उनके चारों ओर उनकी स्त्रियां बैठीहुई ऐसी कथा उनको सुनारहीथी जिससे विरक्ति से उनका मन हटा लिया जाय। स्त्रियोंने कहा कि यह विपयोंका सुख इस संसार में हमें मिलाहै ऐसा परम सुख छोड़कर नग्न दिगम्बर रूप धारण करने की मूर्खता क्यों करते हो भाव उनका यह था, शब्द सभ्य थे, गोदका बच्चा छोड़कर पेटकी आश क्या करतेहो? जिस सुखकी आशामें यह परमसुख छोड़कर तुम जाना चाहतेहो उस सुखका पता भी नहीं कि वह कहीं है भी या नहीं? फिर इस सुखको छोड़ना मूर्खता है। उस कथाके उत्तरमें जम्बूस्वामीने ऐसी कथा कहीं कि सबकी बोली बंद होगई जो उन्होंने कथा कही उसका निष्कर्प यह था कि जिस सुखको तुम परम सुख समझती हो वह तो स्वप्नके सुख है स्वप्नका सुख तो क्षणिक सुख होताहै जो आंख खोलते ही नदारत होजाता है।

एक ब्राह्मणके स्वप्न आया कि किसी राजाने उसको ५०० गायें इनाममें दी उसमें सब एकसे एक हृष्ट पुष्ट थी गायोंको देखकर वह बहुत सुखी होरहा था उसी समय एक ग्राहक आया और उसने कहा मैं

कुछ गायें खरीदना चाहता हूँ । ब्राह्मणने कहा इन गायों में से छाँट लो ग्राहकने उनमें से १०० गायें छांटली ब्राह्मणने एक गाय के सौ सौ रुपये मांगे ग्राहक ने पहिले ५० रुपयें फिर ६०) देना मंजूर किया बाद में ७०) पर बात छिड़ गई ब्राह्मणने कहा कि मैं १००) ही लूंगा और ग्राहकने कहा कि में ७० से ज्यादा नहीं दूंगा उनमें यह झगडा हो ही रहा था कि ब्राह्मणकी नींद खुल गई और उसे वे सब गायें और ग्राहक कुछ मी नहीं दिखाई दिये फौरन उसने फिर आँख मींच ली और कहा कि अच्छा ७० ही सत्तर ही दे जावो परन्तु नींद खुलते ही वह स्वप्न तो समाप्त हो गया अब वह स्वप्न जैसी बात कहांसे आ सकती है। इसी तरह कषायादिक सारे सुख स्वप्नके सुख हैं। ये भी आंख खुलते ही समाप्त हो जायेंगे वैभवका सुख लड़ कि सुख यहां वहाँ की मान्यताके सुख दुनियां के सारे सुख कितने वर्षके हैं। जब आंख खुलेगी अर्थात् जब यह मनुष्य पर्याय छूटेगी या ज्ञान जागेगा तब ये सुख कुछ भी नहीं दिखाई देंगे। और वस्तुतः ये सुख ही नहीं आकुलता ही है। इसलिये जगत के वैभवसे दृष्टी हटाकर यह सोचो कि मैं आत्मा इस जगत में स्वयं एकाकी हूं जगतके इन पदार्थों के लक्ष्य को तोड़कर अपने आपको यदि ज्ञान स्वभावकी दृष्टिसे देखो त तुम्हारा कल्याण ह सकता है

हमारे लिये वे पर्याय क्या हैं जिन्हे हमें छोड़ना है, ? सारे राग, द्वेष क्रोध मान माया लोभ आदि भाव ये हमारा कोई साथ नहीं देंगे। इन सब ही में आत्मबुद्धि हटाओ और आत्मामें आत्मबुद्धि करो यह आत्मा गुणोंका अभेद्य पिंड है उसपर आत्मदृष्टि हो तो पर्यायबुद्धि छूट जाती है और द्रव्यदृष्टि आती हैं और इस द्रव्यदृष्टि को सम्यक् दर्शन कहते हैं। यहां यद्यपि बताया गया कि ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान भी है और अन्य गुण रूप भी है तथापि अन्य गुणोंके ध्यानमें ज्ञाता ज्ञान है तो ज्ञेय ज्ञानातिरिक्त है और जब ज्ञान के द्वारा ज्ञानको ही जाना जावे तो वहां ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय एक है, अतः साक्षात् ज्ञानमय भावनासे ध्येयपर आत्मा शीघ्र पहुंच जाता है। अन्य

पदार्थ गुण के विषय में चिन्तवन किया गया अर्थ यदि विशुद्ध विकल्प अनुराग रहित हो तो उसका भी विशेष गौण होकर ज्ञानमय भावना रूपमें आत्मा अपनेको पालेता। ज्ञानमें सर्व गुण पर्याय ज्ञेयाकारसे गर्भित हो जाते हैं इसी कारण से आत्माका लक्षण उपाय भव ज्ञान स्वभाव से अधिकृत है।

यहां ज्ञान को स्वोन्मुख करके ऐसा अनुभव करो कि मैं ज्ञान स्वरूप हूं, शुभ अशुभ भाव एवं अन्य वस्तु मैं नहीं हूं, यही प्रतीति अनुभूति क्रमशः यथा शीघ्र उत्तरोत्तर निर्मलताका कारण बनकर कैवल्योपलब्धिका मूल बन जाता है हमें प्रत्येक उपदेश से धर्म लेना है धर्म आत्मस्वभाव है वह पुण्य पाप रहित अकषाय ज्ञानमय भाव है उसकी दृष्टि करना है अतः इस प्रकरणमें धर्म यही प्रतिभात है कि आत्मा-अनन्तगुणात्मक है उनमें प्रधान ज्ञान गुण है सो यद्यपि आत्मा अनंत गुणात्मक है तथापि पी लिया है सर्व धर्म गुण पर्यायोंको जिसने ऐसे ज्ञानकी भावनासे शुद्ध आत्मानुभूति है। देखो भैया इस गाथामें कहा गया कि आत्मा और ज्ञानमें एकपना भी है और अनेकपना भी है। ज्ञान आत्मा ही है। परन्तु आत्मा अनन्त धर्मोका एक आधार होनेसे आत्मा ज्ञान रूप भी है जब ज्ञान आधारके द्वारा विचारें तो ज्ञान है और अनन्तधर्मोंके द्वारा विचारे तो आत्मा अनेक भी है। रूप पुद्गल ही है परन्तु पुद्गल रूप भी है। स्पर्श भी है, गन्ध भी है, रस भी है। इसी तरह ज्ञान तो आत्मा ही है परन्तु आत्मा ज्ञान भी है, दर्शन भी है और चारित्र भी है। उसी आत्माको उसी आत्मामें रहनेवाले ज्ञान गुण की दृष्टिसे देखो।

यह आत्मा मानोएक दर्पणहै जैसेदर्पणके पीछेचार लड़के खड़ेहैं दर्पणको देखकर यह कहा जाता है कि यह दांत निकाल रहा है या जीभ निकाल रहा है आदि। दर्पणको देखकर सबका सब वर्णन किया जा सकता है। इसी तरह यह ज्ञाता द्रष्टा सर्वज्ञ एक ज्ञान स्वभावको जान रहा और उसे जानने से ही सारे लोकको जान गया। निश्चयसे जैसे वह

दर्पणमें ही देख रहा परन्तु व्यवहारसे उन सब लड़कोंकी चेष्टाको भी देख रहा है। ज्ञानके जाननेमें ही सबका जानना आया। इसी कारण आत्माके ज्ञानगुणकी विशेषतासे जाननेका उपदेश दिया गया है। इस आत्माको ज्ञान गुणके द्वारा देखो। यद्यपि आत्मा ज्ञान गुण मात्र ही नहीं है दर्शनगुण चारित्रगुणरूप भी है। समस्त गुणोंका एक स्वरूप यह आत्मा है तथापि इस आत्माको ज्ञानगुणकी प्रधानतासे देखो यह उपदेश इसलिये है कि यदि निर्विकल्प होना है तो वह स्थिति प्रयोगमें आवे। जहां ज्ञान, ज्ञान हो जाय ज्ञाता भी ज्ञान हो जाय एवं ज्ञेय भी ज्ञान हो जाय। अपनेको शरीररूप मत विचारो, क्रोध, मान, माया, लोभ आदिके रूप भी मत विचारो, मैं ऐसा हूँ अमुक मुहल्ले में रहता हूं यह भी मत विचारो, मैं सुखिया हूं यह भी मत विचारो; मैं श्रावक हूं या मैं त्यागी हूं या मैं ब्रह्मचारी हूं क्षुल्लक हूं, साधु हूं, ऐलक हूं। इन सबमें भी ज्ञान स्वभावकी श्रद्धा मत करो। यह सबकी सब पर्याय हैं हाँ सिद्ध पर्यायमें परिणति स्वभावके अनुरूप है सब पर्यायोंसे अपनी दृष्टि हटाकर सब गुणोंके पिण्ड आत्मद्रव्यमें अपनी दृष्टि जमाओ।

पर्यायोंमें आत्मबुद्धि नहीं करनेको ही अर्थात् निर्विकल्प अखंड निज स्वभावके अनुभवको ही मोक्षमार्ग कहते हैं। एक बार भी यदि आत्म प्रतीति का अनुभव होगा तो इसके फलमें इसका सुख अनन्त काल तक अनन्त सुखके रूपमें अविकल धारासे मिलेगा, सम्यक्त्वकी पांच आराधनाएं हैं, उद्योतन, उद्यापन, निर्वहण, साधन, निस्तरण, अपने निर्मल सम्यक्दर्शनको पैदा करो। जोसम्यग्दर्शनको निज आत्मा में मिला रहा उसमें चमक देरहा और फिर उसी अवस्थामें जिन्दगी भर निभाता रहा, कितनी ही विघ्न बाधाओंसे नहीं डरा उनकी साधना बना रहा और मरण समय आया तो इस भवके बाद अगले भवमें भी उसी क्रमसे चला तब यह धारा अमृतसागर में ही मिलकर पूर्ण होती है ये सम्यग्दर्शनकी पांच आराधनायें हैं। सो भैया इसी आयुमें कुछ नहीं धरा है, यह बहुत दिनों तक नहीं रहती है, इससे आत्मबुद्धि

हटाओ और निज आत्मामें आत्मबुद्धि करो इसीसे अनन्त सुखकी प्राप्ति होगी।

अब ज्ञान ज्ञेयका परस्पर गमन होता है ऐसा यदि भाव आवे तो उसका खंडन करते हैं। वस्तुतः जो चीज है उसका खंडन क्या? और जो चीज नहीं उसका खंडन क्या? इस प्रकार न तो सत्‌का खंडन हो सकता है और न असत्‌का खंडन हो सकता है। तब वस्तु स्वरूपके विरुद्ध किसीका अभिप्राय हो तो उसका खंडन हो सकता है, इस कारण ज्ञानके विषयमें कुछ भी खंडन नहीं करना और ज्ञेयके विषय में भी कुछ खंडन नहीं करना है किन्तु मात्र इस मान्यताका कि ज्ञान ज्ञेय में जाता है अथवा ज्ञेय ज्ञानमें जाता है इसका खंडन किया जा रहा है। अथवा यह खंडन नहीं किया जा रहा है किन्तु अविवेकी किसी भी पुरुषकी विपरीत मान्यताको दूर करके उसके स्वभावके उत्थानका मंडन किया जा रहा है।

णाणी णाणसहावो अत्था णेयापगा हि णाणिस्स।
रूवाणिव चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

ज्ञानी तो ज्ञान स्वभाव ही है और पदार्थ ज्ञेय स्वरूप ही हैं ऐसा इन दोनोंका भिन्न भिन्न स्वरूप है इस कारण परस्पर अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ होनेसे कोई किसीमें प्रवेश नहीं करता। यहां प्रश्न होता है कि ऐसा संशय क्यों हुआ? जिसका विवरण करना पड़ा तो इसका उत्तर यही है कि ज्ञान ज्ञेयका ज्ञायक ज्ञेयमात्र सम्बन्ध है। ज्ञान और ज्ञेयका ऐसा सम्बन्ध बताता गया है जिससे कहा जाता है ज्ञानका ज्ञेय और ज्ञेयका ज्ञान। जैसे लौकिक जन कहते हैं कि पति की पत्नी और पत्नी का पति जैसे पत्नि में पति का रूप नहीं चला गया और पति में पत्नी का रूप नहीं चला गया वैसे ही ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध होनेपर भी ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता और ज्ञान ज्ञेयमें नहीं प्रवेश करता। अन्य दृष्टान्त लो जैसे पिताका पुत्र और पुत्रका पिता। यहाँ पुत्रका पिता कैसा पिता

का पुत्र कैसा। क्योंकि न पुत्र का रूप पितामें जाता और न पिताका रूप पुत्रमें जाता हैं, परन्तु पितृत्व और स्वामित्वसे पिता और पुत्रका तथा पति और पत्नीका नाता कहा जाता है किसीने पूछा कि बताओ पिता पहिले उत्पन्न हुआ या पुत्र या पूछे कि पति पहिले हुआ या पत्नी? मर्मके न जानने वालोंके द्वारा पूछने वालेका मजाक उड़गया और कहा गया कि प्रत्यक्ष है कि पिता बड़ा होनेके कारण पहिले जन्मा। परन्तु ज्ञानीने कहा कि पिता और पुत्र दोनों एक साथ उत्पन्न हुए। क्योंकि जिस कालमें पुत्र उत्पन्न हुआ उसी कालमें वह पिता बतलाया गया। पुत्र के जन्मके पहिले तो वह पिता नहीं था उसका पिता नाम पुत्रके जन्मके कालसे ही पड़ा। इस लिये कहा गया–पिता और पुत्र दोनों एक काल पैदा हुए। यही बात पति पत्नी के सम्बन्ध में लगा सकते। संस्कार के समय ही एक साथ दोनों हुए पति व पत्नी। इसी तरह ज्ञान और ज्ञेयका संबंध है फर्क इतनाहै कि वह वैकारिक है यह प्राकृतिक है। ज्ञानमें ज्ञेय नहीं गया और न ज्ञेय ज्ञानमें पहुंचा। परन्तु ज्ञान ज्ञेयमें आया और ज्ञेय ज्ञान में गया।

निश्चयनयसे ये ज्ञान और ज्ञेय अपने २ स्थान पर हैं। कोई किसी में घुसा नहीं फिर भी उनके सम्बन्धसे दोनों एक दूसरेमें गये। देखो भैया हमारी आंख अपने स्थानपरहै और ये सब पदार्थ भी अपने २ स्थानपर हैं परन्तु हमारी आंखोंने इन्हें देखा और पहिचाना इसलिये कहाजाता है कि यह सब पदार्थ हमारी दृष्टिमें आए और हमारी दृष्टि इन सब पदार्थोंमें गई। यह न समझना कि हम कुछ नहीं देखते और न यह समझना कि हम परको देखतेहैं हमारी दृष्टि सबमें हैं परन्तु न हमारी आंखे सबमें हैं और न सब हमारी आखोंमें हैं। दृष्टी और आंखें सब पदार्थोंमें गईं एवमेव ज्ञान ज्ञेय ज्ञायक का सम्बन्ध होने के कारण अन्योन्यवृत्तिका सम्बन्ध जो एक भावको लिये हुए था साधा गया। ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध इसी प्रकारका है इसलिये यह कहा जाता है कि ज्ञान और ज्ञेय एक दूसरेमें पहुंचते। ज्ञानमें ज्ञेय पहुंचता

और ज्ञेय में ज्ञान पहुंचना।

ये पदार्थ ज्ञानीको अपना आकार सौंपनेमें कुशल है और यह ज्ञानी उन पदार्थोंका आकार ग्रहण करनेमें कुशल हैं। जैसे दर्पण है, उसके सामने कोई चीज रखदी तो चीज तो दर्पणको अपना आकार सौंप देती और दर्पणने उसका आकार ग्रहण किया, हाला कि प्रत्यक्ष रूपमें न वह चीज दर्पणमें घुसी और न दर्पण उसमें। परन्तु वस्तुने अपना आकार सौंपा और दर्पणने ग्रहण किया जिससे प्रतिबिम्ब पैदा हुआ। आकार भी उसने नहीं सौंपा और न दर्पणने उसका आकार लिया किन्तु यह कथन निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बतानेकेलिये ही प्रयोजक है। इसी प्रकार ज्ञेयने अपना आकार दिया और ज्ञानने उसका आकार ग्रहण करलिया। ज्ञेयपदार्थ तो अपना आकार सौंपने में चतुर होरहा है और ज्ञान उसका आकार ग्रहण करनेमें चतुर होरहा है। तभी ज्ञानने ज्ञेयको जाना ऐसा ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध है कि ज्ञेय अपना आकार देनेमें समर्थ है और ज्ञान उसका आकार ग्रहण करनेमें समर्थ है। इसतरह दोनोंमें सम्बन्ध स्थापित होगया इस सन्बन्धमें मुनाफा किसे ज्यादा मिला ! किसी को भी नहीं और दोनों को तथा मुख्यतया ज्ञानको। प्राणीके परको जानने की चाह होती है परके जाननेमें तद्विपयक चाह मिट जाती हैं यह जिज्ञासुओंकी बात हैं तथापि वीत राग छद्मस्थोंके जिज्ञासा न होने से आकुलता नहीं है फिर भी वह अकुलता विशद स्थायी रहे इस लिये शुद्ध आत्माके इस विशिष्ट स्थिरता से सर्वज्ञता आती ही है जब सर्वको जाना अब आकुलता की किसी समयमें भी संभावना नहीं अथवा ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है, विशुद्ध निर्मल होने पर स्वभाव का कार्य होता ही है।

यह ज्ञान ज्ञेयका संबंध और अत्यन्ताभाववाला रहस्य ज्ञानियों को सुप्रतीत है इसमें शंकाका स्थान नहीं। दोनों बातों की दो दृष्टियां हैं अतः इसका एक साथ विवेचन या विचार कठिन है परन्तु प्रतीति

में दोनों बातें एक साथ हैं और भी देखिये किसी ने तुम्हें गाली दी। परन्तु गाली तुममें नहीं गई और तुम गाली में नहीं गये, गाली भाषा-वर्गणाका एक परिणमन है जिसके मनुष्य ही दो टुकड़े कर देता १ इष्ट २ अनिष्ट। वस्तुतः देखे तो कोईभी शब्द न इष्ट और न अनिष्ट है,शब्दों के अर्थ से भी देखो तो प्रायः जो गालियोंके नाम हैं वे आदर का भाव रखते हैं। जैसे नंगा अर्थात् जो नग्न पूज्य साधु हो। लुच्चा जो केशों का लुञ्च करे ऐसा आदर्श साधु। पुंगा अर्थात् पुंगव जो श्रेष्ट हो लफंगा– लफ गये हैं अंग जिसके वह लफंगा है अर्थात् विनयशील। छिनार (क्षीणारि)– क्षीण होगये हैं गुणघाती कर्म जिसके वह क्षीणारि जिनेन्द्र प्रभु इत्यादि। परन्तु जिस पुरुष को ये शब्द कहे जावे वह पुरुष ऐसा उत्कृष्ट नहीं है तो वह गाली ही समझता है। खैर! प्रकृत यह है कि गाली स्वयं इष्ट अनिष्ट नहीं है। वह एक भाषा वर्गणाका स्कंध है उसका तुममें अत्यन्ताभाव है परस्पर गमन नहीं। इसी तरह ज्ञेयमें ज्ञान नहीं घुसता और ज्ञानमें ज्ञेय नहीं जाता, परन्तु फिर भी दोनोंमें सम्बन्ध है मात्र ज्ञेय ज्ञायकपनेका। क्योंकि ज्ञानने ज्ञेयको जाना। यहां वस्तुतः अन्तर्ज्ञेयाकार ही जाना गया है वह ज्ञेयाकार कहाँ से प्रगट हुआ है ज्ञान स्वभावमें से, उस ज्ञान स्वभावके अवलम्बन में रागादि फिर होने का पुरुषार्थ जागृत होता है। उस ज्ञान स्वभावके अभेद रूप निजके जाननेसे तदनंतर निर्विकल्प दशामें केवल ज्ञान पैदा हो जाता है। आत्मा और पदार्थ एक दूसरे में प्रवेश नहीं करते फिर भी आत्मामें पदार्थ आगये और पदार्थोंमें आत्मा चली गई। आत्मा और पदार्थोंका यह सम्बन्ध ज्ञानद्वारा हुआ क्योंकि ज्ञान सर्व-गतहै ज्ञान सब पदार्थोंमें पहुंच गया,यहां इस ज्ञान भावको प्रदेश संयुक्त दृष्टिसे न देखें।

ज्ञान प्रमाण आत्मा है और ज्ञान ज्ञेय को जानता है तब गुण गुणीके अभेद विवक्षामें आत्मा भी सर्वगत हो गया, तब लो यह आत्मा सर्व व्यापक है है ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध आत्मा और ज्ञेय

में सम्बन्ध कराता व परन्तु ज्ञान अपने आधारमें रहता है और ज्ञेय अपने आधारमें रहता है कई तरीकोंसे पदार्थका ज्ञान करो, फिर पदार्थ का अनुभव होनेपर तरीकोंकी आवश्यकता नहीं रहती, सर्व कुछ जानने पर तत्त्वभूत जान लेनेपर क्या करना रहजाता है,ज्ञाता मात्र रहना रह जाता है । किसी की परिणतिसे अन्य नहीं परिणमता है इस स्थिति का बोध होनेपर क्षोभ ही नहीं है । पर्यायदृष्टिसे पदार्थ अनित्य है, तो द्रव्यदृष्टिसे नित्य है । तीनों काल रहते हैं और स्वतन्त्र रहते इसलिये नित्य है । परन्तु अवस्थाकी दृष्टिसे अनित्य है । शरीर क्या है वह भी अनित्य है, इस प्रकार अनेक दृष्टियोंसे पदार्थको जाना और जाननेके पश्चात् निश्चयनयको भी मत देखा और व्यवहार नयमें भी मत पड़ो प्रमाणरूप अनुभवरूप रहो । व्यवहारनय भी छूटा और निश्चयनय भी छूटा और अनुभव चीज सामने आई ।

निश्चयनय और व्यवहारनय तो उसको जाननेके तरीके मात्र है । तरीकों में ही बुद्धि खर्च की गई तो वस्तुका वास्तविक अनुभव नहीं हुआ । तरीकोंके सहारे उस वस्तुको देखना चाहिये और केवल तरीकों को ही नहीं पकड़ लेना चाहिये । ऊंगलीसे मोटरकी तरफ इशारा करके उसे बताया गया कि मोटर वह खड़ी है । परन्तु उंगलीके सहारे देखकर अंगुलियोंको छोड़कर दूरवर्ती उस मोटरको यदि नहीं देखा गया और मात्र उंगली ही को देखा गया तो मोटर कहां दीखी । इसलिये उंगली को ही मत देखो, बल्कि ऊंगलीके सहारेसे दूर देखो । तब ही मोटर का ज्ञान होगा । इसलिये तरीकेको ही न देखकर तरीकेके सहारे वस्तुका अनुभव करना चाहिये । व्यवहार और निश्चयनय की दृष्टिसे यदि चीजका सर्व सम्यग्ज्ञान कर लिया तो अब व्यवहार और निश्चय को छोड़कर उस वस्तुका अनुभव करने लग जावो अर्थात् विश्रान्त हो जावो, यदि व्यवहार और निश्चयनयको ही पकड़े रहे तो वस्तुका अनुभव नहीं होगा ।

यहां यह क्रम समझना कि प्रथम जगत उपचारके संकल्पमें जुटा है। वह

पहिले सत्य व्यवहार पहिचानें सत्य व्यवहारकी पहिचानमें निश्चयका मंतव्य निमित्तहोरहा है। सत्य व्यवहारके अनन्तर निश्चयनयके मन्तव्यमें व्यवहारके अविरोधेन दृष्टि जमावे,पुनः निश्चयनयके सूक्ष्मविकल्पकोभी छोड़कर अनुभव दशामें रहा जाता है। इसकी सिद्धिके प्रयोजनकेलिये ज्ञानियोंने वस्तु स्वरूपको व्यवहारका आलम्बन लेकर मात्र कहाहै। सर्व पदार्थ अत्यन्ताभाववाले हैं परस्परमें किसीका समावेश नहीं है,अतः आत्मा पदार्थमें नहीं जाता और पदार्थ आत्मामें नहीं जाता परन्तु आत्माका स्वरूपज्ञाव स्वभावसे जो जाना गया है उससे हमने इस पदार्थका अनुभव कर लिया, केवल इस ज्ञान द्वारा जान लेनेसे हमने उन पदार्थोंका मात्र जानन रूप अनुभव कर लिया। मानों उन ज्ञेय पदार्थोंने अपना आकार आत्माको सौंप दिया और आत्माने उनका आकार ग्रहण करके उनका अनुभव कर लिया। ज्ञान हो जाना और ज्ञेय हो जाना, यही देना और ग्रहण करना है इससे तीनों लोकोंमें जितने पदार्थ हैं वे ज्ञानके साथ आत्माके सब प्रदेशोंके संसर्गमें ज्ञेय मात्रसे आते हैं। केवलज्ञान सर्वज्ञपना है उसके उपजने पर ज्ञानी सर्व ज्ञेयका आकार ग्रहण करनेमें समर्थ होजाता है। यहाँ भी न ज्ञेय ज्ञानी में जाते और न ज्ञानी ज्ञेयमें जाता। फिर भी ज्ञानीने ज्ञानसे उनको अपनी आत्मामें ग्रहण कर लिया।

यहां यह भावना करो यह सोचो कि मैं स्वतन्त्र हूं, मैं किसीमें प्रवेश नहीं करता, मैं तो एक स्वतन्त्र आत्मा हूं, निश्चल, निष्काम, सबसे पृथक् हूं, मुझमें कोई चीजका प्रवेश नहीं हुआ। फिर क्या उन सबसे संसर्ग बनाता हूं? इनसे हमारे ज्ञानस्वभावमें बड़ी बाधा पड़ती है। गृहस्थीके आश्रयसे जो बना यह विकल्प, वह आत्मासे नहीं छूटता हो, परन्तु इसको छोड़ना चाहिये। पदार्थ तो पहिले ही छूटे हुए हैं यह विकल्प नहीं छूटता, इस विकल्पको छोड़ना चाहिये। मनमें एक दफा यह उत्साह तो लाओ कि सचमुच जब मुझमें कोई पदार्थ नहीं आता, तो मैं ही उनका विकल्प क्यों आने दूं। उनसे अपना

मोह छोड़ो।

देखो भैया। अपने पुत्रसे मोह करते हो परन्तु दूसरेके पुत्रसे नहीं करते ! तुमने जिस प्रकार दूसरेके पुत्रको ज्ञानसे जान तो लिया परन्तु तुम्हारा उससे मोह नहीं हुआ, उसी प्रकार तुम अपने पुत्रको चाहे जानते तो रहो, परन्तु उसमें भी मोह मत लाओ पुत्र अथवा स्त्री अथवा अन्य कुछ ये सब तो नष्ट हो जानेवाले सम्बन्ध है, फिर इनमें क्यों मोह लातेहो ? कितना सा जीवनहै इसे उधेड़ बुनमें ही लगाया तो मनुष्य होनेका लाभ क्या ? पर तो पर ही है इसके आश्रयको बनाकर जो वि कल्प रूपसे परिणमता है वह बड़ा कष्टहै। विकल्पोका भार ही तो अनादिसे अब तक बढाया, क्या महत्त्व पाया, आत्माका महत्त्व हित सहज आनंदरूप धर्ममें है। धर्मकरनेकेलिये आत्मस्वरूप जानना प्रथम कर्तव्यहै। आत्मा ज्ञानमय है समस्त पर ज्ञेयोंसे भिन्नहै इस ज्ञानका स्व रूप क्याहै?जो अनुभवसे पहिले ही पहिचानहै इसका ही यह प्रकरण चल रहा है वह ज्ञानअन्तर्ज्ञेयाकारमय है।अन्तर्ज्ञेयका आकार वैसाहै जैसा कि सनसत् है,यह कैसा अलौकिक सम्बन्ध है इसीप्रकारसे विपरीत पद्धतिसे भी देखो-जैसा सर्व सत् है वैसा अन्तर्ज्ञेयाकार है। यह अंतर्ज्ञेयाकार ज्ञान स्वभावका ही तो परिणमन है मैं ज्ञान स्वभावमय ध्रुव हूं ऐसा प्रतीत कर उसमें स्थिर होना सो धर्म है। ऐसी दृष्टि करना ही युक्त है परिग्रह तो भार ही है, इसके आश्रय अपनेको मलिन मत करो।

एक राजा था, वह बडा कंजूस था एक बार उसके दरबार में नट और नटनी नाचने और गाने आये । रातभर नट और नटनीका नाच और गाना ठाट से होता रहा राजाने उसे अब तक कोई पारितो-षिक न दिया जब आखिरी रात का समय आया और दिन निकलनेमें थोड़ा ही समय रह गया उस समय रातभर नाचते २ थक चुकी थी उसने कहा कि मैं तो अब थक गई हूं और अब धीमी ताल बजाओ नटने यह सुना तो उसे चिन्ता हुई और उसने नटनीसे दोहा कहा—

"गई बहुत थोडीरही,थोडी हूतो जात ।अब मत चूको नट्टनी फल मिलने

की वार ।। इस दोहेका तात्पर्य यह है कि समय बहुत व्यतीत हो चुका अब समय थोड़ा ही है यदि इस ही अंतिम शेष समयमें चूक गये तो सब किया बेकार हो जायगा और इस समय सावधानीसे अपना प्रकृत उचित तव्य करोगी, ते हे नटनी इसका उत्तम फल पावोगी, फल मिलनेका समय तो यह ही है। इस दोहेसे नटनीका उत्साह बढ़ गया और उसने जोर २ से नाचना चालू कर दिया।

यह दोहा राजाके लड़केने भी सुना, तो सुनते ही उसने अपना एक लाख रुपयोंका हार नटको देदिया। राजाने यह देखा तो उसे बड़ा रंज हुआ कि नाचका इतना बड़ा इनाम नहीं हो सकता। अधिक से अधिक ५०) इनामके दे दिये जाते, परन्तु मेरे लड़केने तो एक दम एक लाख रुपयेका हार देदिया वह इस प्रकार सोच ही रहा था, कि राजकुमारीने भी अपना एक लाख रुपयेका हार नटको दे दिया अब तो राजाको और भी रंज हुआ कि ये तो और भी गजब हो गया, इस तरह तो मैं लुट जाऊंगा, इसे अधिक दातव्य होता तो दो बार में १००) रुपये देदिये जाते ठीक थे परन्तु यहाँ तो दो लाख रुपयेके हार दे दिये गये। इतनेमें ही वहाँ बैठे एक साधुने भी अपना ५००) का दुशाला नटको दे दिया, राजा सोचने लगा कि यह स्वप्न तो नहीं देख रहा, यहां तो सबको मूर्खता ही सूझ रही, इन ज्ञानी महात्माको भी यह क्या सूझी, उन्होंने अपना दुशाला क्यों दे दिया। नट तो बहुत संतुष्ट होकर खेल दिखाकर अपने घर गया।

अब खेलके बाद राजाने लड़केको अलग बुलाकर पूछा कि तुम ने उस नटकी किस बातपर प्रसन्न होकर अपना एक लाखका हार दे दिया। लड़केने उत्तर दिया कि पिता जी मुझे इस नटसे इतना ऊंचा उपदेश मिला कि सब कुछ भी देकर उऋण नहीं हो सकता था। मैंने यह पहिलेसे सोचा था कि आप ८० वर्षके हो गये, परन्तु आप अब भी अपना राज्य मुझे नहीं सौंपना चाहते थे, मैंने यह विचारा था कि मैं कलके दिन रसोईयासे मिलकर आपके भोजनमें विष मिलवा दूंगा,

ताकि आपकी मृत्युके पश्चात् इस राज्यका मैं मालिक बन सकूं, परन्तु नट द्वारा कहे गये दोहे से मुझे ज्ञान आ गया कि अब आप ८० वर्षके तो हो ही गये। कुछ दिनोंके ही और महमान हैं, आपके मरनेके बाद राजका मालिक मैं ही तो होऊंगा और कोई हो नहीं सकता। फिर मैं क्यों अभी हो आपकी हत्या करूं। इस ज्ञानके आ जानेसे आप की हत्यासे मैं बच गया तो वह एक लाख का हार इस बातके सामने क्या चीज है। यह बात सोच कर मैंने अपना हार नट को दे दिया।

फिर राजाने अपनी लड़कीको बुलाया और उससे भी पूछा कि तुमने अपना हार नटको क्यों दिया? उसने उत्तर दिया कि हमारा अनुराग वजीरके पुत्रमे था। मैं उससे शादी करना चाहती हूं, परन्तु वह गरीब है अतः आप उससे हमारी शादी नहीं करेंगे, क्योंकि यदि आप उससे हमारी शादी करते हैं तो आपको उसे १० या २० गांव भी दहेजमें देने पड़ते, क्योंकि आप अपने दामादको गरीब रूपमें कैसे देख सकते। इस लिये आप उससे हमारी शादी तो नहीं करते, तब मैं ने सोच लिया था कि कल रातको उसके साथ भाग जाऊंगी। परन्तु नटके दोहेसे हमको ज्ञान हो गया कि अब आप थोड़े दिनोंके लिये और जिन्दा है। आपके मर जानेके बाद भैया राजा बनेंगे और हमारी इच्छाके मुताबिक हमारी शादी उस वजीरके लड़के साथ कर ही देंगे क्योंकि उनकी हमारे ऊपर कृपा है। अतः पिताजी यदि मैं भाग जाती तो आपको कितना कलंक लगता। उस दोहे ने आपको और मुझको छकलंकसे बचा लिया इस कलंकके बच जानेके सामने एक लाख रुपये का हार कोई चीज नहीं। यह सोचकर मैंने अपना हार दे दिया।

इसके अनंतर राजाने साधुको बुलाया और पूछा कि महाराज आप तो ज्ञानी हैं आप कैसे ठगाये गये. आपने नटको अपना एक मात्र दुशाला भी क्यों देदिया? साधुने उत्तर दिया कि राजा मेरी आपके करीब ७५ साल की आयु हो गई इस उम्रमें हमने खूब ठाट बाट देखा परन्तु जिस

उत्तम बातका आज तक विचार भी न आया था यह उत्तम विचार आज इस नटके उपदेशसे मिला । इस दोहेने हमको चेता दिया । हमने सोचा कि इतनेसे जीवनकेलिये क्यों इन चीजोंसे मोह पैदा करें । इतना अच्छा दुशाला अब नहीं रखना चाहिये क्योंकि अब तो फल मिलनेकी बार है । थोडी ही सी तो आयु शेष है शुद्ध भावोंसे अपनी चर्या बनाकर आत्मोद्धारमें लगनेकी प्रेरणा आज मिली । इसबार मैं क्यों चूक करूं ? राजन् इस जीवने अनादिसे लगे हुए भ्रमणमें कितने ही भव ऐसे पाये होंगे जहां वैभव साम्राज्य बहुत बहुत पाया है किन्तु उससे संतोषकी बात तो दूर रही तृष्णा ही बढ़ी । यहां भी जो कुछ पाया है उससे शांति तो नहीं किन्तु आकुलता ही बढ़ी नटके दोहेसे जो जागृति मिली उसका पारितोषिक दुशाला तो ना कुछ चीज है फिर भी जो था से देदिया ।

इन बातोंको सुनकर राजाको भी ज्ञान उपज गया उसने तुरन्त अपना राज्य अपने लड़केको सौंप दिया लड़कीकी शादी उस वजीर के लड़केसे करदी और और खुदने उन साधुजीसे सन्यास धारण कर लिया इस प्रकार ज्ञान उपजनेपर ऐसे कंजूसने भी अपना सर्वस्व त्याग कर सन्यास धारण कर लिया । इस दोहे से सब भाईयों को शिक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिये किसीकी उम्रका कोई ठिकाना नहीं । २० वर्ष का आदमी भी यह नहीं जानता कि अब उसकी आयु कितने दिन शेष है अतः सबको अपना धर्म समझना चाहिये ।

अपने आत्मतत्त्वको समझो और सोचो कि जगतकी किसी भी चीजसे हमारा सम्बन्ध नहीं हमतो ज्ञाता मात्र ही हैं सर्व पदार्थ अपनी अपनी सत्तासे हैं व परिणमते हैं किसी के स्वरुपमें किसीके स्वपरूका प्रवेश है नहीं । इस प्रकार इस प्रकरणमें कह बात बताई कि ज्ञानमें ज्ञेय नहीं नहीं जाता और ज्ञेयमें ज्ञान नहीं जाता । वे तो जुदा जुदा ही हैं । ज्ञान स्वरूप वह आत्मा अन्तमें एकाकी रह जाता परन्तु फिर भी भ्रममें पड़कर विकल्पोंमें फ़सता अन्तमें व्याजमें क्या क्या मिलता?

दुर्गति। ठीक ही है विकल्पका फल तो आकुलता ही है अधर्मका फल तो दुःख ही है, पर द्रव्य पर ही है उसका अपनाना चोरी नहीं तो क्या है इस ममत्व का फल संसार क्लेश ही है।

एक चोर एक घोड़ा कहीं से चुरालाया वह चोर किसी दूर गांव के बाजारमें बेचने ले गया कुछ आदमी उस घोड़ेको खरीदने आये तो उसने उसको कीमत एकहजार रूपया बताई जबकिवह ज्यादासे ज्यादा २००) की कीमतका था, वे वापिस चले गये। एक बार एक दूसरा चोर भी उसे खरीदनेको आया उसे भी उसने वही कीमत बताई. चोर फौरन समझ गया कि यह तो चोरीका माल है तब ही यह कोई चोरी का न समझने पावे! इससे इसकी इतनी कीमत मांगता है उसने भी चालसे जान लिया और कहा कि अच्छा भाई तुम्हें १०००)ही देंगे ज़रा उसे दिखाओ तो सही. उसकी कला तो देखूं। इतने तुम जरा मेरे हुक्केको पकड़ लो। इस बहाने वह घोड़ा लेकर भाग गया। फिर उस से कुछ लोगोंने पूछा कि तुम्हारा घोड़ा बिक गया क्यो? उसने कहा हां भैया बिक गया। कितनेमें बिका है जितने में खरीदा था। कुछ भी नफा नहीं हुआ? भाई नफेमें यह हुक्का मिला है। इसी तरह हम सब लोग जगतके बन्धनोंमें मुफ्तमें मिल गये, नफा क्या हुआ? केवल दुर्गति। इस जगतमें हमारे साथ कुछ भी नहीं रहेगा।

अतः इन सब बाह्य पदार्थोंसे लक्ष्य छोड़कर अपने आत्मकल्याणमें लगो। तब ही अनन्त सुखकी प्राप्ति कर सकोगे। जगतमें सर्व पदार्थ पर है उनको अपना मानना ही आन्तरिक चोरी है। इस चोरी का त्याग करके अपने ज्ञान सुख वैभवसे सत्य गौरव अनुभव करो? यही सुख का मार्ग है।

उक्त प्रकारसे ज्ञान व ज्ञेयमें दोनों बातें सिद्ध की गई कि ये परस्पर गमन नहीं करते तथापि ज्ञान ज्ञेयाकारोंको ग्रहण कर लेता है और ज्ञेय अपना आकार ज्ञानको समर्पण कर देता है. तथा ये दोनों ज्ञेयाकार के ग्रहण समर्पणमें प्रवण है तथापि कोई किसीमें नहीं है। इसी प्रकार

गुण गुणी की अभेद विवक्षामें ज्ञानी आत्मा पदार्थोंमें वर्तमान नहीं है, तथापि ऐसी शक्तिकी विचित्रता है कि आत्मा सब देख जान लेताहै उस की पदार्थोंमें प्रतीति होती है। इसी शक्तिकी विचित्रताको प्रकट करते हैं-

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणादि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९

अतीन्द्रिय ज्ञानी अथवा इन्द्रियज ज्ञानसे अगम्य यह ज्ञानी प्रविष्ट भी नहीं, अप्रविष्ट भी नहीं, वह तो मात्र अशेष जगतको जानता है। जैसे कि चक्षु रूपको जानता है यह उदाहरण मात्र है। यहाँ भी जानने वाला आत्मा ही है आजके प्रकरणमें बताया गया कि यह ज्ञानी ज्ञेयोंमें प्रविष्ट नहीं है और प्रविष्ट नहीं है ऐसा भी नहीं है। ज्ञानी ज्ञेयों में है; और ज्ञेयोंमें नहीं भी है ज्ञान अपने प्रदेशको नहीं छोड़ता, फिर भी वह ज्ञेयको जानता । आंख अपने प्रदेशको नहीं छोड़ती, परन्तु लोक दृष्टिसे पदार्थों को जाननेमें वह काम आती और उनका आकार प्रकार जो भी है उसे स्वीकार करती। जिस तरह पदार्थोंमें नहीं प्रवेश करती हुई भी, चक्षु उनमें प्रवेश करती है। इसी तरह यह आत्मा भी अपने स्थानको न छोड़कर पदार्थोंको जानता है यह आँख पदार्थोंमें प्रवृत्ति नहीं करती। परन्तु आत्म प्रदेशमें रहते हुए भी यह आंख उन पदार्थोंके देखनेमें निमित्तहै और यह पदार्थ आँख द्वारा ज्ञानमें आते हैं अर्थात् ज्ञान चक्षु द्वारसे स्वयं जानता है। ज्ञान मात्र वर्तमानको ही नहीं जानता। किन्तु वह ज्ञान भूत और भविष्यको भी जानता यदि "पदार्थको जाननेके लिये ज्ञान पदार्थोंमें पहुंच सकता" ऐसी बात रखें तो भूत भविष्यमें ज्ञान नहीं पहुंच सकता क्योंकि ज्ञान घुसता तो वर्तमान ही में फिर भूत और भविष्य के परिणमन जो वर्तमान असत् है उसमें ज्ञान कैसे पहुंचे। तब भूत भविष्य अज्ञेय होनेसे असत् होगये, फिर भूत और भविष्य भी वर्तमान में कैसे आवे।

इसलिये यह ज्ञान आत्मामें रहते हुए भी क्षेत्रसे भी सर्व व्यापक है और काल से भी सर्व व्यापक है। यह बात तभी बनेगी, जब ज्ञान पदार्थमें पहुंचकर ज्ञाने यहां पहुंचनेका अर्थ जानन व्यवहार से है। इस प्रकार ज्ञान शक्तिकी ऐसी विचित्रता है। इस केवल ज्ञानीके ज्ञानमें तीनों लोक और तीनों कालके पदार्थ क्रमसे आ गये। ऐसा मालूम होता है कि इस केवलज्ञानीने जगतके सारे पदार्थोंको अपनेमें धर लिया। ज्ञानने सारे पदार्थोंको जाना, फिर भी वह ज्ञान अपने आपके प्रदेशोंको छोड़ कर जाता भर नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान अर्थोमें प्रवेश नहीं करता और करता भी है इसका नयविवरण इस प्रकार है, निश्चयनयसे तो प्रवेश नहीं करता है। व्यवहार नयसे ज्ञान ज्ञेयमें और ज्ञेय ज्ञानमें प्रवेश करता है। व्यवहार कथन आरोपित होता है किसी प्रयोजन से दृष्टी से सम्बन्ध माना जाता है। यह सर्व निमित्त नैमित्तक भावोंकी तरह अथवा उससे अधिक विशद स्फूर्ति दायक सम्बन्ध असम्बन्धका विवेचन विवेचनके हृदयको पार करता हुआ है। ज्ञानके स्वरूपका विचार ज्ञानकी निर्मलताका पूर्ववर्ती है। प्रयोजन निर्मलता है, जैसे किसी विवाहमें गृहस्थका एक मात्र प्रयोजन यह होता है कि दूल्हाकी भांवर पड़ जाय। परन्तु उसके फेरे पड़ जाने के लिए उन्हें पचासों काम करने पड़ते हैं- जैसे न्योते देना, जीमन करना, निकासी करना आदि इसी तरह अपना सुधार करनेकेलिये हमारा एक लक्ष्य बताया गया है कि हमारी ज्ञान स्वभावकी दृष्टि स्थिर हो जाय।

भैया! देखो लौकिक काम तो ऐसे हैं कि एककी सिद्धिके लिये बीसों काम करने पड़ते किन्तु आत्मसिद्धिके बावत तो बातही निराली है जिसके लिये हमें पचासों काम नहीं करना चाहिये। जहाँ एक काम होगा वहां उसकी व्यवस्था आसानीसे बन जाती है। आत्मसुधारके लिये ५० काम नहीं करना। बल्कि एक ही काम करना वह है ज्ञानस्वभावकी दृष्टि स्थिर करना ऐसे प्रयत्नशीलके बीचमें जो शुभ पराश्रित भाव होते

हैं उनमें नहीं अटकना, आत्माका यह सुधार हमे सम्यग्दर्शनमें प्रवेश कराता है। अथवा सम्यग्दर्शनका प्रवेश आत्मसुधार है तुम चिन्ता करते कि ये दुनियांके सुख, ये दुनियांकी सारी चीजें हमसे न छूटजाय, अरे ये सारी बातें छूटरही हैं,तो छूट जाने दो। ये तुम्हारे साथ हैं कब ? ये तो पहिले ही छूटीहुई हैं। ये तुममें घुसी हुई कहा है, तुमही इन्हें विकल्प से पकड़ रहे थे,तुम इन्हें पकड़नेमें मत लगो बल्कि अपनीही तरफ दृष्टी रख उस अमर अवस्थाकी तरफ दृष्टि करो ताकि तुम अमर हो जाओ।

अपने आपमें लीन हो जानेवालेको यदि ये बाह्यपदार्थ दृष्टिमें आकर वशमें कर लेते हैं तो वह अपने आपमें अच्छी तरह नहीं लग पाया। जैसे किसी योगी की साधनामें विद्यानुवाद पूर्व सिद्ध हो रहा है वहां अनेकों विद्यायें आती हैं सभी विद्याओंने आज्ञाके लिये प्रार्थना की यदि वह किसी या सभी विद्याओंमें लग गया तो एक विद्यामें जिसमें वह लगा हुआ था उससे वह दूसरी तरफ चला गया। आत्मोपयोगसे जो छूट गया बाह्यमें दृष्टि आगई तो उसके ज्ञानस्वभावका वास्तविक अनुभव स्वरूप छूट जाता है। मैं दुनियांका काम करदूं सर्व मुझे भला देखें जगतमें मेरी श्रेष्ठता रहे आदि कहनेमें तो भले लगते परन्तु इन अभिप्रायोंमें अगृहीत मिथ्यात्व बसा ही हुआ है।

हे आत्मन् ऐसे विकल्प जो बहुधा करता है, क्या कभी ऐसी भी स्फूर्ति आई कि मैं एक अकेला हूं किसीकी कुछ भी परिणतिसे मेरा कुछ नहीं होनेका, सर्व लोकके द्वारा भी प्रशंसा किये जानेपर भी मेरी कोंडी भी नहीं उठती अहो मुझे कोई न जाने कोई न माने, मानता भी कौन है ? मैं अपनेमें ही गुप्त हूँ, रहूं। यद्यपि यह भी विकल्प है किन्तु यह है तो निवृत्तिके सन्मुख। तुम किसी भी परिस्थितिमें गुजरो उनका उपयोग करके मात्र ज्ञानस्वभावमें रतरहो जैसे कहीं आग लगगई उसमें तुम्हारी कोई जरूरीवस्तु रहगई,वह आग बढ़ती जारहीहै,परंतु तुम उस आगकी परवाह न करते हुए बड़े वेगसे ऐसे आगमें जाकर उस चीजको उठा लानेकी कोशिश करते हो। उसी तरह किसी बाह्यकी पर-

वाह न करते हुए ज्ञानस्वभावको भी प्राप्ति करनेकी कोशिस करो तुमारे समागममें जो वाह्य पदार्थ आगये हैं तथा उनमें जो रागरूपी आग पैदा हो गई है और दिनपर दिन वढ़ती जारही है उसकी परवाह न करते हुए भी तुम ज्ञानस्वभावरूपी वस्तुको उसमेंसे गुजरकर भी प्राप्त करनेकी कोशिश करो। जगतकी सारी वस्तुओंसे राग हटाओ यह राग उसी भयंकर आगके समानहै अपने आपको आकिंचिनविचारो तो तुम्हें ज्ञानस्वभावकी वह विधि दीखेगी कि जिसका उपयोग अनंत सुखमय है।

जैसे किसी गरीवके घरमें धन गडा हुआ है परन्तु उसे उसकी खबर थी नहीं कि उसके उस कमरेमें उस जगह इतना धन गड़ा है। अपनेको गरीव समझकर वह अपने विकल्पोंमें दुःखी हो रहा है। परन्तु जब वह अपने वाप दादोंकी वहियोंमें देखता है और उसको लिखा मिलता है कि फलाने जगह इतनी दूर फलाने दिशामें उतने हाथ नीचे एक लाखका घड़ा गड़ा हुआ है तव वह उस वही को देखते ही उस धन के गड़े रहनेका दृश्य पूराका पूरा उसकी कल्पनामें अंकित हो जाता है। कल्पनाका वह वड़ा सुख उसे वहीकी देखते ही होगया और उसने कुदालीसे उस जगहको खोदी तो उसे असर्फ़ियां दाख जाती और वह अपार सुखमें गर्त हो जाता है। इसी तरह इस आत्मामें ज्ञान स्वभाव की जो निधि गडी हुई है और तुम्हें मालूम नहीं है अतएव तुम इस संसारके असंख्यात विकल्पोंमें दुःखी ही रहे, तो उस निधिको खोजो। वह निधि तो तुम्हारी ही आत्मामें विद्यमान है। ये शास्त्र भंडार हमारे ज्ञानी सत् वाप दादाओंकेद्वारा लिखी गई वहिया हैं, जिनमें लिखा हुआ है कि तुम अपनी आत्मनिधिको प्राप्त करनेकेलिये इस दशामें जावे यहां जावो यह करो वह करो तुम्हें वह निधि मिल जायगी जिस समय हमने इन वहियोंको पढ़ा उसी समय हमें अपने आपमें सव कुछ झलकने लगा। अपने अन्तर में सारी चीज दीखने लगी। अव तः भगवानके गुण स्मरणका हथियार लेकर फिर ज्ञातानुभव रूपी

कुदाली लेकर हमें उस निधिको लेकर खोजना। निकालना है ज्ञानस्व-भावकी यह निधि प्राप्त होतेही हमें जगतका भेद मालूम होजाता है।

जब हम सोचते हैं कि ये वस्तुयें जुदी हैं, मैं जुदा हूँ, आपसके सम्बन्ध जुदे हैं मेरे साथ लगकर रहने वाला मेरा यह शरीर भी मुझसे जुदा है तब ऐसे निश्चयके बाद जब ऐसे जगतके भेदको मैंने अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे जाना इसके जाननेमात्रसे जो सुखका अनुभव होता है उसे ज्ञानी ही समझता है ऐसी अक्षय निधि हमारी ही आत्मा में छिपी हुई है उसके पानेका उपाय स्वयं स्वयं के द्वारा होता है। यह कार्य पराधीन नहीं है पर वस्तुका संयोग पराधीन है पराश्रयताका क्लेश मिटते ही यह स्वरूप अनुभूत हो जाता है यहां ज्ञान ज्ञेयकी पराश्रयता का निषेध हमें सभी पदार्थोंकी पराश्रयताके निषेधका संकेत करता है।

अहो देखो तो सही, निर्मल ज्ञान द्वारा समस्त विश्वके जाननेका भार होनेपर भी वह निर्भर है स्वरसका निर्भर है। कि वर्लादेव भी आत्मद्रव्य हैं हम भी आत्मद्रव्य हैं जैसे वे पर का परस्पर गमन न करते हुए जानते हैं इसी प्रकार ही तो हम भी परस्पर गमन न करते हुए ही जान रहे हैं। तब इतना जाननेपर भी उनमें विकृति नहीं होती तो हम क्यों विकृत होते? यह जाननेका अपराध नहीं स्वरूप दर्शन न हो रहे का अपराध है। आत्मा ज्ञानस्वभाव है रागस्वभाव नहीं जो स्व-भाव नहीं और फिर भी रहे तो उसकी स्थिति स्वरूप से बाह्य ही रहती रहती है तब वह विभाव मुक्त द्रव्यपर तैरता है उसे जो अपनावे वही दुखी हो जाता है। भैया! अपने ज्ञानस्वभावपर दृष्टिपात करो वह अविकारी सहज भावमय है। तुम राग द्वेष मद मोह लोभ आदिके परिणामोंमें अपनी बुद्धि लगा रहे हो और तुम्हें उनके अलावा कोई दूसरी बात ही नहीं सूझती और वही राग तुममें लगा हुआ है। परन्तु उस रागसे अपनी बुद्धि हटावो तभी तुम्हारा कल्याण हो सकता है।

देखो भैया ये पदार्थ अपनी सत्तासे सुन्दर पड़े हैं परन्तु जीव की उनके भोगनेकी नियत हुई उनमें जीवने प्रयत्न करना चाहा कि वे

पदार्थ विकृत हो जाते हैं जैसे थालीमें लड्डू रक्खा है। बड़ा सुहावना लग रहा है जब तुमने उसे खाया तो तुम्हें वह बड़ा मीठा लगा; आत्मा वह लड्डू न खा सकता और न उसका मधुर रस आत्मामें चिपटता यह सब मोहकी प्रेरणापर ज्ञानका नाच है जानें। विकल्प यह आत्मा करता है और मीठा लगा यह विकल्प भी कर डालता है। जिसे स्वरसका स्वाद नहीं वह इसी प्रकार भिखारी होता है, उस तरह तुमने लड्डूमें राग तो रखा और वहाँ क्या हुआ वह ज्योंहि गलेके नीचे आया तो माटी हो गया। जब तक लड्डू थालमें था बहुत सुहावना लगता था मुंहमें पहुंचकर उसकी दशा घिनावनी हुई और पेटमें उतरनेके बाद वह माटी हो जाता है। कहावत भी है घाटी नीचे माटी। उसका असली स्वरूप पेटमें जाने पर तो क्या मुंहमें आनेपर ही बिगड़ जाता है विश्वास न हो तो दर्पणमें चबाये हुए लड्डूको देखलो तो कै होजाती है, भ्रमसे सुख मालूम होता है। अतः इन पांचों इन्द्रियोंके विषयोंको छोड़ो इनमें अपनी बुद्धि मत लगाओ, स्पर्शन और रसना इन्द्रियोंके विषयोंका नाम है काम, और घ्राण, चक्षु, और कर्णके विषयों का नाम है भोग। जिस चीजको बिगाड़कर काममें लाए उसे कहते हैं काम, और जो चीज बिना उसके स्वरूपको बिगाड़े ही काममें लावे उसे कहते हैं भोग, तुम इन सब इन्द्रियोंके वशमें पड़कर अपने ज्ञान स्वभावको भूल जाते हो। तुमने जहां २ जिस २ वस्तुमें, राग पैदाकर रखा है उससे अपना लक्ष्य हटाओ वे सब हमारे कुछ भी सगे नहीं है। तुमने अपने सुखका विश्वास करके मोहके पदार्थोंके पास जाते और वहां से उल्टा यह फल मिलता कि तुम अपने दुःखको बढ़ा लेते। मोही जीव अपना आराम पाने के वास्ते जहां २ और जितना २ मोह उसे मिलता, उसको भोग भोग कर और उन्हें देखकर सुखी होता है परन्तु एवज में उसे उल्टा दुख ही मिलता है।

यह जगतके बाह्य पदार्थ सब धोखा है इनमें राग मत करो। अपना निर्णय आप करो कि तुम क्या हो ? इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति से

घुसने वाले हे प्राणी तू क्या चाहता है ? शाँति चाहता हूं। देख शांति चाहता है तो शान्त आत्माओंमें घुस अशान्त आत्माओंमें घुसकर और रहकर तू शांत नहीं हो सकता। तू शांत आत्माओंमें घुसकर शांति देख। उस परम शांति को बताने वाले ये शास्त्र और ये मूर्तियाँ तथा संत साधु दीपक हैं इनके उजाले में तू शाति का मार्ग देख। शुद्ध आत्मा मात्र ज्ञाता द्रष्टा हैं उनके अंतर्ज्ञेयाकार तो है, परन्तु वे किंचिन्मात्र भी विकल्प नहीं करते न उनमें रागद्वेष है और न कुछ करने भोगने का भी विभाव होता है। इसी प्रकार सर्व आत्माओंका स्वभाव है। तू भी ऐसा है, मैं भी ऐसा हूं। आप सब भी ऐसे ही हैं। जिसकी मति ऐसे ज्ञान स्वभाव में उन्मुख हुई वह इस ही दृष्टिके अमोघवल से सर्व विकल्पोंका निषेध कर देता है, पृथक् भी कर देता है।

यह प्रकरण यह विचार अपूर्व है जहां बड़े बड़ों की यह वृत्ति वहां मैं ही उनसे भी ऊपर बनना चाहता हूं। निःशंक श्रद्धा रखो कि एक वस्तुका अन्यके साथ अल्प भी सम्बन्ध नहीं है। यह मंजुका मार्ग और शांतिका मार्ग पाप रूपी घोर अन्धकारसे ढका हुआ है। जैसे यहांसे खानियां जाना है। रात्रिका समय है, घोर अन्धकार है, रास्ता विकट है, उसमें नाना प्रकारके गड्ढे हैं, जाना आवश्यक है, सो जब तक हमारे हाथमें लाइट नहीं हो तो हम आसानीसे वहां नहीं पहुंच सकते और घोर अन्धकारके कारण गड्ढोंमें गिर जायेंगे। यदि लाइट हमारे हाथमें होगी तो हम आसानी से उसके सहारे गड्ढोंसे बचकर इष्ट स्थान पर पहुंच जायगे। इसी तरह शांतिके मन्दिरमें जाना ता आवश्यक है। परन्तु उसका जो मार्ग है, बड़ा विकट है, उस मार्गमें पापोंका तीव्र अन्धकार है। जिससे शांतिका मार्ग दिखाई नहीं देता, उस पाप रूपी अन्धकारसे हमारा मार्ग ढका हुआ है। क्लेशके गड्ढे बीच बीच में है, यदि हाथमें सम्यग्ज्ञान मय लालटेन नहीं होगी तो उनमें गिर पड़ेंगे। जीवनमें जो क्लेश आऐंगे, उपद्रव आयेंगे, उनमें गिर पड़ेंगे और धर्मको मूलसे भुला देंगे। इसलिये शांतिके मन्दिरमें

पहुंचनेकेलिये हम वहां तब तक नहीं पहुंच सकते, जब तक हे भगवान आपकी वाणी रूपी दीपक हमारे हाथमें नहीं आये। यहां हाथ ता उपयोग है जो सदा है, वह जब तक सम्यग्ज्ञान की लाईट से खाली था भव भवनिमें घूमें, भ्रम आपदाके अनेक गड्ढोंमें गिर पड़े। अब तो इतनी सामर्थ्य आ गई। कि उपयोगमें सम्यग्ज्ञान (वस्तु स्वरूप) आ सकता और विवेककी आंख से सर्व यथार्थ पृथक् स्वरूपवाले देखे जा सकते हैं।

मनुष्य भव दुर्लभ है अथवा ऐसा सामर्थ्य लाभ दुर्लभ है यहां स्वरूप जागृति करलो, सदा सुखी रहनें का उपाय हो लेगा। एक आदमी सोचता है कि मुझे धर्म करते ४० वर्ष हो गये और न तो मेरे दूसरा लड़का ही हुआ, न मेरी कम्पनीमें नफा हुआ, इतना टैक्समें चला गया, इतना घाटा पड़ गया और मेरे इस धर्म करनेका कोई फल ही नहीं हुआ। अतः संसारमें धर्म कर्म कुछ नहीं है। मैंने वृथा ही इसमें अपना समय खोया। यह समझ कर वह जितना धर्म करता था उतना भी छोड़ देता, उसे यहां करना क्या चाहिये था? इसे एक किस्सा ले कर देखो—एक राजा था वह शत्रुओंके आक्रमणोंसे रक्षा करने केलिये अपनी सैना पर कई करोड़ रुपया खर्च करता था, फिर भी उसपर शत्रु का आक्रमण होगया। तब यदि वह यह सोचे कि मैंने इस सेना पर इतना रुपया खर्च किया। उससे कोई फायदा ही नहीं हुआ और शत्रु का आक्रमण हो गया। अतः इस सेनापर रुपया खर्च करना बेकार है और यह समझ कर वह अपनी सेनाको नष्ट कर देता है। तो विचारो उचित है या अनुचित? उसका यह काम बिल्कुल भी ठीक नहीं है। हर कोई कहेगा यह तो उसकी बेवकूफी ही है। इतना रुपया खर्च करनेपर भी यदि शत्रु का आक्रमण होगया तो उसे और रुपया खर्च करना चाहिये और अपनी सेनाको उत्साह देकर आगे बढ़ाना चाहिये। परन्तु यदि वह अपनी सेनाको ही नष्ट करदेता है तो वह शत्रु बिना किसी अड़चनके ही राज्यमें घुस आयगा। उसे जो थोड़ी बहुत सेना

मे युद्ध भी करना पड़ता वह भी नहीं करना पड़ेगा। अतः इस प्रकारकी दुर्बुद्धि नहीं लाना चाहिये यह लौकिक बात है जरा इसे प्रकृत निजमें घटाइये धर्म हमारी सेना है। उसकी तुमने बचपनसे रक्षाकी कितनेही पदार्थोंका त्याग किया। धर्मकी सेवा, तन, मन और धनसे, की सेवा तो ज्ञान स्वभावकी दृष्टिसे ही होती. पुनरपि जो निवृत्तिके लिये प्रवृत्ति होती है वह भी सेवा कही जाती है फिर भी क्लेशोंने तुमपर आक्रमण कर दिया तो तुम धैर्य रक्खो। धर्मकी सेनाकी और उमंग बढ़ाओ कि हे धर्म तुम दृढतासे तुम मेरेमें आओ इसमें तीव्र बुद्धि लगाओ। यह हो नहीं सकता कि धर्ममें तुम पूर्ण बुद्धि लगाओ फिर भी क्लेश आवे इसलिये धर्ममें अपनी प्रबल बुद्धि, लगानी चाहिये। धर्म क्या है, अनादिसे अनन्तकाल तक बिना हेतुके सदा प्रकाशमान आत्मामें रहने वाले ज्ञानस्वभाव जो कि सब तरंगोंमें रहते हुए भी स्वतंत्र है उस ज्ञान स्वभावकी दृष्टि धर्म है। जरा गम्भीरतासे विचार करो तुम्हें इस संसार से एक दिन जाना है अपने आपमें इस बातको दोहराये रखो कि मुझे तो धर्ममें ओत प्रोत होना है।

मैं तो राग रंग क्लेश स्त्री पुत्र बन्धु संस्कार आदि सबसे अलग हूं ६रसोंमें सबसे अन्तिमरस शांति है। मैंने सब रसोंका नाटक तो दे । अब इस अन्तिमरसका नाटक और कर देखूं। शान्तिरसमें आकर शान्तिरस के अतिरिक्त और कोई रस नहीं आता। अपने अपने अधिकारमें अपनी आत्मा होती है सबकी आत्मा अपने अपने अधिकारमें है बाहरकी चीज मत सोचो और बाहर का सत्य स्वरूप जानो।

यह स्त्री और पुत्र यह कहते की तुम हमसे दूर क्यों रहते हो तो उनको उत्तर दो कि मैं तो अपने शरीर तकसे भी दूर हूं। तुममें मोह कैसे रख सकता हूं, जब कि मैं अपने शरीरतकसे भी मोह नहीं रखता तो ये तो सब बाह्य पदार्थ है। उनमें मेरा मोह क्यों रहेगा। यदि तुमसे मेरा मोह रहेगा तो शरीर तक से भी तो मोह रह जाता। उनसेयह कहो कि तुम भी इसी तरह अपना मुक्ति का मार्ग अपनाओ।

तुम एक धर्मका ही नाम रखो जो संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर आत्म-सुखमें लगा देता है वही असली धर्म है, मिथ्यात्व छोड़ो, उपन्यासोंसे चित्त हटाओ देवशास्त्र गुरूमें अ ना विश्वास पैदा करो। गुरु कौन है। जो सर्व प्रयत्नसे अर्थात् अंतरंगमें ज्ञान स्वभाव दृष्टि की स्थिरतारूप विशिष्ट ध्यानोंसे और बाह्यमें इस योग्यताके होने पर अवश्य भावी बाह्य स्थितियोंके प्रचलनसे बाधा रहित होकर निरंतर ज्ञानाराधना करते हैं वे गुरु हैं और इसी ही ज्ञानस्वभाव अकपायभावके आदेशका जहां आदेश हो उसकेविरुद्ध विपय कपायोंसे निवृत्तिका जहां आदेश हो वह शास्त्र है औरजो गुरुराज स्वभावमें लीन होगये कर्मसे रहित हो गये अनंत चतुष्टाय मय हो गये वे देव हैं। वस्तुतः ऐसे निजज्ञानस्वभावकी परखसेही देव शास्त्र गुरु की ही प्रतीति होती है। अपने स्वभाव को जानकर इससे मेल खानेवाले इस मार्गमें उन्नत पुरूप इसके विश्वास्य और आदर्श हो जाते हैं।

जिस ज्ञानस्वभावमय हो उसका स्तीफा बुद्धिसे मत दो,व्यवहारकेकाम व्यवहारसे होंगे ही परन्तु धर्मकी ओरसे तुमारी दृष्टि नहीं छूटनी चाहिये सोचो कि मेरा जगत कोई हितकारी नहीं है, अनादि अनंत अहेतुक ज्ञान स्वभावी यह मैं ही केवल स्वयं सुखमय हूं परलक्ष्यरूप ही क्लेश ही अहित है अतः परमें हित प्रतीति रूचिके क्लेशमय भावसे मुक्त होकर निजबुद्धिमें ही स्वाभाविक ज्ञानोपयोग द्वारा स्वतंत्रतासे विहार करो वही हित है। अब इस प्रकरणमें ज्ञान पदार्थोंमें रहता है इस प्रकार का वर्णन कर रहे हैं

रदणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहां सभासाए
अभिभूय तंपि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

जिस रूपसे ज्ञानका परिणाम उस विशेषज्ञका है वह उसका उसकालमेंही है। वह व्यक्ति भी सदा उसकी नहीं होती जब ऐसा वियोग है तब तो मात्रज्ञान स्वभाव ही ध्रुव रहा. वही आत्म स्वभाव रहा उसे

पहिचाने विना उसके आश्रय विना अर्थात् निजके आश्रय विना पर्याय की निर्मलता नहीं वास्तविक शिवमार्ग नहीं मिलता अब ज्ञानसर्वस्व को देखकर विचारो। जैसे एक गिलास दूधमें इन्द्रनीलमणि डाल दिया, परिणाम स्वरूप जितने परिमाणमें वह दूध है उतने परिमाणमें वह दूध उस इन्द्रनीलकी कान्तिसे नीला हो गया दूधके रूप को भी दबाकर अपनी कान्ति द्वारा इन्द्रनीलने दूधको नीलाकर। दिया वस्तुतः इन्द्रनील मणि जो कुछ भी कर सकता अर्थात् परिणाम कर सकता वह अपनेमें ही। मणिक्षेत्रसे बाहिर मणिका गुणपर्याय प्रभाव आदि कुछ भी नहीं है यहां निमित्त सम्बन्धकी अपेक्षा यह कथन है इन्द्रनील मणिके सान्निध्यरूपको निमितमात्र करके दूध स्वयं ऐसा प्रतिभासित होरहा है जैसे कि आत्मा कर्मोदयके योगको निमित्तमात्र करके स्वयं रागी द्वेषी आदि प्रतिभासित होता है ऐसे उपचारदृष्टिको लेकर अभी कथन है तो कहा गया कि इन्द्रनीलने दूधको नीला कर दिया इसलिये इन्द्रनीलकी कान्ति सारे दूधमें व्यापक है। इसी तरह ज्ञान और दूध आत्माका सम्बन्ध होनेके कारण यह कहा जाता है कि सारे ज्ञेय पदार्थोंमें आत्मा व्यापक है।

कहा जाता कि ज्ञान पदार्थोंको अपनेमें व्याप्त कररहा है और ज्ञानरूप यह आत्मा है अतः ज्ञानके द्वारा ये सारे पदार्थ आत्मामें व्याप्त हो रहे हैं। केवलज्ञानी ऐसी शक्ति रखता जो अपने को भी जानता और सारे संसारको भी जानता और सारे अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर करके अपने ज्ञानसे सारे पदार्थोंमें रहा। ज्ञानमें जो ज्ञेयाकार परिणति हुई उस ज्ञेयाकार परिणतिमें यह ज्ञान पूरा व्याप रहा। अज्ञानी ज्ञेयमें ऐसा लुप्त हो जाता है कि जिससे वह अपने आपको बाह्य ज्ञेयसे प्रथक् नहीं कर पाता। परन्तु ज्ञानी जीव स्पष्ट इस बातको समझता कि ज्ञान ज्ञानमें वर्त रहा और ज्ञेय ज्ञेय में वर्त रहा। वास्तवमें यह ज्ञान तो ज्ञानका ही हुआ है ज्ञेयका ज्ञान नहीं हुआ। ज्ञेय हमसे कितनी दूर है यह चौकी हमसे कितनी दूर है फिर भी हम कहते हैं कि ज्ञेयका ज्ञान

या चौकी का ज्ञान। परन्तु यह ज्ञान आत्माका ज्ञान है। चौकी ज्ञानने अवश्य जानी, परन्तु वह ज्ञान आत्माका ज्ञान ही कहलायेगा।

देखो भैया! ज्ञायक स्वभावकी पहिचानके लिये अंतर्ज्ञेयाकार के स्वरूपसे भी पृथक् ध्रुव स्वभाव देखा जाता है. यहां फिर बाह्य ज्ञेय का तो प्रश्न ही क्या? अवसर ही क्या? तथा इस ही प्रकार दर्शन सुख वीर्यके विपरीत परिणमनका ज्ञान स्वभावसे मेल नहीं खाता, सो इनसे भी ज्यादा परखना है और फिर सर्व गुणोंके स्वभाव परिणमनका जहां अभेद हो जाता है। ऐसे ज्ञायक स्वभावको लक्ष्यमें लेना है। उस अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञान स्वभावके बलसे ऐसी ज्ञान व्यक्ति प्रगट होती है कि जहाँ सर्व ज्ञेय जैसे हैं, वैसे उनका पूर्ण जानन हो जाता है। उस स्वरूपका ही यह विवेचन चल रहा है। यहां इस की परख करो कि ज्ञानका ज्ञेय हो सकता है या नहीं और ज्ञेयका ज्ञान हो सकता है। इसके उदाहरणमें एक दृष्टान्त लो—जैसे भीत पर हरा रंग करा दिया। देखो यह कहा जाता कि यह हरा रंग भींतका है, परन्तु वह रंग तो रंग का है। भीतका नहीं है, रंग तो भीतसे बिल्कुल भिन्न है। इसी तरह यह ज्ञान सारे विषयोंसे भिन्न है। फिर भी यही कहा जाता है कि ज्ञेयका ज्ञान चौकीका ज्ञान परन्तु परमार्थसे किसी वस्तु का अन्य कोई कुछ नहीं है। इस लिये ज्ञानी जीव कहते हैं कि ज्ञान इन बाह्य पदार्थोंका नहीं है। परन्तु यह ज्ञान आत्माका ही है।

प्रश्न—इस रंगको इसी भीतिका रंग क्यों कहते? दूसरी भीति का क्यों नहीं कहते। उत्तर—इनमें बाह्य आधार भाव ऐसा है जिससे कहा; कि यह रंग इस भीतिका है। यह रंग पर्यायरूपसे इस भीत पर है और इस रंगकी ऐसी पर्याय होनेका आश्रय मात्र यह भीत है, भीतके आश्रयमात्रपना होनेपर भी यह रंग भीतका नहीं है, वहां यह जानना कि यह रंग भीतका नहीं है, यह तो रंग का रंग है। इसी तरहसे चौकीका ज्ञान, चौकी ज्ञानका विषय हुआ। इस लिये चौकी का ज्ञान प्रतीत होता है। वास्तवमें यह चौकी का ज्ञान नहीं है। अब

आगे बढ़ो। ज्ञानसे ज्ञानी अभिन्न है तो यह ज्ञानी चौकीका नहीं है। यह ज्ञानी ज्ञानका है चौकीका नहीं है।

लोग कहते हैं—अणुविद्या का ज्ञानी, हवाई जहाजका विशेपज्ञ आदि। परन्तु आत्मा अपने ज्ञानका विशेपज्ञ है उस हवाई जहाज या विद्या का विशेपज्ञ नहीं है। जिस रूपसे ज्ञानका परिणमन उस विशेपज्ञका है वही उसका उस कालमें है वह व्यक्ति भी सदा उसकी नहीं होती। जब ऐसा वियोग है, तब तो मात्र ज्ञान स्वभाव ही ध्रुव रहा, वही आत्म स्वभाव रहा, उसे पहिचाने विना उसके आश्रय विना अर्थात् निजके आश्रय विना पर्यायकी निर्मलता नहीं, वास्तविक शिव मार्ग नहीं मिलता। उस ज्ञान व्यक्तिसे भी जब ज्ञान स्वभाव प्रथक् लक्षण वाला है तब ज्ञेय और ज्ञान भिन्न २ हैं, इसके समझने में तो कोई अड़चन ही नहीं, ऐसा सर्व जगत से न्यारा इस शरीरसे भी न्यारा शरीरका अर्थ उर्दू में बदमास होना-उससे भी न्यारा यह ज्ञानी आत्मा है। इस शरीरको कितना भी मलो धोवो सब कुछ करो, फिर भी पसीना ही निकलता है। रोग बुढापा आता ही है। गाली गलौंज अपमान आदि सुनकर आग बबूला, इसके निमित्त जीव होता, ऐसे इस अशुचि शरीरसे भी न्यारा, २४ घन्टा जो कलाएं सबको सूझती हैं—रागद्वेप की उन सब कलाओं से भी न्यारा, ऐसा ज्ञान स्वभाव इस आत्मा का सबसे भिन्न स्वरूपी होता है। इसको स्थिर करनेवाला ज्ञानी ऐसे ज्ञानको पाता है, जो ज्ञान तीनों लोकों और तीनों कालोंको जानता है। लोकमें कहते हैं जो गम खाता है उसको सबसे पहिले फल मिलता है। हम तृष्णाके वश अधीर होकर दौड़ रहे, इस भाग दौड़में गांठकी ही रकम खोये जा रहे हैं, बाह्य पदार्थोंके लिये उनसे सुखी होनेके लिये दौड़ मत लगाओ। अपने आपमें स्थिर रहो। अपने आप में लीन रहो और देखो कि तुम क्या हो? तब यह ज्ञान और तब यह सुख अनन्त सुखमें परिणत हो जायेगा।

जो बाह्यमें लगा रहेगा, उसे बाह्य भी नहीं मिलेगा और जो

वाह्यसे अलग होकर रहेगा, उसके चरणोंमें वाह्य लौटेगा और विशेषता तो उसकी आत्मवैभवकी ही है। एक लखपति आदमी जो अपने पलंगके नीचे चांदी सोनेका पीकदान रखता था और उसी में पीक थूकता था। एक गरीब आदमी वहीं ही बैठा था वह उसे देखकर पीकदान से कहता है कि तुझे यहीं थुकानेमें मजा आता तो तू यहीं रह, मुझे तेरी आवश्यकता नहीं है। जो चाहता है उसे शकल भी नहीं दिखाना चाहती और जो नहीं चाहता और जिसके काफी ऐश्वर्य है उसका पीक भी उसीमें थुका लेती है। यही संसारका घं रखधन्धा है। जब हम सारे जगतको जानने केलिये तड़फते तो सारे जगतको नहीं जान पाते और जब हम सारे जगतको जाननेकी इच्छा ही समाप्त कर देते हैं, तो यह ज्ञान और सुख अपने आप प्रगट हो जाता है। जब हम उस चांदी सोनेके पीकदानकी इच्छा ही मिटा देते हैं त. वह पीकदान हमें तड़फा नहीं सकता, पीकदान मा ने, सारी लक्ष्मी ।

भेद विज्ञान की अपूर्व महिमा है। इसके बिना त लोकमें भी आराम नहीं, पर्यायविशिष्ट संसारी जीवोंमें मोही ही अपनी रागकलाओंकी प्रतिष्ठा रखना चाहता है। वस्तु स्वतन्त्र्यकी दृष्टि में यह कुछ रुचनेकी बात तो दूर रही। इसके विषयमें विधि निषेधकी कल्पना भी उसे नहीं सुहाती। वाह्य वैभव तो प्रगट जुड़े है। उनमें मोह होना तो महा मोह है ही। किन्तु निज क्षेत्रमें उद्भूत रागादि विभावों से पृथक् अपने ज्ञान स्वभावको न पहिचान सकना भी महा मोह है। हे आत्मन् विवेकरूपी छेनी ले और जहां जरा सी भी जड़ चैतन्यकी संधि प्रतिभासित हो वहीं इसे लगादे और अभ्यासका प्रहार कर। अपने स्वरूपको निश्चयसे पावेगा फिर उसी में रत होकर अनन्तकाल सुखी रहेगा। प्रज्ञा भगवतीके प्रसादसे ही हमें ज्ञान प्राप्त होता है जिस से हम सुखका अनुभव करते, परन्तु हम वास्तवमें करते क्या? हम अपनी इच्छाको समाप्त करनेके स्थानपर दुनियांमें अपने आपके आराम और सुखके लिये दुनियांकी देखादेखी करते हैं और जो दूसरे

करते हैं वैसा ही करना चाहते हैं।

हमें इस प्रकार सोचना चाहिये कि मैं तो इस दुनियामें एकाकी हूं, ये जगतमें जो सुख दुःखके बहानेसे रहते हैं. मैं उनपर क्यों जाऊं, मेरी अपने आपकी आत्मा ही में कल्पनाके बलपर जगतके दुःख सुख हो रहे हैं अब खूब सोचकर अपने मार्गका निर्णय करो कि तुम्हें करना क्या है ? यह सम्मति आज्ञा भगवानने दी कि अब तो यही करो कि इन बाह्य पदार्थोंसे परिणति हटाकर ज्ञानस्वभावमें बुद्धि लगावो तभी पर्याय कुछ भी रहे उस पर्यायकी पर्वाह न करके भी तुम्हारे अन्तरमें आकुलता न रहेगी। यह सोचो कि मैं अपने अन्तर ज्ञेयमें व्यापक हूं, इतना ही मात्रमें अपनी सत्ता रखता हूं जगत की कोई सत्ता मेरी आत्मा में नहीं है। जितना परिचय और समागम और इस संसारसे हुआ ये कोई भी मेरी रक्षा करनेवाले नहीं है झूटे मित्रोंकी सम्मति तो मोही रुचिसे सुनते हैं किन्तु ज्ञानी भगवानकी ही सम्मति सुनते हैं।

एक साधुजी थे उनके पास एक राजा आया और कहने लगा महाराज आप इतना दुःख क्यों पाते हो, आप मेरे घर चलो और नग्न घूमनेकी बजाय अच्छे कपड़े पहिन लो। साधुजीने कहा, राजन् अच्छा ! किन्तु कपड़ा पहिनना तो तभी शोभा देगा जब उसपर आभूषण भी पहिनें। राजाने कहा आपको आभूषण भी मिलेंगे साधुजीने कहा परन्तु आभूषण तो जब ही शोभा देंगे जबकि नौकर और नौकरानियां भी हो फिर मोटर और उसके साथ पेट्रोल, उसके साथ डाईवर की भी आवश्यकता होगी और उनको चलाने के लिये रुपयों पैसेकी आवश्यकता पड़ेगी। राजाने कहा महाराज आपको सब कुछ मिलेगा। तब साधुजीने कहा कि जब हम इतने ठाट बाट से रहेंगे तो हाथसे खाना बनाकर खावें तो वह क्या अच्छा लगेगा, इस कारण हमारी शादी भी होना जरूरी होगा, राजाने कहा महाराज आपकी शादी भी आपके इच्छानुसार हो जायगी। फिर साधुजी बोले कि शादी होनेके बाद बच्चे कच्चे भी होंगे उनके लिये भी धनकी आवश्यकता पड़ेगी।

यदि लड़की हो गई तो उसकी शादि भी करनी पड़ेगी और उसके लिये भी धन जुटाना पड़ेगा। लड़का हुआ तो उसकी पढ़ाई आदिमें खर्च करना होगा। राजाने कहा कि आप महाराज फिक्र क्यों करते हैं, मैं सब ठीक करदूंगा। तब साधुजीने कहा राजन्! यदि लड़का मर गया तो रोना भी पड़ेगा, राजा एक दम बोला बस महाराज रोना तो आप ही को पड़ेगा। मैं तो केवल आपके आरामकी हर तरहसे व्यवस्था कर सकता हूं फिर भी जो दुःख होगा वह दुःख तो आपहीको भुगतना पड़ेगा। यह मेरे वशकी बात नहीं है। साधुजीने उत्तर दिया राजन् जिस कपड़ेमें साथ लगते २ रोने की नौबत आजायगी तो हमको उस कपड़े.ी जरूरत नहीं है। इसी तरह भगवान कहते हैं कि इस मनुष्य भवमें आकर इसे व्यर्थ ही फूकना नहीं चाहिये। इसमें आकर रोना नहीं चाहते हो तो इन सब बाह्य पदार्थोंसे अपनी परिणति हटाओ। इष्ट वस्तु मिल जानेपर सुख मत करो, यदि सुख करोगे, तो जब उस वस्तु.ा वियोग होगा तो तुम्हें रोना पड़ेगा। यदि लक्ष्मी चाहते हो तो लक्ष्मीसे दूर रहो। परन्तु यदि तुम यह कहो कि दूर इस लिये रहता हूँ कि मुझे लक्ष्मी मिले, तो तुम दूर कहां रहे। ऐसा चाहकर कोई दूर रहा तो वह दूर ही कहां रहा?

ये वैराग्यकी बातें हमारे मूलमें तब तक नहीं आ सकती, जब तक कि ज्ञान स्वभावको नहीं पहिचानो। अतः ज्ञानस्वभावको पहिचाननेकी कोशिश करो। अपने दैनिक जीवनका कुछ समय अपने मननमें खर्च करो। आत्मस्वभावके निरीक्षणके विना मन कहाँ लगेगा? जहां जिसका परिचय होगा, परिचय तो है पर पदार्थोंका और चाहे निज सुख? बेजोल बात है। अरे भाई परका परिचय तो यथार्थ नहीं, जैसी कल्पना की वैसा परिचय किया और कल्पनाके अनुसार ही परका परिणमन चाहा, परन्तु यह त्रिकाल भी अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा। यदि तुझे अपने ज्ञानके अनुसार परका परिणमन देखना है, तो एक बार सबको भुलाकर अपनेको जगाकर ज्ञान स्वभावमें स्थिर

होजा। तब ऐसा कैवल्य जागृत होगा कि जो तू जानेगा सो ही परिणमन होगा, अरे जाननेके अनुसार ही सब परिणमेगा, हां, हां क्यों कि जैसा जो परिणमेगा वैसा तू जानेगा। इस महत्त्वकेलिये उदार बनने की आवश्यकता है। देखो भैया! यहां कुर्सीवाजीकी कषाय में ११-१२ दिनकी हड़ताल रही। उन दिनोंमें या तो हड़तालका ही काम जैसे सत्याग्रह आदि ही करते या फिर धर्म शास्त्रमें ध्यान रखते। क्योंकि तुम्हारा व्यापार तो बंद पड़ा था, कुछ भी तो करते, क्या किया जाय? गप्प और रागकी आदत भी तो बुरी है। इन दिनोंमें कितनोंके अंतरंगमें यह इच्छा हुई कि हम हमारा यह समय धर्म साधन में लगावें, हो कैसे।

धर्मसाधनोंमें प्रवृत्ति मनकी इच्छासे होती है। मनकी इच्छा नहीं हो तो फुर्सत नहीं होनेकी बात आती है। कहते हो मुझे फुर्सत नहीं मिलती, अरे धर्मके लिये तुम्हें समय नहीं मिलता, परन्तु क्या मरने के समय भी तुम्हारी समय न मिलनेकी बात चल सकती है? यमराज (आयुक्षय) को तो उस समय नहीं कह सकते कि ५ मिनट ठहरो, अभी मुझे समय नहीं। गृहस्थीकी व्यवस्थाकेलिये नियत ही समय रखो तो अवकाश, धर्मको मिल ही जायगा। अतः धर्मकेलिये भी अपना नियत समय करो। गार्हस्थ्य व्यवस्थाकेलिये नियत ही समय रखो, तो अवकाश धर्मको मिल ही जायगा। जैसे आफिसका समय नियत रहता है और वहां देर तक ठहरनेकी बात नहीं हो सकती। उसी तरह घरको भी आफिस बनाओ। घरकी व्यवस्थाका अपना समय निश्चित कर लो, कि जो भी तुम्हें करना है उसी समयमें करो। प्रति दिन ही घर की उलझनोंमें सारा समय दोगे, तो कैसे काम चलेगा। यह समय चला गया तो फिर क्या हाथमें आएगा? मनुष्यजीवनमें कोई पुरुषार्थ नहीं किया तो इससे अच्छा तो यह था कि मनुष्य जन्म ही न लेते, तो यह नम्बर तो आपका सुरक्षित रहता, पुरुषके भव १६ मिलते हैं।

देखो भैया ! गन्नेमें नीचे रस नहीं, ऊपर रस नहीं, मध्यमें कीड़ा लगा, उस गन्ने के भोजनमें क्या कुछ लाभ है ? उसे तो बोने में लाभ है, इसी तरह मनुष्यकी बालक वृद्ध अवस्थामें धर्म प्रायः नहीं होता व जवानी विषयोंमें खोई तो सब व्यर्थ हुआ। इस मनुष्यभव को धर्ममें लगानेसे लाभ है परन्तु कोई क्या करे ? क्योंकि उसमें विषयोंका कीड़ा लग गया। भाई सम्यग्ज्ञानसे कहीं कोई आपत्ति नहीं आती, विषय कषायोंमें रहकर अनन्त संसार की आपत्ति क्यों बढा रहे ? ज्ञान ही एक शरण है, ज्ञानसे इस लोकमें भी विपदा नहीं रहती और न अन्यत्र। इसमें यदि कोई शरण है तो वास्तवमें आत्मस्वभाव ज्ञान। यह बड़ा उत्कृष्ट है। मित्र कहो, पिता कहो, बन्धु कहो सर्वस्व अभिन्न यह ही है आत्माका। ज्ञानके रहनेपर आपत्तिका भय भी नहीं। विशुद्धज्ञानमें तो आपत्ति है ही नहीं किन्तु यदि लौकिक ज्ञान भी होवे तो भी लोकमें निरापद देखा जाता है।

एक बार एक बुड्ढा, उसकी बुड्ढी स्त्री, उसका जवान पुत्र और बहू चारोंके चारों किसी गांवमें जा रहे थे। जब गांव तीन मील दूर था तो रात पड़ गई और वे सब रास्तेमें ही रुक गये। कुछ मुसाफिर और मिले उन्होंने उन्हें वहां रुकनेसे रोका और कहा कि यहां मत रुको। यहां एक भयंकर राक्षस आता है वह मिलनेवालेसे एक सवाल पूछता है और उत्तर न मिलनेपर उसे खा जाता है। बुड्ढा बोलता है—अच्छा हम देखेंगे कि वह कैसा भयंकर राक्षस है उन्होंने रातभर बारी बारी से जगना तय किया, पहले पहरमें बुड्ढा जगा। दूसरेमें बुड्ढी, तीसरेमें लड़का, और चौथे पहरमें बहू जगी।

जब बुड्ढा जग रहा था तो राक्षस आया और उसने उससे प्रश्न किया "एको गोत्रे" यह व्याकरणका सूत्र है फिर भी बुड्ढेने इस प्रश्न का उत्तर नैतिकतामें दिया 'एकोगोत्रे भवति स पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति' अर्थात् गोत्रमें वही पुरुष श्रेष्ठ कहा जाता है जो सारे परिवार में रहते हुए सारे परिवारका पोषण करता। उत्तरसे राक्षस संतुष्ट

हुआ और उसे खानेके बजाय उत्तम आभूषण आदि इनाम और दे गया।

दूसरे पहरमें जब बुड्ढी जगी तो वह राक्षस फिर आया और बुड्ढीसे प्रश्न किया—वृद्धो यूना। यह भी व्याकरणका सूत्र है परन्तु बुड्ढीने उत्तर दिया कि 'वृद्धोयूना सह परिचयात्त्यज्यते कामनीभिः'। अर्थात् वृद्ध पुरुष होय और जवान स्त्रीसे शादी हो जाय। यदि उस जवान स्त्रीकी जवान पुरुषसे प्रीति हो जाय तो यह जवान स्त्री वृद्ध पुरुष को छोड़ देगी। राक्षस उत्तरसे संतुष्ट होकर फिर चला गया

तीसरे पहरमें लडका जगा राक्षसने जाकर प्रश्न किया; सर्वस्य द्वे इस सूत्रका भी नीतिरूपमें लडकेने उत्तर दिया कि सर्वस्य द्वे सुमतिकुमती सम्पदापत्तिहेतू " जीवोंके सुमति और कुमति रहती है उसमें सुमति सम्पदाका कारण है और कुमति विपत्तीका कारण है कहा भी है" जहाँ सुमति तँह सम्पत्ति नाना " जहां कुमत्ति तँह विपत्ति निधाना " इस उत्तरसे भी राक्षस चला गया

चौथे पहरमें बहू जगी उससे राक्षसने आकर प्रश्न किया-स्त्री पुंवत्। इसका बहूने उत्तर दिया कि 'स्त्री पुंवत् प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्' जिस कुटुम्बमें स्त्री पुरुषके समान उद्दंड हो जाती है वह घर बरबाद हो जाता है स्त्रीका काम घरको सम्भालना है। पुरुष उसमें नहीं समझता। हां यदि स्त्री तंग करती है तो वह सारी तनख्वाह उसको देकर कहदे कि चलाओ तुम खर्च। धर्मकेलिये कुछ भी रखना हो, वह पहिले ही रखले और बाकीका सब खर्च चलानेकेलिये स्त्रीको देदे कि अब बजट चलाओ। तभी उसका पता चलेगा चलेगा और उसकी दिन प्रति दिन की नित्य नई मांग खत्म हो जायगी। अस्तु तात्पर्य यह है कि स्त्री पुरुषकी तरह उद्दंड हो जाय तो वह घर बरबाद हो जाता है। वह राक्षस चारोंसे ठीक उत्तर पाकर उल्टा बहुमूल्य आभूषण का उपहार देकर चलागया और उन्हें खा न सका।

जरा सोचो और जानो कि ज्ञान आत्माका कितना सहायक है।

ज्ञान के अतिरिक्त सब असार हैं। दुनियांमें मेरा कोई सहायक नहीं न यहां मेरा कुछ और न वहां मेरा कुछ। जहां जैसा २ है उनसे मुझे कुछ नहीं मिलता। मैं विचार करके ज्ञानसे जगतके स्वरूपको देखता हूं तो पाता हूं कि मेरा कुछ भी नहीं। मेरी आत्मा ज्ञानसे अधिक कुछ भी नहीं, मेरा ही ज्ञान लखपतिपना है और करोड़पति है यदि तृष्णा बढ जाय तो वह सुख और करोड़पति या लखपतिपना क्या है। मेराही ज्ञान वैभव है धर्मकी लगन होना चाहिये जिसकी धर्ममें लगन है वह मोहके साधनोंमें सदा नहीं रहता जिसको लगन होगी वह कभी २ मन्दिरमें जायगा जंगलमें जायगा एकान्तमें जायगा। झगड़नेकी वजहसे नहीं, यदि किसीका घरके किसी आदमीसे झगड़ा होगया तो उस वजहसे वह मंदिरमें या जंगल में या एकान्तमें नहीं जायगा परन्तु उसे ज्ञान स्वभाव की स्वाभाविक शांति कैसे प्राप्त हो इसके लिये कभी एकान्तमें जाता कभी सत्संगमें भी जाता कभी मंदिरमें भी आता। ऐसी उसकी चेष्टाएं होती है ज्ञानस्वभाव ही उसमें रमता है, ऐसी अंतरंगमें प्रवृत्ति हुई तो जानो कि हमको यह बात लग गई। इस बात को अपने अंतरंगमें लगाओ। यह लगन रखो इस लगनमें रहे बिना इस ज्ञानस्वभावकी रति हुए विना आत्मा साफ नहीं होगा यदि ज्ञानस्वभावपर दृष्टी दोगे तो यही तुम्हारा साथ देगा और तुम्हारी परभव और इस भवमे रक्षा करने वाली होगी। ऐसा समझ कर वाह्य पदार्थोंमेंसे मन हटाओ और निज स्वभावके आश्रयं परिणत होकर सर्व आपदायें समाप्त करो।

इस गाथा में यह वताया है कि यह ज्ञान आत्मासे अभिन्न होनेसे स्वयं तो कर्ता है और करण ज्ञान है ही सो स्वयं करण है अब वह इसके उपचारके आश्रयभूत वाह्य अर्थोंके उपचारसे कार्नभूत समस्त ज्ञेयाकारोंको व्याप कर वर्तता है। इसलिये कार्य कारणका उपचार कर के यह कहा जाता है कि ज्ञान अर्थोंको व्याप कर वर्तता है। यहां भी परमार्थ से जो वस्तुस्थिति है उसकी पहिचानसे अखण्ड विभक्त एकत्व परिणत निज ज्ञानस्वभावको देखना। उक्त कथन ज्ञान स्वभावकी

पहिचानकेलिये है सो ज्ञान स्वभावको पहिचानकर सर्व विकल्प त्यागकर उसमें ही रत रहना यह उपाय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चरित्र की परिपूर्ण एकताका होगा।

इस प्रकार यह सिद्ध किया कि ज्ञान अर्थोंमें रहताहै अब आगे कहते हैं कि इस ही प्रकार अर्थ ज्ञानमें रहते हैं ऐसा संभावन करतेहैं यहां संभावयति शब्द उत्तम है जिससे यह ध्वनित है कि निश्चयतः तो ज्ञान ज्ञानमें ही रहताहै और अर्थ अर्थमेंही रहतेहैं तथापि जिस दृष्टि से ज्ञान । अर्थोंमें व्यापना कहलाया उस दृष्टिसे अर्थोंमें ज्ञानका रहना कहा गया है।

जदि ते ण संति अत्था णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अत्था ॥३१॥

यदि विश्वके समस्तपदार्थ अपने ज्ञेयाकारके अलौकिक समर्पणकेद्वारा उस केवलज्ञानमें न हो तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं कहलासकता। जैसे दर्पणमें सम्मुखस्थित पदार्थ अपना बिम्ब समर्पण करदेतेहैं। यद्यपि पदार्थ या पदार्थका गुण या पर्याय उस दर्पणमें अथवा दर्पणके गुण या पधार्थमें नहीं पहुंचता फिर यह तो आंखी सामने की बात है कि पदार्थ जो झलकनेके योग्य हैं उनके निमित्तको पाकर दर्पण उस पदार्थ के अनुरूप अपने बिम्ब बना लेताहै। वैसे ही तत्त्वतः जगतका कोई पदार्थ अथवा पदार्थोंका गुण या पर्याय ज्ञान गुण या पर्यायमें अथवा आत्मामें नहीं पहुंचता फिर भी कुछ तो यहीं प्रगट सिद्ध है कि हम जितने पदार्थोंको जानतेहैं वे अथवा उनके गुण या पर्याय कुछ भी मुझमें अथवा मेरे गुण या पर्यायोंमें प्रवेश नहीं पारहेहैं तब यही स्वभावसिद्ध बात केवलीमें भी है। परन्तु व्यवहारसे यदि ऐसा नह अर्थात् निमित्तनैमित्तिक भावरूप बात न हो तो ज्ञान की अर्थक्रियाका अभाव होनेसे ज्ञानका ही अभाव होजायगा और ज्ञानका अभाव होनेसे आत्माका अभाव होगा और आत्माका अभाव होनेसे इन सब पृथ्वी

काय जलकाय अग्निकाय वायुकाय वनस्पतिकाय रूप पुद्गलोंका अभाव होजायगा क्योंकि जो कुछ पुद्गल द्रव्य दीखते हैं उनका यह आकार प्रकार जीवद्रव्यकेद्वारा निमित्तरूपसे वर्गणाओंके ग्रहण बिना नहीं हो सकता था। जब इन दो का ही अभाव होगया फिर दुनियां ही क्या ? किन्तु दुनियां सब प्रकटसिद्ध है अतः ज्ञान व्यवहार नयमें सर्वगत है और ज्ञान सर्वगत तभी हैं जब सर्व ज्ञानगत हो।

भैया यहां निर्मलज्ञानकी महीमा तो देखो जगत् में जो भी सत् है वह निर्मलज्ञानसे बाहर नहीं है सर्व अर्थ अवश झलकते हैं। अहो कैसा स्वभाव है। इस जीवने अपने ऐसे उत्कृष्ट वैभवको तुच्छ बातोंके प्रसंगमें आकर ढकदिया है ऐसे जीव दयापात्र हैं। देखो तो कठिन बात सरलसो हो गई और सर बात कठिन होगई है। नित्य अंतरंगमें प्रकाशमान यह स्वभाव इतना गुप्त होगया जो अपनी ही बात अपनी समझमें न आवे। इस स्वभावसे ही तो सारा काम चलरहा है बिना देखे भी। और देखलेने पर इसही स्वभावसे सारा काम चलना है मोक्ष का।

हे भाइयो! अब दूसरा प्रोग्राम छोड़ो आत्मकल्याणका ही प्रोग्राम बनावो, जो कमी है और बाधा है उन्हें बाधा समझें। हम आप ज्ञानमय है। ज्ञानका बड़ा प्रभाव है, ज्ञानीके ललकारके आगे विषयचोर नहीं ठहर सकते हैं जैसे बड़ी शिथिल बुढ़ियाके घर यदि पहलवान चोर भी घुसें तो भी बुढ़ियाको यदि खांसी आजाये तो खांसीके आवाजसे ही चोरोंके पैर उखड़जाते। भैया सब जाना धन कमाया अनेक खटपट किये यदि स्वयंका स्वभाव न पहिचाना तो सब व्यर्थ। आयुक्षय बराबर चलरहाहै। वह दिन समीप है जब मनुष्यभवका आखिरी होना है। अतः चेतो बाह्यदृष्टि छोड़कर अन्तर्दृष्टि करो। देखो अपना स्वभाव जो अनादि अनंत अहेतुक असाधारण है इस ज्ञानस्वभावकी दृष्टिके बलसे हुई आत्मनिर्मलता उसपरिणतिको पालेतीहै जहां सारा विश्व बिना चाहे अवश झलकताहै। बड़ा गोरखधन्धा है जब जाननेकी चाह कोर

तो ज्ञान नहीं होता जब चाह ही न करो आत्मविश्राम करो तो सारा विश्व ज्ञानमें आजाताहै।

प्रश्न हम लोग तो थोड़ेसे ही जाननेमें बड़े दुःखी होरहेहै सर्वज्ञानक हम क्या करें। उत्तर—यहां हम सबको जो दुःख है वह ज्ञानका नहीं है किन्तु इष्ट अनिष्ट भाव का है, जो रागद्वेष रूप विकार हैं इन्हीं विकारोंके कारण हमारे ज्ञानका विकास भी रुका हुआ है। जहां मोह भाव क्षीण हुआ कि अल्प अन्तर्मुहुर्त में ही सर्वज्ञान हो जाता है। रागके क्षय करनेके अंतरंग परिश्रमकी थकानको वह अन्तर्मुहूर्तका विश्राम पूरा कर देता है, जिससे अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्त सुख व अनन्तवीर्यका विकास हो जाता है। इस अन्तः प्रकाशमान स्वभावपर दृष्टि दो। लोग कहते हैं—आजकल जमाना कमजोर है घर छोड़कर कुछ नहीं सधता, प्रथम तो यह बात पूर्ण सत्य नहीं है किन्तु अंतरंग में धर्मरुचि उत्कट न हुई हो, इच्छाओंकी आधीनता बन रही हो तो घर छोड़ना विडम्बना ही है। तो भैया हम घर छोड़ने की तो नहीं कह रहे, घर तो आपमें प्रविष्ट ही नहीं है घर को तो आप पकड़ ही नहीं सकते, छोड़नेकी बात क्या? यहां तो जो जैसा पदार्थ है उसे वैसा मान लिया जाय, न कम न ज्यादह इतना ही बड़ा पुरुषार्थ है यह तो सबसे पहिले करना ही पड़ेगा। इसके फलमें भविष्यमें क्या वर्तमान बनेगा उसीकी यह यथार्थ महिमा गाई जा रही है।

सर्वज्ञ देव मात्र व्यवहारसे सर्वगत है अथवा सर्व अर्थ व्यवहारसे केवलज्ञानगत हैं। इस व्यवहारका मूल कारण ज्ञानकी शक्ति और महिमा ही तो है। विश्वकी परिच्छित्तिके आकार जो ज्ञान परिणम जाता है और परिणमता भी सहज और अवश होकर यह, शुद्ध आत्माका ही प्रभाव है। इस तरह ज्ञान सर्वगत है तो इस ज्ञानकी भूमिमें अवतीर्ण हुए जो ज्ञेयाकार उनके विषयरूप कारण तो ये पदार्थ हैं। तो इस परम्परासे तो यह निश्चय ही कर लेना चाहिये। कि उन

इन ज्ञेयाकारोंके कारणभूत ये पदार्थ ज्ञानमें स्थित हो गये।

देखो भैया! विवेक सब कथनोंमें जागृत रखना। निमित्तनैमित्तिक भावको व्यवस्था और स्वतन्त्र सत्ता दोनोंका एक साथ बोध ज्ञानीके रहता है। सामान्य विशेष दोनों एक साथ रहते हैं, निमित्तनैमित्तिक भावकी व्यवस्था और स्वतन्त्र सत्ता दोनों एक साथ हैं निमित्त की उपस्थिति और उपादानकी तैयारी दोनों एक साथ हैं, द्रव्य और पर्याय दोनों एक साथ हैं परन्तु ऐसो पर्याय होनेमें जहां कि द्रव्य, उपादान, स्वतन्त्र सत्ता व सामान्य इनपर अभेद दृष्टिसे उपयोग परिणति हो वहाँ कल्याण अवश्य है। भैया धर्म यही वीतरागदृष्टि ही तो है सो धर्म तो स्वयंमें है परन्तु पता पहिचान न होने से बाहर खोजकी भाग दौड़ हो रही है।

एक सेठ था वह अपनी वहीमें लिख गया था कि पुत्रो जब तुम्हें निर्धनता सतावे तब खंभसिंह से धन लेलेना। पुत्र निर्धन हुए और सेठ तो पहिले ही मर गया था। पुत्रों की दृष्टि उस वहीके लेखपर पड़ी तो पुत्रोंने थंभसिंह की बड़ी खोज की। कई गांव ढूंढ डाले परंतु थंभसिंह न मिला। उन पुत्रोंको व्यग्र देखकर एक बुद्धिमान सज्जन ने उन्हें समझाया, कि भाई वह थंभसिंह कोहीं बाहर नहीं है वह तो तुम्हारे हीं घरमें होगा और जाकर परीक्षा करके उसने बताया कि थंभा ही तुम्हारा देनदार थंभसिंह है। उन्होंने उस थम्भे को खोदा तो वहां से काफी धन निकला। इसी तरह हम धर्म करने या सुख पाने के लिये दुनियां भरमें भटक रहे हैं। जिन ज्ञेयोंको निमित्त पाकर हम अपनी कल्पनायें बना लेते हैं और कुछ सुखाभास अनुभव करते हैं उन्हीं ज्ञेय जड़ पदार्थोंकी ओर झुके जाते हैं। परन्तु जरा धीरतासे देखो तो सही वह ज्ञान किससे आया—किसकी परिणतिसे,वह भरा कहां था—कहां से निकला।

भैया! यह सब अपने सुख स्वभावके परिणमन हैं। यह स्वभाव इतना उदार है कि मिथ्याबुद्धिमें उलटे चलनेपर भी यह सुख

स्वभाव अपना कुछ न कुछ काम कर ही देता है यदि मिथ्याबुद्धि छोड़ दी जावे और सुख स्वभाव जो ज्ञानका अविनाभावी है। अनादि अनंत अहेतुक है उस स्रोतपर यदि दृष्टि जावे। तब तो अनन्त सुखका अनन्त कालके लिये अनन्त विकास हुए विना रह नहीं सकता। इस हरम भैया धर्म- सुख- ज्ञान- सब कुछ कल्याण निजमें है परन्तु पर या- मोहके पुछल्ले से सब हैरान होरहे हैं। अब तो गई सो गई अब राख रही को लोसमय गया सो गया अब आगे क्या करना इसे देखो। करना केवल यही है- अपने को को सब दृष्टियों से सब प्रकार निश्चय करके पूर्व अखंड निज सत् को अभेदस्वभावसे अनुभव करना जिन्होंने इस पुरुषार्थको पहले किये व पहले सिद्ध हो गये हैं जिन्होंने अब किया वे अब सिद्ध हो चुके हैं जो अब आगे करेंगे व भविष्य में सिद्ध होवेंगे। जिनकी ऐसी महिमा इन प्रकृत गाथाओंमें चल रही है। वे अनन्तानन्त- कालतक प्रभुतासे सम्पन्न अर्थात् अनंतज्ञानी और अनन्तसुखी सर्वबा- धाओंसे विमुक्त रहेंगे।

इस प्रकार ज्ञानी आत्माका ज्ञानका पदार्थोंके साथ अन्योन्यवृत्ति- पना कहा अर्थात् ज्ञानमें विश्व, और विश्वमें ज्ञानका कथन किया निमित्त नैमित्तकभावसे व्यवहारसे यह बात भूतार्थ है तथापि कोई द्रव्य किसी द्रव्यको न ग्रहण करसकता है और न छोड़नेका परिणमन कर सकताहै, क्योंकि सभी वस्तुयें अपने ही चतुष्टमें परिणमन करते हैं अतः सर्व विश्वको देखते और जानते हुए भी ज्ञानीका सर्व विश्वसे न्यारा दिखाते हैं। वह ज्ञानीतो सर्व विश्वको देखता जानता हुआभी सर्वविश्वसे अत्य- न्तविविक्तहै इसबातको दिखातेहैं अथवा इसपरिणतिको अपने कोहुवाते हैं अथवा निमित्त बनकर पर को. हुवाते हैं। कहना वही सार्थक है जहां करना भी हो। इस भेद- भावनामें स्वयंपर तो प्रभाव रचयिताका तो है किन्तु इस वैराग्यपूर्वकथनके निमित्तबनकर परके उपकारीभी श्री गुरुहैं। यह केवली भगवान्का प्रकरण है अतः केवली सर्व तत्त्वको इस शैली से स्वतंत्र देख रहे हैं किन्तु यही शैली हम लोगों की भी है। हम भी

जानते हुए देखते हुए भी ज्ञेयोंसे सर्वथा विविक्त हैं- हमलोग भी जितना जानते हैं वह भाग अपना परिणमन करके ज्ञेयकारको जानते हैं परन्तु किसी भी वाह्य अर्थको न ग्रहण करते हैं और न छोड़ते हैं,केवल अपने परिणमनको प्रतिक्षण ग्रहण करते हैं और छोड़ते जाते हैं।

प्रश्न— यह वात तो अत्यन्त प्रसिद्ध है फिर इसपर अधिक जोर देनेका प्रयोजन क्या हैं ? उत्तर- भैया वस्तुस्वरूपका सत्य विज्ञान पाना इस जीवको सरलका ढंग होते हुए भी कुछ कठिन होरहा है। जगतके ये पदार्थ कैसे उत्पन्न होजाते हैं इस समस्याका हल प्रारंभ में बड़ा दिमाग चाहता है। सो लोक किसी अद्भुतकी खोजकरनेमें लग जाते हैं तथा वस्तुविज्ञानकी जब यह वार्ता सुनते ही हैं प्रभु सर्वज्ञेयोंमें है और समस्त ज्ञेय प्रभुमें है तब प्रभु के साथ समस्त जगतका पूरा सम्बन्ध जोड़ बैठते हैं। इसके फल स्वरूप इस धारणाका उत्कृष्ट प्रचार होगया है कि समस्त जगतको हमको आपको सबको बनाने वाला प्रभु है। बस अब क्या है इस धारणाके पश्चात् विज्ञानघन सहजानन्द निजस्वभावमें स्थिर होनेकी दृष्टि से भी वञ्चित होगये। अपनी वास्तविक स्वतंत्रताकी विभूति से उपयोग में हीन होगये। यह अकल्याणका दृड़ गढ है और साथ ही प्रभु के स्वरूप सहज आनंद कृतकृत्यपनेका घात बुद्धि में कर देनेसे प्रभुका भी बड़ा अपमान कर वैठते। इस अनर्थसे बचने केलिये प्रकृत वात को विस्तारपूर्वक कहना लाभदायक है।

अब उक्त प्रकरणके सम्बन्धमें यह स्पष्ट करते हैं कि प्रभु क्या तो करते हैं और क्या नहीं करते हैं-

गेण्हदि णेव ण मुँचदि ण परं परिणमदि केवली।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं॥३२॥

केवली भगवान न तो पर पदार्थ को ग्रहण ही करते हैं और न छोड़ते ही हैं। छोड़ना कहलाताहै ग्रहण किए हुए पदार्थका त्याग करना। कोई कहता कि तुम्हारा वाप कैदसे छूट गया तो तुम कहते

मेरा बाप कैदमें गया ही कब था जो छूट जाता । इसी तरह जो पदार्थ ग्रहण ही नहीं किया उसे छोड़ना कैसा । भगवन केवलीपर पदार्थको न तो ग्रहण हीं करते हैं और न छोड़ते ही – । किन्तु समस्त आत्म प्रदेश में सर्व पदार्थोंको निर्विशष जानते हैं । केवली भगवान पर्यायमें भी विकल्प रहित है, अतः केवली की बात कहीं, वस्तुतः तो यह आत्मा स्वभावसे ही पर द्रव्यके ग्रहण रूपसे या त्याग रुपसे परिणमता नहीं हैं । पर द्रव्य क्या क्या चीज़ है ? अन्तरंगमें राग, द्वेष, क्रोध,मान, माया-लोभ, आदि भाव ये सब निजमें हैं । जो आत्मा इन्हे ग्रहण ही नहीं करता वह उन्हे छोड़ता क्या? यहाँ आत्म स्वभावका जिक्र चल रहा है । स्वभावसे यह आत्मा न पर द्रव्यको ग्रहण करता और नये छोड़ता ही । अथवा द्रव्य दृष्टिसे द्रव्यका जो विपक्ष है वह पर्याय कहलाता । तब द्रव्य जो कहलाता है उससे भिन्नस्वरूपी पर्याय हुआ पर पदार्थका स्वभाव । अब द्रव्य में ही वह ज्ञान जो प्रगट हो गया है, केवलज्ञान आदि ज्ञान सो वह किसी भी पदार्थका ग्रहण त्याग नहीं करता । ज्ञान भी वाह्य पदार्थोंको ग्रहण नहीं करता और उसके निमित्तसे अन्तरंगमें जो कालिमा आती उसको भी ग्रहण नहीं करते । वह तो आत्मज्ञान स्वभावको ग्रहण करते । उसके लिए दुनियांके पदार्थोंमें कोई चीज ग्रहण करने योग्य रहो ही नहीं । यह आत्मकर ज्ञानी हाथपर हाथ धरकर नहीं बैठा । बल्कि ग्रहण करनेकी क्रियाको छोड़कर अपने आपमें रस होकर बैठ गया । ज्ञानीने क्या देखा? उसने देखा कि व्यचित्तकी सत्तासे उसकी सत्ता अत्यन्त निराली है । मैं निमित्तको भी परणमा नहीं सकता जगतके सब पदार्थ अपनेमें सुरक्षित हैं ऐसे ही सुरक्षित जगतके सारे पदार्थ जो है इनमें क्या परिणाम कर सकता हूं ? इनका चतुष्टयरूप होनेसे मेरी शक्ति काम नहीं करती । मेरी योग्यता और मेरा कामतो केवल मेरे ही परिणाममें होता । अश्वासे में द्रव्यके ग्रहणमें मेरा ज्ञान में लगा देता था । पर द्रव्यके ग्रहण और मोक्षणके परिणमनके योग्य नहीं होनेसे मैं केवल अपने निजतत्त्वज्ञानमें ही परिणमता रहता । मैं

पर द्रव्यकी हरिणमाता, ऐसी बुद्धि होनेके कारण आत्मामें कालिमा आई। कर्म बन्धन हुए। यह सब चीज पर पदार्थोंमें निज बुद्धि लगानेसे हुई। जैसे कोई साधु जो लंगोटी मात्र अपने पास रखता है उस लंगोटीमें भी अपनी बुद्धि रखता है, उसका मोक्ष मार्गका प्रारंभिक घात हो जाता और शान्ति उसके पास नहीं आपाती। उसी तरह ये पर द्रव्य अपने ही द्रव्य, काल और भावसे विद्यमान है तो मेरे ज्ञानका इनमें पहुंचनेका कारण है भेदविज्ञानका अभाव। इन सब पर द्रव्यमें क्यों ममत्व हुआ क्यों इनमें आत्म बुद्धि पैदा हुई। यह सब आत्मा की मलिनता और कलुषताके कारण है। जब तक यह नहीं मिटती तब तक आत्मामें शान्तिका भाव नहीं आसकता। शान्ति के लिये केवलज्ञानी को पहले भेदज्ञान हुआ। भेदज्ञानके भेदसम्यक्त्व हुआ, उसके बाद निर्विकल्पकी भावना हुई। उसके बाद स्वयं निर्विकल्प हुआ, उसके बाद ४ घातिया कर्मोंका क्षय हुआ, अनन्त ज्ञानादि प्रगट हुए, उनकी किरमें प्रगट हुई, ज्ञानमें अनन्तज्ञान पैदा हुआ, दर्शन में अनन्तदर्शन हुआ, शक्तिमें अनन्त वीर्य प्रगट हुआ और सुखमें अनन्तसुख प्रगट हुआ और बादमें अघातिया कर्मोंका क्षय है चुकते ही सिद्ध पर्याय हुई तब वह केवलज्ञानी भगवान अशरीर सिद्ध हुए। वहाँ भी जिसमें पर्यायें प्रगट हैं वह एक चैतन्यमय द्रव्य है उसका सर्वस्व जो चैतन्यभाव है जब तक उसका अभेद अनुभव नहीं है आराधकमें सम्यग्ज्ञान पैदा नहीं होता। अतः सर्वोपरि चीजपर लक्ष्य रखें तो यह जीव इस लक्ष्य के कारण अपने ज्ञानमें उसे अभेदरूप स्वीकार कर उसके कारण उस लक्ष्यतक पहुंच जाता है। मकानका लक्ष्य किए बिना क्या मकानपर पहुंच सकता है? छतका लक्ष्य किए बिना मनुष्य छतपर कैसे पहुंच सकता है। उस लक्ष्यके बिना वह सिढ़िको चढ़कर छतपर पहुंच ही नहीं सकता। सिढ़ियोंपर चलकर सीढ़ों का त्याग करता रहे तभी वह छतपर पहुंच सकता है। अतः हमारा लक्ष्य वहाँ होना चाहिये वहाँ चैतन्यभावके अनुरूप पर्याय प्रगट होती

है। ऐसी चैतन्य अवस्था कैसे प्राप्त होती है? जिसको कि वह आत्मा परिणमता है ऐसे चैतन्य भावका लक्ष्य है, वह निजमें आनेवाली अपूर्ण अपूर्ण निर्मलताओंमें बढ़ते हुए, अपूर्ण निर्मलताओंके भावको छोड़ते हुए पूर्ण निर्मल अवस्थामें पहुंच जाता है। ये अपूर्ण निर्मलताके भाव उस पूर्ण निर्मल स्थितिपर पहुंचनेकेलिये सीढ़ियोंपर चढ़ते हुए उन का त्याग करते हुए उस पूर्ण दिशा पर पहुंच जानेके लिये हैं, श्रेढ़ियाँ पर चढ़ते हुए और बिना श्रेढ़ियोंका त्याग किये अंततपर पहुँचा नहीं जा सकतो। इसलिये ज्ञानो जीव अपने उस चैतन्य स्वभावपर, जो घट घटमें अनादि अनन्त अहेतुक विराजमान है, उस पर मजबूत दृष्टिवाला रहता। वह चैतन्य भाव उपयोगमें स्थिर हो जाय तो वहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ आदिका कर्ता नहीं रहता। एक इस चैतन्यभावके अनुभवमें आने पर क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि दृढ़तापूर्वक नहीं रह पाते और वे अपने नियमके शिथिल हो जाते।

जो ज्ञानी ज्ञान सुधारसका स्वाद करते हुए अपने आपमें निज भावको प्राप्त करता है, अपने निजतत्त्वरूप केवल ज्ञानरूप हो होकर परिणमन कर रहा है तो उसके ज्ञानकी ज्योति निष्कम्परूपसे प्रगट होगी। जैसे दीपककी ज्योति प्रगट हो जाय और हवासे उसमें शिथिलपन रहता है तो कहा जाता कि दीपक निष्कम्परूप नहीं है। यदि दीपककी वहा ज्योति प्रगट भी है और निष्कम्प भी है तो यह कहा जाता कि पदार्थ ठीक प्रकाशमें आरहे हैं। भगवानका ज्ञान भी ऐसा ही निष्कम्प है। ऐसा वह ज्ञानरूप हो होकर सर्व आत्मप्रदेशोंमें दर्शज्ञानकी शक्ति स्फुरायमान होती। वर्तमानमें यह जीव आँख द्वारा वह ज्ञान करना चाहता था और चाहता भी हो तो ये सब उसकी निष्फल कामना है। हमारा ज्ञान अनेक झंझटे रखता परन्तु भगवान केवलीके चारों ओरसे बिना आँखसे देखे ही दर्शन ज्ञानकी शक्ति स्फुरायमान है। हम देखते है कि रसका जानना तो इस तरह हुआ कि खानेपर यह पता लग जाता कि यह बड़ा मीठा होता है। परन्तु केवलज्ञानीको

विकार स्वादका अनुभव नहीं चलता है फिर भी रसका ज्ञान आजाता। हम भी कई बार बिना स्वाद लिये भ जान जाते कि इस चीज का स्वाद कैसा है। नींबू को जब देखते हैं तब नींबूके रसका ज्ञान हो जाता कि इसका स्वाद खट्टा है। वहाँ भी विकाराभिमुखता है। परन्तु भगवान तो केवल ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप ही रहते, वे इन विकारोंमें स्वादका अनुभव तो नहीं करते, फिर भी समस्त द्रव्योंको आत्माके द्वारा आत्मामें जान लेते। भगवानने निश्चयसे आत्माको ही जाना और व्यवहारसे , यानी उनकी पर्यायका विषय क्या है, इस दृष्टिसे विचारो तो यही सिद्ध है कि वे सबको जानते। निश्चयसे वे केवल अपनी आत्माको ही जानते और व्यवहारसे सबक जानते। खासियत केवल केवली भगवानमें ही नहीं है, हममें भी है। निश्चयसे हम अपने आपको ही जानते, और व्यवहारसे इन पदार्थोंको जानते। इसका क्या भाव? यह आत्मा अनन्त गुणोंका पिण्डसमूह है उनमें एक ज्ञानगुण भी है वह भी आत्मप्रदेशमें ही है। ज्ञान गुणकी जो क्रिया होगी वह आत्मा में ही होगी। उसकी क्रिया चलना नहीं, बैठना नहीं, उसकी क्रिया जानना मात्र है। ज्ञान गुण आत्मप्रदेशमें ही है अतः जितनी भी उसकी क्रिया है, वह सब क्रियावान में ही रहेगी और ज्ञानके प्रयोगसे ज्ञानकी क्रिया आत्मामें पड़ी। ज्ञानके द्वारा ज्ञानीने चीजको ही जाना। परन्तु वह ज्ञान किस विषयक है? वहाँ यह कैसे जाना कि यह ज्ञान पदार्थोंमें जाता? इस विषयक यह है यह अपेक्षा लेते हैं तो कहते कि यह ज्ञानकी सीमा है इस तरह परको जाना। सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि सबके यही बात है। परन्तु मिथ्यादृष्टि इस भेद को नहीं जानता पहिचानता। वह बाह्य पदार्थोंमें ही दृष्टि रखता है और कहता कि मैं तो बाह्य पदार्थोंकी ही जानता हूं। मैं पर द्रव्य में परणमन कर सकता हूं। इस प्रकारका मिथ्यादृष्टि विकल्प रखता और पर द्रव्य का कर्ता कहा जाता है। परन्तु कोई भी पर द्रव्यको कर ही नहीं सकता। यदि ऐसा हो सकता तो वह ज्ञानीसे भी बढ़कर होता। परद्रव्यको अज्ञानी

और ज्ञानी दोनों ही नहीं कर सकते । अज्ञानीको पर द्रव्यका कर्ता कहना उसके मनका विकल्प बताना है । इसी लिये कहा जाता है कि हे अज्ञानी तू पर द्रव्यका कर्ता क्यों बना ? पर द्रव्य को करना रूप जो उसका विकल्प तूने कर रखा, यह विकल्प दूर कर। उस विकल्प का निषेध करनेकेलिये कहा जाता । इसका मतलब यह लगाना कि पर द्रव्यके कर्ताभावके विकल्प को तू क्यों करता ? इसी तरहसे यह ज्ञान घटपट आदिका ज्ञाता नहीं बनता । यह ज्ञान अपनी ही ज्ञान तरंगोंसे अपनी ही आत्माका ज्ञाता बना है ।

परन्तु ज्ञानके विषयमें ज्ञानका सम्बन्ध छोड़कर उपचारसे कहा जाता कि मैं घट पटका ज्ञाता हूं । परन्तु वह तो केवल अपनी आत्मा का ज्ञाता है, न स्त्री का ज्ञाता है और न पुत्रका, बल्कि अपना ही ज्ञाता हो रहा। अज्ञानी विकारीरूपसे और ज्ञानी अविकारी रूपसे ज्ञाता कहा जाता। विकारी रूपसे ज्ञाता जो है वह मिथ्यादृष्टि कहा जाता क्योंकि वह विशुद्ध ज्ञाता न रहकर विकारमें जुड़ गया ।

देखो भैया ! तुम अपनेको अपनी स्त्रीका स्वामी कहते हो परंतु स्त्रीके स्वामी तुम कैसे होसकते हो ? तुम तो केवल अपनी आत्माके ही स्वामी हो, इसी तरह सब पदार्थोंमें भेद समझना । यह बात समझ लेने पर ही मोक्षमार्ग का विकास हो जाता । प्रत्येकको स्वतन्त्र देखो इसमें स्व पर दोनोंका हित है । वस्तुतः कोई किसीका कुछ नहीं करता न कोई किसीका त्याग करता, मात्र अपने विकल्पका उत्पाद व्यय करता, बाह्य तो निमित्त है ।

अतः इन सब चीजोंका भेदज्ञान करो । चीजोंका त्याग चीजोंके त्यागके लिये नहीं है । परन्तु चीजोंका त्याग अपने विकल्पके त्यागके लिये है । जिसने चीजका त्याग करके भी विकल्पका त्याग नहीं किया, तो उसने चीजका त्याग नहीं किया । बाह्य वस्तुओंका त्याग उन वस्तुओंके विषय मात्र पद्धतिसे विकल्पके त्यागके लिये है । दूसरी ओर वस्तु के वातावरणमें भी रहकर जिनके विकल्प नहीं है वे भी उच्च आत्मा

है. परन्तु जिनकी प्रवृत्ति उनमें न रह कर भी उन्हींके रागमें दृष्टि पड़ी हो, उनको यह कैसे कहा जा सकता कि इनको उनका विकल्प नहीं है। तो भी वाह्य त्याग की पद्धति ठीक है क्योंकि जिनने इनका त्याग ही कर दिया। वहां आश्रय अवसर न होनेसे उनका विकल्प भी नहीं रहता। फिर भी वस्तुओंके त्यागका एक ओर से निर्णय नहीं हो सकता कि वाह्य त्याग मात्रसे इनमें उनका विकल्प का त्याग होगया।

परन्तु जिनका विकल्पका त्याग हुआ उनके पास वाह्य प्रवृत्तियां नहीं रहती। इस लिये कदाचित् अवसरकी कमी आदि से उनका वाह्य त्याग नहीं भी हो पाय तो भी उनके विकल्प तो नहीं रहता। सम्यग्ज्ञान पूर्वक आत्मस्थिरतासे निर्विकल्पकता होती है। ऐसा होते ही वे अपने आप को जानते। अपने आपको जानते ही एक ही साथ समस्त पदार्थ समस्त पदार्थोंके सम्वन्धसे समान रूपसे हृदयमें साक्षातकार हो गये। इस प्रकार तरह तरहके पदार्थोंमें ज्ञानके वदलनेकी वात ही नहीं रही। जहां ज्ञानके वदलने की वात आती वहां दुःख आता। भगवान अनन्त सुखी इसलिये ही है कि उनमें ज्ञानके वदलनेकी प्रवृत्ति नहीं है। पूर्ण व्यक्त ज्ञानका परिवर्तन नहीं होता। यदि ऐसा हो तो वहां कोई न कोई न्यूनता आ जाती है यह अनिष्ट प्रसंग हो जायगा। केवलज्ञानीने अपने ज्ञानसे जो जाना वह अनन्तकाल तक रहेगा। ज्ञान से जो जाना अथवा जो ग्रहण किया उसमें राग नहीं रहता। गृहस्थों के भी और नहीं तो ग्रहण करने की यह क्रिया कमेटीके ढंगसे हो तो उसमें राग नहीं रहता। जैसे किसी कमेटीमें किसी वस्तुको तोड़ देनेका प्रस्ताव सर्व सम्मति से पास हो जाय तो मन्त्री उस वस्तुको तुरन्त तोड़ देता है उसमें उसका राग नहीं रहता, और यदि उस कमैटी का मन्त्री अकेला स्वामी वना काम कर रहा हो तो उसके कार्योंमें उसका राग रहता और वह क्लेश पाता।

किसी वस्तुको जानने जानने और उसकी करने करनेमें कितना भेद होता। मुनीम अपने सेठके लाखों रुपयोंके कारवार की व्यवस्था

कर रहा है, फिर भी उसके उसमें राग नहीं है। यदि उसको राग है तो केवल अपनी १००) रुपये महीनेकी तनख्वाहसे है। उसमें ही उस को राग रहता है और लाखों रुपयाके उस कारोबारसे उसको कोई राग नहीं। परन्तु इसके विपरीत सेठको उस कारोबारसे राग है। यदि उसके पास टेलीफोनसे खबर आ जाती कि एक लाखका नुकसान हो गया तो उसके मनमें खलबली मच जाती कमसे कम सिरदर्द तो तुरंत करने लगेगा। रागके कारण सेठको तो खलबली मची, परन्तु मुनीम को उससे कोई खलबली नहीं मची। उसको तो अपने सौ रुपये की खलबली मचती। कामकी खलबली नहीं मचती। लड़की माय केसे सुसराल जा रही है। पहली बार ही नहीं, जब जब भी वह सुस- राल जाती है, खूब रोती है। रोती भी ऐसी है कि दूसरा देखे तो उसे भी रोना आजाय। परन्तु उसके मनमें कोई आकुलता नहीं। सुसराल जाते वक्त उसके मनमें तो एक प्रकारकी उमंग उठती है। बाह्य प्रवृत्ति ऐसी होकर भी उसके मनमें आकुलता नहीं होती। लड़केकी बरात चल रही है. पड़ोसनियों को गीत गानेके लिये बुलावा देकर बुला लिया है वे नाना प्रकारके गाने गाती हैं, वे गाती हैं—'मेरा दूल्हा बना सरदार' परन्तु क्या वे श्रद्धा से गाती हैं? यदि दूल्हेके जरा भी लग जाय तो क्या उनके अन्तरंगमें जरा भी दुःख होगा? परन्तु उसकी मां, जो जरा भी गा नहीं रही है, और काम काजमें फंसी हुई है, उसके मनमें तो यही श्रद्धा है कि आज उसका पुत्र दूल्हा बना है, और जरा भी बाधा आजानेपर उसके अन्तरंगमें बहुत दुःख होता। बुलावेसे आने वाली पड़ोसनियां तो केवल पावभर बताशोंके लिये यह गाती हैं, उन्हें दूल्हा बने सरदार' से कोई मोह नहीं। परन्तु उस मांकी ममताके कारण उसके मनकी खुशीको देखो। यह सब ममताकी नींवपर चढ़ा हुआ ठाटबाट है। जो भी फसता है वह अपनी ममतासे फसता है इच्छा ही अनेक विपदाओंकी जड़ है। इच्छामात्र ही तो दुख है। देखो भैया! रहना जाना तो कुछ नहीं केवल विकल्प करके संसारमें फंस रहे। अपने

दोपका तो विचार ही नहीं करते बाह्य वस्तुओंका उलाहना देते।

कुछ आदमी एक गांवमें गए। वहां एक बगीचेमें एक चिड़ीमार ने अपना जाल बिछा रखा था। कुछ चिड़ियां उसमें फंसी हुई थीं। उनमें से एकने यह देख कर कहा कि बगीचा कितना हत्यारा है जो चिड़ियां फंसाता है। दूसरा बोला—नहीं, यह बगीचा हत्यारा नहीं है, यह पुरुष चिड़ियां फंसा रहा है' अतः यह हत्यारा है। तब तीसरा बोला कि न तो यह बगीचा हत्यारा और न यह पुरुष, हत्यारा तो यह जाल है, क्यों कि यही चिड़ियां अपने में फंसा रहा है। चौथा बोला—नहीं, इनमें से कुछ भी हत्यारे नहीं हैं, हत्यारे तो ये चावल और गेहूं के दाने हैं जिनके कारण कि चिड़ियां जालमें आ जाती हैं। तब उनमें जो ज्ञानी था वह बोला कि इनमें से कोई भी चीज हत्यारी नहीं है, वास्तवमें हत्यारा तो चिड़ियाके अन्तरंगका तृष्णाभाव है। उन चावलों और गेहूं के दानोंके प्रति उनके अन्तरंगका तृष्णाभावही उनको फंसवा रहा है। अतः हमें भी इस दुनियांमें फंसनेवाले कोई पदार्थ नहीं हैं फंसाने वाला तो निजका ममत्वभाव ही है, दुनियाँके बाह्य पदार्थ हमको नहीं फंसा सकते। वस्तुस्वरूप समझकर श्रद्धा सच्ची दृढ़ बनाओ।

भगवान का टाठबाट देखो। उनके ज्ञानकी ऐसी जानने की शक्ति होते हुए भी उनके ज्ञानको यह सोचनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी कि मैंने यह जाना, इसे भी जानूं। ऐसे ज्ञानका सामर्थ्य मिला तब केवली अनन्तसुखी है। जहाँ ज्ञान पूरा हो जाताहै, वहां कुछ भी इच्छा नहीं रहती कि मैंने यह जाना, मैं यह भी जानूं। जब ज्ञान पूरे विकास से पैदा हो ही नहीं पाता, वहां ही यह इच्छा हो सकती है। परन्तु उन के तो सब इच्छाऐं पहले ही मर गईं थीं। ज्ञानका पूर्ण विकास तभी हुआ। ज्ञानका पूर्ण विकास होनेके पश्चात् उस इच्छाके दुबारा आने का प्रश्न पैदा नहीं होता। इसको ग्रहण करूं और इसको छोड़ूं, यह भाव ज्ञान पूरा आ जानेपर नहीं आता, तभी संसारसे विरक्त होना

कहा जाता है। सांचा सुखीतो ज्ञाता दृष्टा साक्षी पुरुष ही है।"विरक्तो विषयद्वेषी रक्तोऽस्ति विषयस्पृहः। साक्षी रक्तो विरक्तो न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्"।

विरक्त किसे कहते हैं? जो विषयका द्वेषी हो उसे विरक्त कहते हैं। हम वस्तु को नहीं देखेंगे नहीं जानेगे नहीं चखेंगे स्वाद नहीं लेंगे, इन्हें दूर हटावो इस तरह जिनसे विषयोंसे द्वेष कर रखा है। उसे विरक्त कहते हैं। जिसने इनमें इच्छा कर रखी उसे रक्त कहते हैं मेरी आत्मा साक्षी है। जो साक्षी है वह न तो रक्त हैं और न वह विरक्त है मैं न रागी हूँ न द्वेषी हूं ऐसा साक्षीपन मेरा ही तो स्वभाव है। ऐसे ज्ञान स्वभाव रूप निज आत्मामें आत्माके लिये आत्मा हो से अपने आप स्वतन्त्र सुखी होऊं। सुखी होनेकेलिये पर द्रव्योंको खोजनेकी आवश्यकता नहीं। जैसे केवली भगवान सुखी रहते हैं ऐसे ही मैं भी अनन्त सुखी होऊं। मेरी आत्मा सुख शान्तिके स्वभावसे ओत प्रोत है। अतः ऐसी शांति पानेके लिये काम एक ही करना चाहिए जिन पदार्थोंके सम्बन्धमें परिणमन आ आ कर मिटता जाता है उन परिणमनों पर दृष्टि न देकर, जिसकी कि यह अवस्था होती है, ऐसा वह सामान्य ज्ञायक भाव, जो ज्ञान द्वारा इस ज्ञानमें गम्य है, केवल अनुभवसे ही पाया जा सकता है' ऐसी चीजको प्राप्त करनेका प्रयत्न करो। सदा अपनेमें सामान्य भावको सम्भालो। एक सामान्यभाव को सम्भालोगे तो सब कुछ आ जाएगा। पर्यायें तो अनन्त हैं और सामान्य भाव एक है। एक पर दृष्टि रखनेसे सब कुछ प्राप्त हो जायगा। अनेक पर दृष्टि रखनेसे कुछ नहीं मिलेगा। जैसे यात्राको जाती हुई महिलाओंने अपनेमें विचार कर लिया कि रेलमें चढ़ते और उतरते समय अपनी अपनी पोटलियोंपर दृष्टि रखना और सँभाल कर साथ रखना इस दृष्टिसे सबका सामान सम्भल जायगा। यदि दूसरोंकी पोटलीको सँभालने लगो और अपनी को न सँभालो तो किसीकी भी पोटली

नहीं सँम्भल सकती। इसी तरह अपने अपने ज्ञायक स्वभावको सँभालो तो सभी सँभल गए। सबको सँभालो और अपने को न सँभालो तो न तो सबको सँभालने की बात ही तुम से बनी और न खुद को ही सँभालने की बात बनी। सब अपने अपने को सँभालने लगे तो सभी सँभल गए। खुदको सँभाला तो धर्मका मूल यहीं प्रगट होजाता। सबपर दूसरोंपर दृष्टि रही अपनेपर दृष्टि न रही तो कुछ नहीं होगा। सबके सम्भालनेका विकल्प होनेपर एक भी नहीं सम्भला और धर्म भी नहीं सम्भला। एक निज ज्ञायक भाव आत्मतत्त्वको सब लोग अपनेमें प्रगट करो तभी उद्धार होगा। दुनियांमें हमारी कोई रक्षा नहीं करेगा भगवान का ध्यान कर भगवानका ध्यान करनेसे जो उपयोग होगा उस उपयोगसे अपने मनको निर्मल बनाना और उसके निर्मल बनाने में वाह्यसाधन हों तो भी वाह्य पदार्थोंपर दृष्टि न डालो और एक ज्ञानभाव ही स्थिर रखा तो कल्याण होगया वाह्य पदार्थोंपर दृष्टिकी बात तो दूर है जब भगवानके ध्यान करते हुए भी उसमें भगवानका अवलम्बन नहीं रहता वहां निराकुल सुखमय ज्ञानका सत्य अनुभव होता ऐसे सिद्ध ज्ञान स्थितिका नाम शिव है इस नरभव का लाभ यही है अन्यथा यह संसारी दीन दुखी ही रहकर संसार में ही डोलेगा

एक राजाका दरबार भरा था उसमें एक समस्याकी पूर्ति करनी थी, वहां एक कवि और उसका बाप भी बैठा था राजाने कविके बापसे उस समस्या की पूर्तिकेलिये कहा परन्तु यह तो आवश्यक नहीं कि कविका बाप भी कवि ही हो उसे समस्याकी पूर्ति करना नहीं आता था उसने अपने लड़केसे कहा "पुरारे बापारे" हे, लड़के—तू इस समस्या की पूर्ति कर, देखो भैया! यह शब्द ही देहाती व अशुद्ध है। लड़केने इसकी पूर्ति इस प्रकार की—कि पिताके शब्दोंसे वह पूर्ति शुरू हो और समस्या की पूर्ति भी हो जाय। उसने जो समस्या की पूर्ति की वह यह है—पुरारे बापारे गिरिरतिदुरारोहशिखरे। गिरौ सव्येऽसव्ये दवदहनजालव्यतिकरः॥ धनुः पाणिः पश्चान्मृगयुशतकं धावति भृशं।

क्व यामः किं कुर्मः हरिणशिशुरेवं विलपति ॥

इसका भाव इस प्रकार है । रेवा नदीके एक किनारे पर एक हिरनका बच्चा खड़ा था। उसके पीछे १० शिकारी धनुप वाण लिये लग रहे हैं। जहां वह हिरनका बच्चा खड़ा था उसके दोनों ओर आग लग रही थी। सामने नदी थी, दोनों तरफ आग लग रही थी और पीछे शिकारी लग रहे थे। अब वह हिरनका बच्चा विचार कर रहा है कि मैं कहां जाऊं क्या करूं। इस तरह वह विलाप कर रहा है।

(इसी तरह की वात हमारे प्राणोंकी है। सामने आकुलता रूपी नदी है। इधर उधर विपय कपायोंकी आग लग रही है। पीछेसे यमराज लगा हुआ है। अव सोच रहे कि मैं क्या करूं, कहां जाऊं? तो ज्ञानी आत्मा कहते. अरे! जहां है वहीं अपने आत्म चिन्तनमें लग जा। आगे की, इधर उधर की और पीछे की कुछ चिन्ता मत कर। विपय कपायोंके भावोंको अपने हृदयसे हटाओ, ये भाव निर्वलतायें हैं। इनसे अपना चित्त हटाकर स्वतन्त्र मार्ग से चलो। यही शांतिका मार्ग है। विकल्पोंमें मत पड़ो, तभी अनन्त शान्ति मिल सकेगी।) देखो भैया! भगवानकी तरह काम करते न वने तो कमसे कम उनके काम की शैली तो अपने आपमें समझलो। केवली प्रभु न किसी को ग्रहण करते न किसी को छोड़ते न किसी रूप परिणमन करते फिर भी देखलो सवको जानते हैं अर्थात् उनके ज्ञानका विपय सारा विश्व वन रहा है। इसी तरह हम भी किसीको न ग्रहण करते न छोड़ते न अन्य किसी रूप परिणमते हैं, फिर भी देखलो हम जान रहे हैं अर्थात् जितनी वर्तमान योग्यता है। उसके अनुरूप हमारे ज्ञानका विपय यह विश्व वन रहा है। भैया! केवली भगवानने इस संसारके गोरखधंधा से निकालने की जो अनुपम चतुराई की वह भी तो निरख लो—वही किया जैसा कि अव भी वड़े वड़े ज्ञानी जन यहां करते हैं। प्रभु काम क्रोधादि विकारोंको ग्रहण नहीं करते रंच भी सूक्ष्म परिणमन रूपसे भी स्थान नहीं देते तथा निज स्वभावके अनुरूप प्रकट हुए। अनन्त

चतुष्टयको छोड़ते नहीं हैं। यही कारण है कि यह उत्कृष्ट आत्मा एक साथ सबको जानता हुआ भी किसी भी विकल्परूप नहीं परिणमता और वस्तुतः केवलज्ञान ज्योतिसे स्वयं ज्योतिर्मय होकर अपनेको अपने द्वारा अपनेमें अनुभवन करता है। ज्ञानी पुरुष भी यहां क्या करते हैं—काम क्रोधादि विकारोंके ग्रहण नहीं करते, श्रद्धासे नहीं पकड़ते उनमें नहीं जुटते और निर्विकार स्वभावकी प्रतीतिसे जो सम्यक् ज्ञान दर्शन शक्ति सुखरूप सहज भाव प्रकट हुआ, उस स्वरूपाचरणको नहीं छोड़ते। यही कारण है कि यह अन्तरात्मा भी बाह्य पदार्थों को जानता हुआ भी किसी भी विकल्परूप अनुभव नहीं करता। अहो! श्रेष्ठ मन का पाना बड़ा कठिन है, इसे पा लिया तो सर्व यत्नसे इसका ऐसा सदुपयोग करो कि फिर किसी इन्द्रियकी आधीनता ही न रहे। इस प्रकार इस गाथामें ज्ञान ज्ञेय रूपसे नहीं परिणमता है। ऐसा वर्णन किया।)

अब जैसे केवल ज्ञानी की स्वरूप महिमा गाई वैसे ही यहाँ श्रुत केवली की महिमा गाते हैं—इस महिमा द्वारा कार्य की शैली की अपेक्षा केवली और श्रुत केवलीमें समानता दिखाते हैं—जैसे केवली भगवान सकलज्ञानद्वारा अपना अनुभव करते हैं, वैसे श्रुत केवली भगवान भी सम्यक् विकलज्ञान द्वारा अपना अनुभव करते हैं-इस प्रकार केवली और श्रुतकेवलीमें अविशेषता दिखाकर विशेष जाननेकी इच्छाका क्षोभ नष्ट करते हैं—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥३३॥

केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी, इन दोनोंमें ज्ञानकी क्रियासे अन्तर नहीं। आत्माके द्वारा आत्मामें आत्माका केवलज्ञानी संचेतन करते और श्रुतज्ञानी आत्माके द्वारा आत्मा का आत्मामें संवेदन करते। दोनों का काम एक ही है, ज्ञानकी अन्तरंग क्रियासे केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें

कोई अन्तर नहीं रहा। जितना काम केवलज्ञानी कर पाता है उतना ही काम श्रुतज्ञानी भी कर लेता है। फिर ज्यादा आकांक्षा या जिज्ञासा या लोभ हम हमारेमें क्यों लावें। केवली उपचारसे सारी दुनियाँको जानते हैं. एक अपने द्वारा अपनेमें अपनी आत्मा का संचेतन करते तो श्रुतकेवली सम्यक्दृष्टि भी अपने द्वारा अपनेमें अपनी आत्मा का संवेदन करते। केवली आत्मा के द्वारा आत्माका आत्मामें संचेतन करते और सम्यग्दृष्टि भी आत्माके द्वारा आत्मामें आत्माका संवेदन करते। संचेतन तो प्रत्यक्ष जाननेको कहते और संवेदन परोक्ष जानने को कहते। सम्यग्दृष्टिने आत्माके द्वारा आत्मामें संवेदन किया।

भगवान तो केवलज्ञान के द्वारा संचेतन करते हैं और सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानके द्वारा संवेदन करते हैं। एक आदमो लखपति होगया और एक आदमी गरीब है। वह लखपति क्या करता? कपडे पहिन लेता और आध सेर भोजन कर लेता। और वह गरीब आदमी क्या करता? वह भी कपड़े पहिन लेता और आध सेर भोजन कर लेता। इस प्रकार जो लखपति करता वही गरीब भी करता। इसी तरह केवली ही और अन्य क्या कर लेते। सम्यग्दृष्टि और केवली, दोनों ही आत्मा का ज्ञान करते। एक केवलज्ञान द्वारा आत्माका ज्ञान करता और दूसरा श्रुतज्ञान द्वारा आत्माका ज्ञान करता। यह ज्ञानकी अन्तरंग क्रिया के द्वारा वर्णन है। केवलीने केवलज्ञान द्वारा केवल आत्माका संचेतन किया। केवल का कैसा स्वरूप है। अनादि, अनिधन, अहेतुक, असाधारण जो एक निज आत्मा है, उसमें ही चेतने में आने वाला जो चैतन्य सामान्य वह है महिमा जिसकी तथा चेतक स्वभावके द्वारा एक स्वरूप है, ऐसा वह केवल है। ऐसी आत्माका आत्मामें आत्माके द्वारा संचेतन किया, ऐसा वह केवली कहलाता है। जैसे केवली ने यह काम किया, उसी तरह सम्यग्दृष्टी मनुष्यने भो आत्माका आत्माकेद्वारा आत्मामें संचेतन और संवेदन दोनों किया। अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा तो संचेतन और मति श्रुति पर्यायों द्वारा संवेदन, दोनों किया जाता।

परन्तु सिद्ध के तो केवल संचेतन ही कहा जाता।

कैसा है वह केवलज्ञान कि एक साथ ही परिणमित होगए समस्त चैतन्य विशेष जहां पर। चैतन्यकी विशेष अंश पर्यायें भी सबकी सब एक साथ आगई ऐसा वह केवलज्ञान है। कैसा श्रुतज्ञान कि क्रमसे परिणमित हुए हैं कुछ चैतन्यके विशेष अंश पर्यायें जहाँ पर। केवलीके ये सब एक साथ परिणमित हुए और श्रुत ज्ञानीके क्रमसे कुछ परिणमित हुए। केवलीने अनादि अनन्त असाधारण अहेतुक चैतन्य सम्बन्धकी महिमाको जाना और श्रुतज्ञानीने भी अनादि अनन्त असाधारण अहेतुक चैततन्य सामान्यकी महिमाको जाना। धनी और गरीब दोनोंने आधासेर रोटी खाई। धनीने अच्छे अच्छे मसालोंसे खाई और गरीबने साधारण साग सब्जीसे रोटी खाई। देखो श्रुतज्ञानीने भी खुद। खुदमें प्रयोग किया और केवलीज्ञानीने भी खुदका खुदमें प्रयोग किया ज्ञानकी जो निज क्रिया है उसके द्वारा समानता बतलारहे हैं, केवलज्ञानके स्वरूपमें चलनेकेलिये यह समानता है। यह ज्ञान दृष्टिसे कथन है व्यवहार की बात व्यवहारमें है। इसी रतह से आत्माको सरल होना चाहिये। कोई बात बनाना नहीं चाहिए। जैसी स्थिति है उस स्थितिसे बात करना चाहिये। हम बातें बनायें तो हमारे सहयोगी कोई नहीं हैं। इस तरह तो खुदने जो धर्म कर्म कमाया उस का फल खुदको ही भुगतना पड़ेगा।

हमारा यदि अशुभपयोग में ज्यादा चित रहता है तो हमको चाहिये कि शुभोपयोगका ध्यान करके अशुभोपयोगसे दूर रहें और शुभोपयोगमें रहकर आत्माका उत्थान करें। और यदि शुभोपयोगमें हमारा चित्त रहता है तो शुद्धोपयोग का ध्यान करके शुभोपयोग से दूर रहनेका प्रयत्न करें। जैसे कहा जाता कि तुमसे रातमें कुछ भी खाना न छोड़ा जाय तो कम से कम अन्न तो रातमें मत खाओ। परन्तु ज्ञानी जन यह कहते हैं कि रात को जैसे अन्न खाया वैसे मिठाई खाई, दोनों बराबर हैं। अथवा शुद्धोपयोगमें कहते कि अशुभोपयोग में या शुभो-

प्रयोग में बुद्धि करदी तो दोनों ही बराबर हैं। जो कुछ नहीं छोड़ सकता था उसे तो कहा गया कि वह कुछ तो छोड़े, कुछ तो कम करे। किन्तु यहाँ तो ज्ञानी की बात है स्वरूपसे देखो कुछ ऐसे हैं कि नहीं ? वहाँ कीं दृष्टिसे देखो उसी ज्ञानीकी दृष्टिसे देखो कि जैसा वह है वैसा ही यह। तो जैसा आत्माका परिणमन चल रहा है उसके अनुसार ही चलना चाहिये। यहाँ केवलीका नाम भी केवली है और श्रुत केवलीका नाम भी केवली है। फिर केवली का नाम केवली ही क्यों रहा और श्रुतकेवलीको श्रुतकेवली कहनेमें क्या हित था ? श्रुत ज्ञानके द्वारा जो केवलको जाने वह श्रुतकेवली कहलाता और जो केवलज्ञानके द्वारा केवलको जाने वह केवलकेवली कहलाता। परन्तु केवलकेवलीमें तो केवल और केवली दोनोंशब्द समान हो जानेके कारण और व्या रण की ऐसी ही व्यवस्था होनेके कारण केवली ही रख दिया और केवलका लोप कर दिया, परन्तु श्रुतकेवलीमें तो दोनों नाम असमान होनेके कारण दोनों ही को ही रखना आवश्यक हुआ। इसी-लिए केवलकेवलीका केवल लोप करके मात्र केवली रखा गया।

भगवानने केवलज्ञानके द्वारा केवल आत्माको जाना। इस तरह से दोनोंने केवल एक ही काम किया। इसके अतिरिक्त और कोई कुछ कर भी नहीं सकता फिर विशेष जाननेका क्षोभ क्यों करते। केवली भी केवल आत्माको जानते,तुम हमसम्यग्दृष्टिभी श्रुतज्ञानकेद्वारा केवल आत्माको ही जानते, फिर विशेष आकांक्षा या क्षोभ क्यों करते ? जब तक विशेष जाननेका क्षोभ रहता है तब तक मोक्ष मार्ग नहीं चलता। जो बाह्य ज्ञानमें विशेष ललचाये तो समझो आत्मामें आत्मतत्त्वका अवलोकन अभी नहीं हुआ। इसके जाननेमें विशेष जाननेका क्षोभ नहीं रहता। यह यदि श्रुतज्ञानीके यह क्षोभ नहीं रहा तो उसे केवलज्ञान ही हो जाता। जब तब यह क्षोभ होता तब तक केवल ज्ञान नहीं होता। सम्यक्दृष्टि जाननेकी तृष्णाको छोड़ देता। जो जाननेकी तृष्णा छोड़ेगा उसके ही आत्मीय आनंदहोगा सम्यक्दृष्टि अधिक जाननेकी इच्छा कुछ

ही रहा करता। उसके ते सब पर्याय स्वयं ही हुआ करती हैं। उसका भीतरी पुरुषार्थ बड़ा है। जिससे उसकी ज्ञान की भी तृष्णा नहीं होती। ज्ञान की तृष्णा कितना दुख देती है, ज्ञान दुख नहीं देता, इसका अनुभव भी किया जा सकता है। ज्ञानकी तृष्णाको दूर करने केलिये केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानीमें अभेद बताया है कि जो वह करता है सो तुम भी करते हो इसलिये आगे क्षोभ क्यों करते हो। जाननेकी इच्छाओंका क्षोभ भी जहाँ बुरा वहाँ अन्य इच्छाओंमें तो महा अनर्थ हैं ही। कोई भी आकांक्षा मत करो।

केवलीने केवलज्ञानद्वारा केवल अपनीही आत्माको जाना और श्रुतकेवली ने भी श्रुतकेद्वारा केवल अपनी ही आत्माको जाना। जैसे दीपक अपने आपमें ही जलता रहता है, परन्तु उसका निमित्त पाकर यहांके पदार्थ प्रकाशित होते हैं। अथवा सूर्य पदार्थोंको प्रकाशित नहीं करता, केवल वह तो अपने आपमें ही या अपने आपके प्रदेश में ही चमचमाताहै और दुनियांके बाह्य पदार्थ उसके निमित्तमें आकर प्रकाशित होजाते हैं। निश्चयसे दीपक और सूर्य अपने आपको ही प्रकाशित करते। इसी तरह केवलीने भी अपने आपको ही जाना और श्रुतकेवली ने भी अपने आपको ही जाना, परन्तु दुनियाँके बाह्य पदार्थ उनके निमित्तमें आकर जाननेमें आगए। फिर हम भी केवलज्ञानी की तरह ही काम कररहे है, अतः विशेप जाननेकी इच्छा या विशेप जाननेकी इच्छाका क्षोभ क्यों ? जैसे धनी भी आधा सेर भोजन खाता और गरीब भी आधा सेर खाता, फिर धनी होनेकी आकांक्षा क्यों करते ? काम चलने लायक पुण्यतो सद्गृहस्थके है ही,नहीं तो सद्गृहस्थही कैसे बनपाता। इसी तरह केवली भी अपने आपकी आत्माका संचेतन करते और श्रुतज्ञानी भी आपकी आत्माका संचेतन करते, तो दोनोंही अपनी आत्माका संचेतन करनेके सिवाय दुनियांमें और करते क्या हैं फिर हमें विशेप इच्छा करनेसे लाभ क्या है ? आत्मसंचेतनके लायक ज्ञान तो अन्तरात्माके हैं ही अन्यथा इस भावनाका पात्र कैसे होता यह निश्चयदृष्टिसे वर्णन

चलरहा है। इस अविशेषताकी वातको सुनकर कोई चौंक भी सकता है कि केवली और श्रुतज्ञानीकी समानता बताकर केवलज्ञानकी महत्ता ही घटा दी, भगवानकी सारी महत्ता ही घटा दी। व्यवहारदृष्टि वालोंको ऐसा विरोध जंचता है। लोग कहतेहैं कि मुझे ज्ञान वढ़ाना है। भैया काहेका ज्ञान वढाना है? परविषयक ज्ञानका ही दुनियांके लोग कहतेहैं कि मुझे ज्ञान वढाना है परन्तु वाह्य पदार्थोंका ज्ञान वढाओगे कैसे? जव उनका तुम्हारे साथ सन्वन्ध ही नहीं तो उनका ज्ञान वढ़ानेका मतलव? तुम तो केवल अपने आपको ही जानतेहो इसी तरह केवली भगवान भी अपने आपको ही जानतेहैं। वे वाह्य पदार्थोंको नहीं जानते निश्चय दृष्टिसे उन्होंने अपने ज्ञानका ही ज्ञान किया, पदार्थ तो उस के निमित्तमें आकर आपही जाननेमें आगए। वे वाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं करते, इसलिये वाह्य पदार्थ तो उनके लिये कूड़ा कर्कट हुए। उनके जानने या नही जाननेका उनसे क्या सम्वन्ध? इसी तरह हमभी केवल अपने आपको ही जानते हैं और वाह्य पदार्थ हमारे लिये अप्रयोजक है इस प्रकार केवली भी अपने आपको ही जानता और श्रुतज्ञान भी अपने आपको ही जानता। वे दुनियांमें अपने आपको जाननेके सिवाय और कुछ भी नहीं करसकते। निश्चय दृष्टिसे केवलीने भी अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावरूप आत्माका संचेतन किया और श्रुतज्ञानी, जो कि छद्‌मस्थ कहा जासकता है उसने भी अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावरूप आत्माका संवेदन किया।

श्रुतकेवलीका अर्थ है जो श्रुतकेद्वारा केवल अपनी आत्माको जाने और केवली का अर्थ है जो केवलज्ञानकेद्वारा केवल अपनी आत्माको जाने। जव सम्यक्‌दृष्टिको ध्यानमें लेरहे हैं तो अच्छा से अच्छा ज्ञानी श्रुतकेवली लिया, इसलिये यहां श्रुतकेवलीकी अपेक्षासे वर्णनहै भाव तो सभी सम्यग्ज्ञानियोंके लिये है निश्चयसे आत्मा परको नहीं जानता क्योंकि ज्ञानगुण आत्माके प्रदेशमें है इससे वाहर नहींहै। इससे वाहर हो तो विना प्रदेशके ज्ञानगुण कैसा? ज्ञानगुणआत्माके प्रदेशमें

है,तो ज्ञानका प्रयोग अपने प्रदेशमें ही होसकता, बाहर नहीं होसकता। इसलिए ज्ञान परमें नहीं जा सकता। आत्मा परको नहीं जानता वह तो केवल अपने आपको ही जानता। केवली और श्रुतकेवली केवल अपनी आत्माको ही जानते। फर्क इतना ही है कि केवलीको प्रत्यक्ष ज्ञान पैदा होजाताहै। और श्रुतकेवलीको परोक्ष ज्ञान पैदा होता है लाइन दोनों की एक है। जैसे दो कलाकारों की लाइन कलाकी एकही होती है परन्तु एक ज्यादा कला जानताहै और दूसरा कम जानता है। इसीतरह केवली और श्रुतकेवली दोनो का रास्ता एकही है। परन्तु हम लोग नाना आरम्भोंमें व्यस्त होने वाले सन्देह करने लगते हैं कि ऐसा कैसे होगा? केवली तो केवली ही हैं, श्रुतकेवली श्रुतकेवली ही है, दोनोंमें समानता कैसे हो सकती परन्तु ऐसा नहीं हैं सम्यग्दृष्टिका क्या परिणमनहै उसकी दृष्टिसेदेखो वह भी निश्चयसे आत्माका परिणमन करता और केवलज्ञानी भी निश्चयसे आतमाका परिणमन करता। जैसे दीपक और सूर्य केवल अपने को ही प्रकाशित करते, इसी तरह केवली भी निश्चयसे अपनी आत्मा का ही संचेतन करते और श्रुत केवली भी निश्चयसे अपनी आत्मा का ही संचेतन करते। जब मैं अपनी आत्माके संचेतनके अलावा कुछ करही नहीं रहा तो विशेप विशेप इच्छा का क्षोभ करनेसे फायदा ही क्या? इच्छाका विनाश करनेकेलिए ऐसा उपदेश देते। जब हम बाह्यमें कुछ कर ही नहीं सकते, तो उनकी इच्छामें क्षोभ करनेसे लाभ ही क्या? केवली तो केवल ज्ञानके द्वारा अपनी आत्माको जानता और श्रुत ज्ञानी श्रुतज्ञानके द्वारा अपनी आत्माको जानता। फर्क इतना ही है कि केवलीमें तो एक साथ ही सारे चैतन्य विशेप प्रगट हो गए और श्रुतज्ञानीमें क्रमसे कुछ कुछ चैतन्य विशेप प्रगट होते। दोनोंने जाना किसको? केवलीने केवलज्ञानसे अनादि अनन्त अहेतुक अपने आपके द्वारा ही संचेतनामें आने वाला चैतन्य सामान्य है महिमा जिसकी, ऐसी निज आत्माको जाना। और श्रुतज्ञानीने भी श्रुतज्ञानके द्वारा अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण खुदके द्वारा संवेदनमें आनेवाला

चैतन्य सामान्य है महिमा जिसकी, ऐसी उस आत्माको जाना। दोनों में संचेतन और संवेदन, अथवा प्रत्यक्ष और परोक्ष का फर्क पड़ गया। परन्तु दोनोंने अपनी आत्माको ही जाना। श्रुतज्ञानी केवल आत्माका संवेदन करनेके बाद जब ज्ञानका व्यापक रूप जानता है तो उसी आत्माका संचेतन करता। यद्यपि यहाँ ज्ञान मनके निमित्तसे प्रगट होता है, परन्तु फिर मनकी आवश्यकता नहीं होती है और केवल आत्मा के द्वारा आत्माका आत्मामें ही ध्यान करने लगता है। जब आत्मा का संचेतन करता है तब श्रुत उपाधिका भी आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उसमें रहता अवश्य है। जेसे कि ज्ञान पैदा हुआ, पैदा होने की अपेक्षा से देखो तो वह मतिज्ञान रहेगा और फिर इस निमित्तकी आवश्यकता नहीं रहेगी। जैसे इंजिनकी ठोकरसे रेल के डिब्बे चलने लगते हैं, परन्तु बादमें इंजनकी ठोकरकी आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह ज्ञान मनके निमित्त से पैदा हुआ और पैदा होने के बाद अब मनकी ठोकर की आवश्यकता नहीं रही। इन्द्रियोंके ज्ञानसे मतिज्ञान पैदा हुआ। और सम्यक्त्व अनुभव भी मन से पैदा हुआ, परन्तु निर्विकल्प आत्मा में अब मनकी आवश्यकता नहीं। मनके निमित्तसे सम्यक्त्वका अनुभव पैदा तो हुआ, परन्तु अब मनकी आवश्यकता नहीं। इस तरह श्रुतकेवली आत्मा के संवेदन के बाद संचेतन करते।

यह प्रकरण बड़ा रहस्यपूर्ण है और आगे भी कई गाथाओं में भिन्न भिन्न तरह से ज्ञानका रहस्य समझाकर भव्य जीवोंको शान्ति मार्गमें सहायता पहुंचाई है। यद्यपि इस गाथामें यही लिखा है कि जो श्रुतज्ञानके द्वारा स्वभावसे ज्ञानमय आत्मा को जानता है। उसे गणधर आदिक श्रुतज्ञानी कहते हैं। जो निर्विकार शाश्वत रूप स्वभावसे ज्ञानमय आत्माको जानता, उसे श्रुतकेवली कहते हैं। परन्तु गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्र जी सूरि ने इसका जिक्र ही नहीं करके एकदम यह बता दिया कि केवलज्ञानी केवलज्ञानके द्वारा आत्माको जानते हैं

और श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जानते हैं। आत्माको ही केवलज्ञानी ने जाना और आत्माको ही श्रुतज्ञानीने जाना, तो फिर विशेष जाननेकी इच्छासे फायदा क्या ? केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनों ही आत्माको जाननेके सिवाय कुछ कर ही नहीं सकता। इस प्रकार मालूम होता कि ये दोनों पुराण पुरुष कुन्दकुन्द स्वामी और अमृतचन्द्र सूरि दोनोंमें ऐसा सहयोग हो गया कि जैसे बड़ा भाई किसी दूसरे आदमीसे किसी वस्तुको हाथमें लिये उसके लिये लड़ रहा है और छोटा भाई उसे लड़ते हुए देख रहा हो, तथा मौका पाकर उस वस्तु को हथियाकर अपने कब्जेमें कर लेता और भाग जाता। बड़े और छोटे भाई का इसी प्रकारका सहयोग कुन्दकुन्द स्वामी और अमृतचन्द्र सूरि का भी मालूम देता। इसलिये टीकामें लिखा गया कि स्वभावसे ज्ञायक आत्माको केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनों जानते इसलिए केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानीमें अविशेषता है। देखो भैया। कुन्दकुन्दस्वामी तो और कुछ कहरहे थे और सूरिजी को रहस्यका पता था उनसे रहा न गया व झट रहस्य खोलबैठे। कोई आदमी दिनमें सूर्यके कारण जानता, कोई आदमी रात्रिमें दीपकके द्वारा देखता है पर देखनेको विधा और देखनेका विषय वही तो है जो दिनमें सूर्यके प्रकाशके द्वारा देखा जाता और रात्रिमें दीपकसे देखा जाता। जिस चीजको दिनमें सूर्यके प्रकाशसे देखा, रात्रिमें भी दीपकके द्वारा उसी प्रकार उसी चीजको तो देखा, वस्तुतः तो आत्मासे ही वह देखा जाना गया पद्धति तो देखनेकी एक ही है। इसी तरह मोक्ष पर्याय में केवलज्ञान के द्वारा केवली ने आत्मा को जाना और यहां संसारमें हमने श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जाना। फिर भी आत्मा को जानने की, उपादेय प्रयोग-ज्ञान द्वारा स्वयं से होने वाली, तरंग का विकास दोनों जगह समानता से ही तो है। आत्माको ही मोक्ष पर्यायमें जाना जाता और आत्मा को ही संसार पर्यायमें गुजर कर भी सम्यग्दृष्टि द्वारा जाना जाता। तो विशेष इच्छा करनेसे फायदा क्या ? ऐसी दृढ़तम भावना हो जानेपर अपनी बाह्य आकांक्षा

कुछ भी नहीं रहती, ऐसी निर्मल पर्याय एक दिन भी प्रगट होने पर केवल ज्ञानकी यह पर्याय इसीके बलसे प्रगट होती है जो तीनों लोकोंमें सबको एक साथ उपचारसे जान जाती।

यहां अभी प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि जब केवलज्ञानकेद्वारा केवलज्ञानी आत्माको ही जानता और श्रुतज्ञानकेद्वारा श्रुतज्ञानी भी केवल आत्माको ही जानता, फिर इस कथनको कर चुननेकेबाद यह कथन नहीं करना चाहिए कि केवलज्ञानकी ऐसी पर्याय पैदा होजाती है कि वह तीनों लोकको जान लेताहै। समाधान ठीक है यहां यह चर्चाही नहीं करनी चाहिए और न गाथा में इस चर्चाका जिक्र है मैं तो केवल आप लोगोंकी तरंग देखकर यह चर्चा कर बैठा। केवलज्ञानका महत्त्व परपदार्थोंके ज्ञानसे लगावें तो इस तरहके महत्त्वको लगानेवाला न केवलज्ञानके वास्तविक महत्वको ही जान सकता और न मोक्षमार्गकी तरफ ही चल सकता और न अपनी शांति ही कायम कर सकता। निश्चयनयके द्वारा ज्ञानकाजो विशेष स्वरूपहै उसपर विशेष बल देना चाहिए केवलज्ञान क्या काम करता ? वह आप अपने द्वारा अपने आपको जानता है। निश्चयसे केवली केवल आत्माको जानते हैं और उपचारसे सर्वज्ञ हैं। शान्ति और परम सुखका बीज वह आत्मा स्वयं ही है। जिन उपायोंसे वह आत्मा अपने आपके समीप पहुंचताहै वे उपाय शांतिको आत्मामें पैदा करतेहैं। इनके अलावा आत्माको कहीं शान्ति नहीं मिल सकती। कोई आत्मा इनके बिना शान्ति नहीं पासकता। परपदार्थका लक्ष्य करते हुए कोई आत्मा शान्ति नहीं पा सकता। पर लक्ष्य ऐसा ही है कि वह कभी शान्तिके मार्गमें अनुकूलता नहीं पैदा होने देता।

आत्माको ही श्रुतज्ञानी जानता और आत्माको ही केवलज्ञानी भी जानता। मिथ्यात्वी भी आत्माके सिवाय और किसीको नहीं जानता। परन्तु वह आत्माको विकृत रूपसे जानता। मैं मनुष्य हूं, त्यागी हूं मुनि हूँ, ब्रह्मचारी हूं, इतना ज्ञान वाला हूं, और मैं बड़ी साधना करने-

वाला हूं, इस प्रकार से मिथ्यात्वी मिथ्यादृष्टिका अनुभव करता। परन्तु इन पर्यायोंके अनुभवसे भी वह केवल आत्माका ही तो अनुभव करता। आत्माके सिवाय उसने और किसको जाना। आत्माके सब गुण आत्मामें ही रहते तो आत्माके प्रदेशको छोडकर और कहीं जाय कैसे ? कोई विकृत रूपसे आत्माको जानता, क्योंकि पर्यायोंमें इस प्रकारसे दृष्टिमें जाना आत्माको जाननेका विकृत रूप ही तो है। किन्तु सम्यग्दृष्टिके ये पर्यायबुद्धि नहीं हुआ करती, वह कहता यह सब मैं कुछ भी नहीं जिसने ध्रुव ज्ञायक स्वभावका स्वभाव लिया. वह ज्ञानी कहता है कि मैं एक शुद्ध ज्ञानरूप ही हूं। पहली अवस्थामें ऐसा सचा जाताहै कि साधु परमेष्ठी मैं ही तो हूं। उपाध्याय भी तो मैं ही हूं कहीं यह पदार्थ तो उपाध्याय नहीं बन जाता। इसी आत्माके विकास स्वरूप अर्हन्त सिद्ध मैं ही तो हूं। मंत्र भी कहा जाता सोहं, सोहं अर्थात वह सब कुछ मैं ही तो हूं। पहली पदवीमें जब कि उसे सगुण परमात्माका ध्यान रहा करता था, पंच परमेष्टीका ध्यान रहा करता था और आत्मा में इतना बल नहीं था कि वह अशुभोपयोगसे सहज ही विरक्त रह सकता हो ऐसी हालतमें उसका शीघ्र परमेष्टीमें ध्यान जाकर ऐसा ही विचारा जाताथा। किन्तु अनन्त ज्ञान स्वभावकी दृष्टिसे कहते कि साधु पर्याय उपाध्याय पर्याय। आचार्य पर्याय आदि पर्यायें बीचमें आती रहतीं और कुछ समयमें नष्ट होजाती। परन्तु सिद्ध पर्याय अनन्त काल तक रहती है। फिर भी वह तरंग ही है फिर ऐसी तरंग रूप क्या मैं हूँ? परिणमन की अवस्था रूप हूं ? मैं तो अनादि अनन्त ज्ञायक स्वरूप हूँ, मैं त्यागी भी नहीं हूँ, मैं मुनि भी नहीं हूं, मैं साधु भी नहीं हूँ इन सब पर्यायरूप में नहीं हूँ ऐसे ज्ञानस्वभावको जिसने देखा वह श्रुतज्ञानी कहलाया। श्रुतज्ञानी ऐसे ज्ञान स्वभावका संचेतन करता उसको विशेष आकांक्षाकी आवश्यकता नहीं।

इससे प्रयोजन क्या निकला ? एक तो यह प्रयोजन निकला कि ज्ञान की असलियत जानी कि वह ज्ञान जिसके लिये दुनियां भगती है,

दौड़तीहै पर लक्ष्यको करतीहै,वह ज्ञान ज्ञानी अपनेमेंही प्रयोग करताहै । बाहर नहीं करता । तो यह काम तो हम अभी कररहे हैं, आगे भी यही करेंगे । चाहे उस काममें उज्ज्वलता आती रहे, परन्तु काम तो एक ही रूपसे कररहे हैं । नाना कर्मोंका क्षोभ यहां खत्म करदिया गया । किन्हीं को यह शंका होजातीहै कि आत्मा तो परोक्ष है फिर इसका ध्यान कैसे किया जाय ? भाव—शुद्ध गुणोंकेद्वारा निर्विकार है सो निर्विकारस्व-संवेदन ज्ञानकेद्वारा इस आत्माका ज्ञान किया जाता । आत्मा प्रत्यक्षसे समझने में आता,÷ जिनके और कहीं दृष्टि नहीं पली उनके लिये आत्मा इतनी दूर नहीं है कि न समझी जासके किन्तु जिनकी दृष्टि और कहीं पली उनके लिए आत्मा इतनी दूर है कि समझमें नहीं आसकती । यह भी नहीं कहा कि उसमें भी सर्वथा दूर है । केवल बाह्यरुचि से घट में रहतेहुए भी इतनी दूर होगई कि आत्माके अनभिज्ञ पुरुषको मालूम ही नहीं पड़ती । परन्तु अभिज्ञ कहता यही मैं हूं तो आत्मा उसके लिये बिल्कुल नजदीक क्या वही आत्मा है, नजदीकमें तो फिर भी अन्तर आजाता । मैं ही ज्ञान हूं, वहां तो मैं ही ज्ञानमय हूं अतः दूर अथवा नजदीक क्या ? परन्तु जहां ये कहा कि मेरा ज्ञान किताबमें है, वहां तो दूरी आगई । जिन्हें आत्माका ज्ञान है उनके लिये आत्मा दूर अथवा नजदीक नहीं । इस तरहसे परोक्ष होते हुए भी इस आत्माका निर्विकार संवेदन रूप द्वारा ध्यान किया जासकता है ।

इस प्रकार संवरतत्त्वको पुष्ट करनेवाली ज्ञानस्वरूपकी अविरोधता बताकरके अबचौंतीसवीं गाथा में एक बड़े महत्व की चीज बताते हैं ।

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया॥३४॥

हे भाई श्रुत ज्ञानके द्वारा तुम आत्माको जानते हो न, [illegible] विषय हुआ आत्मा वह विषयभूत आत्मा निर्विकार अखंड ज्ञान स्वभाव सहित है । तो विषय तो ठीक बता दिया पर तुमने उस विषय को

जानने वाले साधनका भेद क्यों पाल रखा ? श्रुतज्ञानके द्वारा जाना, इसमें श्रुतके भेदको नष्ट करदो ताकि मात्र ज्ञान ही रह जाय। उस हालत में यहां भी जीवज्ञानके द्वारा आत्माको जानता है यह सिद्ध होजायगा और वहां मोक्ष पर्यायमें भी जीव ज्ञानकेद्वारा आत्माको जानता है यह सिद्ध हो जायगा। यहां भीतरी वैभवकी सदृशता बतलारहे हैं। जैसे लाईट जल रही है। हरे रंगका बल्ब लगादिया तो हरा प्रकाश हो गया। उस समय हरी लाईटसे जानते। हरी ज्योतिसे दीखता। परन्तु ज्योतिका निजका क्या काम है ?क्या यह काम है कि हरा रहना ? क्या यह हरा रूप प्रकाशका कार्य है। प्रकाशका काम यह नहीं है, प्रकाशका काम प्रतिभास स्वच्छता उजाला करना है। हरा कम और नीला तो उजाला की उपाधि है। अभी देखो कि मसाला लगा कर के सफेद लाईट करदो और बड़ा सफेद प्रकाश होने लगता। यह सफेदी भी उजाले का स्वरूप नही रही उजालेका निजका काम क्या ? प्रकाश। यह रंग तो उस प्रकाशमें मिल गया। प्रकाशमें हरा नीला आदि उपाधि नहीं लगी। इसी प्रकार ज्ञानमें भी उपाधि नही लगती। जैसे श्रुतज्ञानमें श्रुतकी उपाधि नहीं लगती। हरे किस्मके द्वारा केवल जाननेका काम करतेहैं और नीले अथवा सफेद किस्मके प्रकाशकेद्वारा भी केवल जाननेका कार्य करतेहैं। इसी प्रकार सब ज्ञानोंकेद्वारा हम केवल जाननेका काम ही करतेहैं। परन्तु उस जाननेमें ज्ञानकी उपाधि क्यां ? श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माके ज्ञेयाकार स्वरूपको जानना। इस ज्ञानमें श्रुतकी उपाधि क्यों ? वह स्वरूप तो ज्ञानसे ही जाना गया। जिस ज्ञानसे जाना गया उस ज्ञानमें उपाधि नहीं होती। हरा है सो प्रकाश नहीं और प्रकाश है सो हरा नहीं। इसी तरह श्रुत है सो ज्ञान नहीं और ज्ञान है सो श्रुत नहीं। केवलीने केवलज्ञानकेद्वारा आत्माको जाना और श्रुतकेवलीने श्रुतज्ञानकेद्वारा आत्माको जाना। परन्तु उस ज्ञानके केवल और श्रुतकी उपाधि क्यों ? ऐसा कहे कि मोक्षमें भी जाकर ज्ञानके द्वारा आत्मा को ही जानते और संसारमें भी ज्ञानके द्वारा आत्माको ही जानते।

ऐसी निर्मल आत्मामें मेरा प्रवेश होजाता तो फिर मेरे लिए कोई बाधा ही नहीं रहती। श्रुतकी उपाधि भी हटाओ। चश्मा केद्वारा देखा × यहां भी तत्त्वसे चश्माकेद्वारा नहीं देखा, आंखकेदूवारा ही देखा × परन्तु आंख भी उपाधि है × इसलिये आंखकेद्वारा भी नहीं देखा परन्तु आत्मा के अपने ज्ञान गुणकेद्वारा देखा। देखना ज्ञान गुणका काम है इसके मायने जानना है। देखना तो ऐसी एक अन्तरगकी चीज है जिसे कोई बाहर प्रगट नहीं कर सकता। किसीसे लड़ाई होजाय। तो ऐसा कहते अच्छा दोस्त, हम देखेंगे दो तीन दिनमें। इसका क्या मतलब? कहने का मतलब यह कि उसके अनुकूल अपनी शक्तिको संभाला, उसकी शक्तिपर प्रयोग होगा और उस पर आक्रमण किया जायगा× यहां देखेंगे कहदेनेसे यह भाव निकला। ज्ञान गुण भावकोलिये होता × वह देखना सब कुछ है। वहां यह कहनेका इसका यह प्रयोजन नहीं कि मूर्तिकी तरह सामने विठलाकर आंखोंसे देखेगा ऊपरी देखनेको भी जानना ही कहते। जैसे आंखसे देखते हैं तो इसका गुण है दर्शन। कानसे सुनते इसका भी गुण बनाओ, इसका श्रवण गुण नाम रखो। तो फिर इस तरह आत्मा को ६ गुणोंमें विभक्त करो। ज्ञान स्पर्शन, घ्राण, दर्शन, श्रवण और और स्वाद गुण। परन्तु नहीं, पांचों इन्द्रियोंद्वारा जो काम होता वह एक ज्ञान ही है चक्षुर्दर्शन चक्षुके निमित्तसे होने वाले ज्ञानसे पहले जो आत्मामें दर्शन होता है उसे कहते हैं चक्षुर्दर्शन। तो दर्शन जैसे आत्मा में ही प्रयोग करता इस तरह से यह ज्ञान भी आत्मा में ही प्रयोग करता और श्रुतज्ञानकेद्वारा जाना यहां भी श्रुत जो उपाधि है वह ठीक नहीं उपाधि होनेपर भी उपाधि रहित जो ज्ञान है उस ज्ञानकेद्वारा हो जाना जाता। ज्ञानके निज कार्य में उपाधि नहीं श्रुत सूत्रकी उपाधि त. उपचारसे कारण रूप बताई गई है।

अब यहां श्रुतज्ञानमें श्रुतकी उपाधिका भेद खतम करतेहैं,अर्थात श्रुत कहलाताहै, सूत्र। जो पौद्गलिक दिव्यध्वनिकेद्वारा जाना जाय

अर्थात् उसके द्वारा जिसका जानना कहा गया उसे कहते हैं सूत्र। उस सूत्रका जो जानना सो कहा गया है श्रुतज्ञान अथवा सूत्रज्ञान। वहां जो सूत्रज्ञान होताहै सो कहीं श्रुतकी उपाधि लिये हुये नहीं है, वह ज्ञान तो ज्ञान है। उस ज्ञानका आधार श्रुत होनेसे उसको श्रुतज्ञान कहतेहैं। श्रुत तो ज्ञानका निमित्त कारण होनेसे उपचारसे कहा जाता श्रुतज्ञान। परन्तु वह तो ज्ञान है। ज्ञान ज्ञान ही है। वह अनादिसे अनन्तकाल तक अपनी तरङ्ग आप लिये हुये चलता है। जब उसका विषय श्रुत होता है तो उसे कहते हैं श्रुतज्ञान और जब उसका विषय मति होताहै तो उसे कहते हैं मतिज्ञान। पर ज्ञानमें स्वयंमें कोई उपाधि नहीं लगी। इस हालतसे सूत्र अथवा श्रुत तो उपाधि रही। जो उपाधि होती है वह आदरके योग्य नहीं रहती। उसमेंसे उपाधिको निकालदो तो शेष ज्ञप्ति रह गई।

जैसे प्रकाश होरहा है, लाईटमें हरा कागज लगा दिया तो हरे कागज की उपाधिसे वह प्रकाश हरा होता। उस हरे प्रकाशमें हरी उपाधि हटादं तो शेष चीज प्रकाश है। उपाधिके खतम होजानेके बाद जो खालिस रह जाये उसे शेषकी चीज कहतेहैं। इसीतरह ज्ञानमें से भी उपाधि खतम करदीजाय तो शेषकी चीज रही ज्ञप्ति, अर्थात् जानना मात्र। केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनों ही आत्माका संचेतन करते हैं, तो वहां भी ज्ञप्तिमात्र ही रह गई और यहां भी श्रुतज्ञानीके भी ज्ञप्ति मात्र ही रह गई। इसलिये ज्ञानमें केवल और श्रुतकी उपाधिका फर्क नहीं है। वहतो केवल ज्ञान ही है।

पहले तेतीसवीं गाथा में बताया कि दोनो, केवलज्ञानी और श्रुतज्ञान, के विपयमें फर्क नहीं है और यहां चौंतीसवीं मूल गाथामें बताया कि ज्ञानका भी दोनों स्थानों पर फर्क नहीं रहा। विषयका तो फर्क यों नहीं है कि केवलीने भी अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञान स्वभावमय केवल आत्माका संचेतन किया और श्रुतकेवली अथवा

सम्यग्दृष्टिने भी अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावमय केवल आत्माका ही संचेतन किया। इसलिये तेतीसवीं मूलगाथामें बताया कि दोनों स्थानोंपर विषयका फर्क नहीं है। जो भगवान करते हैं वह तुम अब भी कर रहेहो, जो तुम करतेहो वही भगवान भी करते हैं। फिर जगतमें मुझे यह काम करना है, मेरे लिये बहुतसी झंझटें पड़ी हुई हैं, ऐसी इच्छा अथवा इनका क्षोभ करनेसे क्या फायदा। इस तरह जीव आत्माको जाननेके अतिरिक्त और कुछ करनेमें समर्थ नहीं है। केवली और तुम दोनों एक ही चीज तो कर रहे हो। इस तरह सम्यग्दृष्टि और केवलीमें अविशेपता दिखलाई।

आपने प्रवचनसारके द्वारा ज्ञान जाना। तो साधन यहां प्रवचनसार हुआ और काम ज्ञप्तिका हुआ। प्रवचनसार तो पर पदार्थ है। यदि स्याहीके अक्षरोंको लें कि इनसे ज्ञान हुआ तो ये अन्य पदार्थ हैं, और यदि शब्द भी लें, जो बोले और सुने जाते हैं, तो शब्द भी अन्य पदार्थ हैं। तो ये सब तो मात्र उपाधि ही रहे जो ज्ञान हुआ वह ज्ञान! ज्ञान रूपसे देखो। प्रवचनसार तो उपाधि था, उसका तो आदर नहीं, अब केवल ज्ञान ही शेष रहा, ज्ञप्ति ही शेष रही, वह ज्ञान अथवा ज्ञप्ति ही जाननेका काम करती रही, प्रवचनसार जाननेका काम नहीं कर रहा। प्रवचनसार तो उपाधिमात्र है। शुद्ध ज्ञान ही काम कर रहाहै, वहां दूसरी उपाधियां काम नहीं करती। किन्तु ज्ञान ही काम करता है। ऐसा वह ज्ञान उपाधिसे भी रहित है। इसलिये ज्ञानमें श्रुतकी उपाधिका भी भेद नहीं होता।

दूसरा बल दृष्टान्त दिया था, यह आधा ही रह गया था। सफेद प्रकाश, हरा प्रकाश, नीला प्रकाश, लाल प्रकाश आदि कहतेहो। यहां विवेकसे सोचो तो प्रकाश हरा, नीला, आदि तो नहीं है और जो हरा नीला आदि है वह प्रकाश नहीं है। हरा, नीला, सफेद वगैरह ये पुद्गल द्रव्यके रूप गुणोंकी पर्याय है। प्रकाश किस गुणकी पर्याय है? प्रकाश वस्तुके रूप गुणकी पर्याय नहीं है। किन्तु इसको बतलाया

कि यह पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। प्रकाश पुद्गलकी पर्याय है, पुद्गल द्रव्यके रूप गुण की पर्याय नहीं है प्रकाश किसीके गुण की पर्याय नहीं किन्तु स्वयं पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। हरा, नीला आदि प्रकाश नहीं और प्रकाश हरा नीला आदि नहीं है। प्रकाशका तो और ही स्वरूप है, जैसे प्रतिभास, चमक आदि। हरी तो उसमें उपाधि लग गई। वह चमक, वह प्रकाश, जैसे चर्म चक्षुसे दीखने वाला हरा प्रकाश दीखता है, उसमें वह हरी उपाधि रहित है। उसी तरहसे यह ज्ञान मति श्रुत उपाधियों से रहित होता, इसलिये कहा है कि ज्ञान उपाधियोंसे रहित है और वह एक मात्र ज्ञप्ति है। केवलीमें भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जाना और सम्यग्दृष्टिने भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जाना। उसमें श्रुतकी उपाधिका भी भेद नहीं है। वहाँ साक्षात् कार्य हो रहा है उस समयकी स्थितिकी बात बतला रहे। वहाँ उपाधि उपयोगमें नहीं लगानी चाहिए। यदि उपाधि को इस उपयोगमें देखते रहे तो सम्यक्त्व अनुभवकी बात नहीं आती। इस प्रकार सिद्ध किया कि केवलीका और हमारा दोनोंका अंतरविषय भी एक और साधन भी एक तो है। सम्यग्दृष्टि जनों तुम्हारे में गरीबी किस बातकी है। आचार्य बतला रहे कि तुममें कल्पनाकी गरीबी होगई? और जो तुम करते हो सो जिसके द्वारा वे करते उसी के द्वारा तुम भी करते। मात्र चारित्र मोहका उदय है। जिससे इसमें स्थिरता नहीं हो पाती तो और रागी द्वेषी कई कषायों वाला हो करके अपने अन्तरंगसे दृढता कर देते हैं। इसीसे यह भेद किया कि स्वयं का कार्यका-विषय का प्रश्न जहाँ तक है वहाँ तक यह बताया कि श्रुतकेवली और केवली में कोई विशेषता नहीं है। जैसे कहा यह घटज्ञान है। घटज्ञानके द्वारा इसने घड़ेको जाना। घटज्ञान जो यहाँ हुआ तो क्या इस ज्ञानमें घट की उपाधि मिली हुई है। घटज्ञान जैसा जो ज्ञेय ग्रहण, क्या इस ज्ञेय ग्रहणरूप अन्तरंग उपाधि भी ज्ञानमें मिली है? वहाँ भी घट इस उपाधिको दूर करके, (घट ज्ञेय इस उपाधिको दूर करते तो शेष रहा

ज्ञान) इस ज्ञानके द्वारा वह घटको जानता है। घट तो उपाधि होनेके कारण ज्ञानसे अलग है। इसी तरह श्रुत आदि ज्ञानकी उपाधि होनेके कारण ज्ञानसे अलग है। इतने पदार्थोका ज्ञान करते हुए भी पदार्थका यह उपाधि ज्ञानके लग गई तो ज्ञान केवल ज्ञप्तिरूप नहीं हुआ। ज्ञान तो केवल ज्ञप्तिरूप ही है, जानना इतना ही मात्र है। इन्द्रियज्ञान आदि ज्ञान नहीं है। चक्षुसे उत्पन्न हुआ ज्ञान यह निश्चयतः बिलकुल झूठ बात है। चक्षुसे ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ। चक्षु जड़ है, पुद्गल है, पुद्गल द्रव्यसे ज्ञान नहीं होता। उस जाननेके कालमें चूंकि वह ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है उस समय वह उपाधिको नहीं रखता, केवल अपने अपने कामेंमें पूरा लगाना है। जैसे बारूदका गोला आग लगती है तो फट जाता है आग लग गई इसलिए अब तो फटनेमें स्वतंत्र है और पूरी शक्तिसे फट जाता है। और अपना काम कर जाता है। जब काम का समय है जिस समयमें जानना हो रहा है। उस जाननेके स्वरूपको देखो तो वह स्वतंत्रता उपाधिकी अपेक्षा नहीं रखकर हो रहा है। बाह्य चोजके देखनेसे अन्तर मालूम देता है। केवल उस ज्ञानके स्वभावपर दृष्टिपात करो तो ज्ञानसे स्वतंत्ररूप से जाना वहां उपाधि नहीं लगती है। ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है। उपाधि तो बाह्य पदार्थरख के है। ज्ञानके स्वरूपमें बाह्य पदार्थ नहीं है। ज्ञानके द्वारा जैसे केवली आत्माको जानते वैसे ही ज्ञानके द्वारा श्रुतकेवली भी आत्माको जानता। इसलिए ज्ञानमें श्रुत आदि उपाधिका भी नहीं होता। एक दृष्टांत और लीजिये। सूर्यका काम प्रकाश करना है और वह प्रकाश करता ही है। यदि मेघ पटल नीचे आगये उसी समयसे अंधेरा हो गया। कुछ मेघ पलट नीचेसे दूर हुए तो २० ३० मीलपर प्रकाश हो गया। वह भी प्रकाश हुआ तो दुनियांको तो ऐसा मालूम होता कि मेघ फटनेकी वजहसे यह प्रकाश इस उपाधिसे फैला है। किन्तु प्रकाश-प्रकाशके स्वरूपसे प्रकाशको देखो तो मालूम होता कि मेघ पलटके हटनेसे वह नहीं हुआ है। वह तो प्रकाशकी प्रकाश वृत्तिसे स्वयं स्वतंत्र-

तथा विकसित होता । इसी तरह ज्ञानका स्वभाव समस्त लोकालोकके जानने मात्रसे है । कर्म पटल आये, जिसकी वजहसे ज्ञानका आवरण होता, अब जितना आवरण हटा उतना ही जीवके मतिज्ञान श्रुतज्ञान का आत्माके व्यपदेश हुआ । ज्ञान एक ही था । ज्ञानका काम केवल जानना ही था । वह केवल प्रकाशक ही था । कहीं ऐसा नहीं होता श्रुतज्ञानसे जाना या मतिज्ञानसे जाना, तो उसके जानने की शैली केवलीका या केवलज्ञानसे जाना तो उससे जाननेकी शैली समान है । ज्ञानका तो जाननाही काम है चाहे यहाँ जाना चाहे यहाँ जानो । केवल जानना ही तो है । वहां मति श्रतिज्ञानका व्यपदेश है तो रहो । ज्ञानकी तरंग या विकाशका प्रकाश या जानन ही तो काम होता । वहां उपाधि नहीं लगती । ज्ञानका उदय उपाधिसे रहित है । ज्ञानका काम जानन मात्र है । ज्ञान ज्ञायक है । जिसका ज्ञान ज्ञायक है. जिसका काम ज्ञान होता उसमें परके कारणसे हम विशेषता लगाते, परन्तु ज्ञानका काम तो जानना मात्र है !

जैसे १० आदमी यात्राको जारहे हैं । किसीके अच्छे पैर है तो वह जल्दी जल्दी चल रहा और कोई बालक है तो धीरे धीरे चलता किसी के पैर में लगी तो वह लकड़ी के सहारे चलता परन्तु जाना तो एकसा ही हो रहा ? । उस तीर्थकेलिए ही तो सब जारहेहैं । कहो ऐसा तो नहीं होरहाहै कि कोई घूम कर जा रहा है या किसीने पूर्वकी बजाय पश्चिमकी ओर मुँह घुमाया । जितने भी लोग जारहे हैं सबका एकसा काम चल रहा है और पैरोंके द्वारा होरहा है इसी तरहसे ज्ञानका भी एकसा काम चल रहा है । उसमें उपाधि का भेद नहीं है फिर बाह्य द्रव्योंसे उसमें उपाधिका भेद होरहा है ज्ञान आत्माका ही होता । आत्मा का ही गुण रूप पर्याय ज्ञान है जिस ज्ञानमें सूत्र या श्रुत विषय पड़ा उसको अशुद्ध ढंग कह देते उस उस सूत्रका ज्ञान उसे कह देते कि सूत्र ज्ञान या श्रुतज्ञान । यह भी ज्ञान है और हमारी आत्मामें जो ज्ञान पैदा होजाताहै वह भी ज्ञान है, प्रवचनसार के द्वारा जो ज्ञान हुआ

वह प्रवचनसारका तो ज्ञान उपचारसे कहा जायगा। इसी तरह श्रुत उपचारसे है। वास्तवमें तो जिस आत्मामें वह ज्ञान प्रगट होता, वह ज्ञान ही श्रुत है। श्रुत ज्ञानकी पूजा करो, ऐसा कहनेपर लोगोंके एकदम बुद्धि श्रुतमें पहुंचती। परन्तु यह सूत्र अथवा श्रुत तो श्रुतज्ञान उपचारसे है। श्रुत कारण होने से ज्ञानरूपसे उपचार किया गया। श्रुत को जो ज्ञप्ति है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। वहां श्रुत तो उपाधि है। वहां तो एक ज्ञप्ति ही रह जाती कि जानना मात्र। वह जानना मात्र उपाधि रहित है उसकी पूजा के लिये कहा गया जैसे आँखसे जानने वाला ज्ञान, परन्तु ज्ञानके वर्तनेमें आंख निमित्तकी आवश्यकता नहीं। उत्पत्तिकालमें ज्ञानको इन्द्रियों की अपेक्षा हुई। परन्तु जब अपेक्षा हुई तो ज्ञान उत्पन्न ही नहीं है और जब ज्ञान है उस समयमें अपेक्षा उत्पन्न ही नहीं होती। जब उसका प्रयत्न चल रहा है उस समयमें ज्ञान उत्पन्न ही नहीं रहता है जिस समयमें ज्ञानहै उस समयमें इन्द्रियों की उत्पत्ति की भी अपेक्षा नहीं होती। जिस समयमें इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान के उत्पन्न होनेका प्रयत्न हो रहा है उस समयमें वह ज्ञान नहीं हो रहा है जिसके द्वारा हम जानें, तो ज्ञानके सम्बन्धमें तो वह ज्ञान स्वतंत्र है। हमारे वह श्रुतज्ञान और मतिज्ञानके सम्बन्धमें ज्ञान स्वतंत्र है। कितनी स्वतन्त्रता इस ज्ञानमें है। हम उस ज्ञानके पूर्वकाल आगामीकाल इस कालकी सत्ता. विशेषता स्वीकार न करके ऐसा कह देते हैं कि ज्ञान इन्द्रियोंके आधीन है। इन्द्रिय और मनके निमित्त ज्ञानसे है। परन्तु जिस समयमें इनकी मददसे उस समयमें विवक्षित ज्ञान है भी नहीं। छत बिना सीढ़ोकी है। सीढ़ी की मदद है जब तो छतभी नहीं मिलेगी। प्रायः दुनियामें ऐसी निमित्त चीजे बहुत मिलेगी। जिनकेअभावसे कार्य मिलेगा जिनके निमित्तका नाश ही निमित्त है ऐसो बहुतचीजे मिलेगी। निमित्त की उपस्थिति ही निमित्त नहीं है। हमारे सुख दुखमें ही वह बात है। कर्म निमित्त का नाश हमारे सुख दुखका कारण होता देखो भैया दुख भी कर्मके नाशसे होता है तब कहो कि हे कर्म निमित्त तुम बने

रहो इसमेंसे कम नहीं होओ। हे कर्म यदि तुम्हारा नाश नहीं होय तो हम सिद्ध की तरह सुखी हो जाय। हे कर्म, तुम फूलो फलो दूधं नाहो ऐसे कर्म तुम बने रहो तो भी हम सिद्धकी तरह सुखी हो जाएँगे। नष्ट मत होओ। नष्ट होते हो तो हम दुखी है क्योंकि उदय (नाश) में ही दुःख है सो भैया यह बात आदरणीय नहीं क्यों कि कर्मके उदयरूपमें नाश होना दुःखका निमित्त है इसमें तो उदयका ताता रहेगा। सर्वथा नाश तो आत्मीय सुखका कारण होगा। इस तरह कितने ही काम ऐसे होते कि निमित्त का सम्बन्ध छूटने पर वे पैदा होते। क्षण क्षणके ये जो ज्ञान पदार्थोंके हो रहे हैं ये भी प्रकाश आदि सारी बातों की अपेक्षा छोड़कर ही होते हैं जो ज्ञानकी तरंग चली है। जब ज्ञान पैदा हो गया तब राजा हो गया। उसे किसी की अपेक्षाकी जरूरत नहीं रही न ऐसा वह ज्ञान स्वतन्त्र है। इस ज्ञानमें उपाधिका फर्क नहीं रहा। तब फिर जगतको जाननेकी इच्छा अथवा इच्छाका क्षोभ व्यर्थ है। इसी बातको दोनों गाथाओंमें सिद्ध किया। यह जीव अखंड ज्ञान स्वभावी है इसलिये अपने स्वरूपमें निश्चल रहो कुछ बाहरी उपयोग मत करो। बाहर और कोई चीज मत देखो यहां ज्ञानका प्रकरण चलरहा है करीब २०गाथाओंमें अब भी चलेगा करीब २० गाथाओंसे यह चल भी रहाहै इसी तरह आनन्दका प्रकरण आएगा तो उसमें भी इसी तरह की निज आनन्द की बात आयगी अभी ज्ञानकी बात चल रही है।

इस प्रकार ज्ञान ज्ञानकेद्वारा ज्ञानको जानता है यह सिद्ध करके अब ज्ञानके आधारकी ओर आतेहैं ज्ञानका आधार है आत्मा। यह आत्मा ज्ञानसे अभिन्न है कहीं ऐसा नहीं है कि ज्ञान भिन्न हो व आत्मा भिन्न हो। तब ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जानता है इसका वाक्यान्तर यह भी हो सकता है कि आत्मा आत्माके द्वारा आत्माको जानता है परन्तु यहाँ विचार करिये कि आत्मा तो अनन्त गुणोंका पिण्ड है, । वह मात्र जानताही तो नहीं है जैसे जानने परिणमन करता वैसे अन्य भी अनन्त परिणमन करता है। जितने परिणमन यह आत्मा करता है आत्मामें

इतनीही शक्तियां है तो आत्मा जानता है तो ज्ञानशक्तिसे आत्मा देखता है तो दर्शन शक्तिसे आत्मा सुखी होताहै तो सुखशक्तिसे ॥ इनकेकहया प्रकरण है आत्मा जानताहै तो किससे जानताहै ? ज्ञानशक्तिसे जानताहै यहाँ कर्ता आत्मा हुआ, ज्ञान हुआ, क्रिया जानताहै, हुई । अब कर्ता करणके सम्बन्धमें यह विचार करते हैं कि कर्ता करण अभिन्न ही है, यहां आत्मा और ज्ञानमें कर्तापन और करणपकेका भेद खतम करते हैं,

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।
णाणं परिणयदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥३५॥

जो जानताहै वह ज्ञान होता है यहां आत्माको कहीं ज्ञानके कारण ज्ञायक नहीं समझना अर्थात् किसी भिन्न ज्ञानद्वारा आत्मा ज्ञायकनहीं है आत्मा स्वभावसे ही ज्ञायक है, ज्ञान भी स्वभाव है, ज्ञान स्वयं परिणमताहै तब वहाँ विषय भावकी अपेक्षासे देखो तो सब अर्थ ज्ञानमें स्थित है । सभी विवेचनोंकी दृष्टि रूपनय अवश्य समझना ।

पहले तो यह बतलाया था कि ज्ञानी परपदार्थोंको न तो ग्रहण ही करते और न छोड़तेहैं । सम्यक्‌दृष्टि, मैं भी ज्ञाता हूं, इसलिये न पर पदार्थको ग्रहण करता और न छोड़ता । केवली वह भी सम्पूर्ण ज्ञानी है, इसलिये वह भी पदार्थको न ग्रहण करता और न छोड़ता ही है । पर पदार्थको में कुछ भी नहीं करता । अपनी आत्मामें रहने वाले गुणों के द्वारापरकाकुछनही करताअपनाही करता केवलज्ञानी अपनेकेवलज्ञानके द्वारा अपने आपको जानताहै, परको तन्मयतासे नहीं जानता । उपचार की दृष्टि वहिदृष्टिहै । वस्तुत वह न परको ग्रहण करता है और न छोड़ता हीं है इसी तरह से तो मैं भी हुआ । मैं भी तो अपने श्रुतज्ञानकेवद्वाराअपने आपको जानता ही ते हूं । इसके अतिरिक्त परका कुछ प्रयोग नहीं करता । फिर इस निश्चयकी क्रियाकी दृष्टिसे केवली और श्रुतकेवलीमें कोई भेद नहीं रहा ।

इसके बाद यह बतलाया कि केवली केवलज्ञानकेद्वारा जानता

और श्रुतकेवली श्रुतज्ञानकेद्वारा जानता, ऐसे आत्मामें और कौनसे गुण आगए, कौनसी बातें आगई कि जिसमें एक श्रुतज्ञान भी रखा है निश्चयसे वह तो ज्ञान ही है। केवली भी ज्ञान केद्वारा आत्माको जा-जानता और श्रुतकेवली भी ज्ञानकेद्वारा आत्माको जानता। दोनों ज्ञानकेद्वारा अपने आपको जानते हैं। वहाँ ज्ञानके उपाधि नहीं लगती यह आत्मा ज्ञानकेद्वारा अपने आपको जानताहै। इतना ही यह जीव जगतमें काम कररहाहै और कुछ भी नही कररहाहै।

आज वतला रहे कि आत्मा ज्ञानकेद्वारा जानता यह वात भी सुहावनी नहीं लगती। वह आत्मा और ज्ञान क्या अलग अलग है, जिसके द्वारा आत्माको ज्ञान जानता। क्या वह ज्ञान आत्मासे जुदा है क्या ज्ञान आत्मासे अलग चीज है, जिसके द्वारा वह आत्माको जान-ता है ? नहीं, आत्मा और ज्ञान विल्कुल अभिन्न है। तो फिर यह क्यों कहते कि ज्ञानकेद्वारा आत्माको जानता ? ऐसा कि ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानमय निजको जानताहै। वह ज्ञान ज्ञानको ही जानताहै ज्ञान और आत्मामें करता और करणका भेद मत लाओ। फिर ज्ञान जानता है, ज्ञानहै और जानता है या तो ज्ञान इतना ही कहो या जानता इतना ही कहो। वहां ज्ञान और जानता दोनों शब्द नहीं सहन हो सकते। ज्ञान जानताहै, ऐसा कहनेमें भी एक कर्ता है और उसने कोई काम किया ऐसा भेद हुगया। वहां ज्ञान तत्त्व लक्ष्य में नहीं रहा। ज्ञान ज्ञानकेद्वा-रा जानता, यहाँ ज्ञान की स्वाभाविकता ज्ञात नही हुई। ज्ञानका निज तत्त्वरूपमेंभेद नहीं होता करता और करणका भी भेद मत डालो

पहले तो केवली और श्रुतकेवली का विषय एक वनाया फिर साधनको एक वनाया फिर वह कहते कि करता और साधन अलग अ-लग चीज नहीं है वे एक ही चीज है अर्थात् अपनी तरंगसे वर्तमान अर्थात् ज्ञप्तिक्रियामें निरंतर प्रवृत्त ज्ञान वह वह ही है वहां ऐसा भेद मत करो कि ज्ञान ज्ञानद्वारा आत्माको जानताहै वह तो केवल जानन रूप ही है। जैसे अग्नि अपनी गर्मीके द्वारा ईंधन जलाता

है ऐसा कहते इस बातको निश्चयनयमे देखना है कि क्या यह बात सही है?तो पहली बात तो यह कि ईंधन क्या?जो जल नहीं रहाहैवहाजो जलरहा है वह आग है पहले तो हमारी यही बात खंडित होगई कि आग गर्मीकेद्वारा ईंधनको जलाती। आग गर्मीके द्वारा ईंधनको जला ही नहीं सकती। आग गरमीके द्वारा तो केवल अपने आपको ही जलाती है। जिस समयमें जलने लगता और वह भी गर्मी रूप होजाता, उस समयमें वह ईंधन नहीं कहलाता। निश्चयनयसे ऐसा कहरहेहैं। इसलिये पहले तो विषयका खंडन किया कि अग्नि गर्मीकेद्वारा ईंधनको नहीं जलाती किंतु अपने आपको जलाती है। वह तो खुद जलती और राख होजाती। यहां भी जो राख है वह आग नहीं थी आगका आश्रयमात्र था, राख होजाने पर भी वह अग्नि नहीं रही। तो क्या बात ठीक रही कि अग्नि गरमीकेद्वारा अपने आपको जलाती है।

फिर कहते कि अग्नि अपनी गरमीकेद्वारा अपने आपको जलाती. तो यहां अग्नि और गरमीका यह भेद सहन नहीं होसकता। वह अग्नि अलग क्या चीज जो अपनी अलग गरमीकेद्वारा जलती है? अग्नि तो स्वयं गरमीमय है। अग्नि अपने अभिन्न स्वभावसे जलरही है जला किसीको नहीं रही, यह तो अपने ही स्वभावसे जलरही है यहांतक बात आई। इसतरह साधन भी मिट गया।

फिर अग्नि जलरहीहै, इसमें भी ऐसा लग रहा है कि जैसे कोई बैठा हुआ आदमी उठ रहा है। अग्नि पहले तो नहीं जल रही थी परन्तु अब जलरहीहै। पहले तो समाधिमें थी और अब जलनेकी क्रिया कररही है सो ऐसी बात नहीं अग्नि तो वही है जो अग्निके स्वकालसे ही उसमें जलनेकी क्रिया चलरही है। इसलिये 'अग्नि' इतना ही कहो इसी तरह केवली ज्ञानकेद्वारा आत्माको जानता है, इसका सूक्ष्म रूप आ आकरके इतना ही रूप रहगया 'ज्ञान'। केवलीने ज्ञानको अविशेष बनाकरके अपने आपको ज्ञानमय अनुभव किया। यह निश्चय दृष्टिसे वर्णन है यदि हम अपनी निश्चयदृष्टिको छोड़ते और व्यवहार दृष्टिपर आतेहैं

तो अनेक आकुलताएँ पैदा होजाताहै। इसलिये अपनेको ऐसा कौतूहली बनाना चाहिये और ऐसी लीलावाला होना चाहिये कि हर लक्षणोंमें निश्चयतत्त्वको खोजें। निश्चयकी दृष्टिसे देखो कि वस्तुका कैसा स्वरूप है। निश्चयसे जो स्वरूप समझमें आएगा वह निर्विकल्प शान्तिका आधार होगा और व्यवहारदृष्टिसे स्वरूपको देखताहै तो वह विकल्प, उलझन और भिन्न भिन्नरूपसे अपनेको देखेगा। ज्ञान ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जानता है, जानता है नहीं कहते तो अभेदसे अभेद क्रिया कहदो कि ज्ञप्तिरूप होताहै। ज्ञान, ज्ञानका काम जो भी है सो ही कररहाहै। निश्चयसे जानना क्या है, वह तो तरंग है, एक द्रव्य है और द्रव्यकी तरंग है। जितने दुनियाँमें अनन्त द्रव्य हैं सभी इसी तरह से हैं याने द्रव्य है और उनके तरंग हैं।

समयसारमें लिखा हुआ है कि जगतके अन्दर जितने द्रव्य अनन्त द्रव्य हैं। सबके सब द्रव्य अन्दर रहने वाले गुणोंका चुम्बन करतेहैं और उन्हींमें तन्मय रहते हैं पर पदार्थके किसी भी गुणको छूते नहीं, सबके सब आपमें ही प्रयत्नशील होरहेहैं। जगतके जितने जीव हैं सब अपने अपने उपादानसे परिणमित होरहेहैं यह वस्तुका निज स्वाभाव है जगतमें द्रव्योंकी व्यवस्था इससे भिन्न नहीं हो सकती किसी द्रव्य रूपसे कोई द्रव्य नहीं परिणम सकता। अपने प्रदेशमें सारे गुणोंके परिणमनके अतिरिक्त और कुछ परिणमन कर ही नहीं सकता। यहाँ सब अपने अपने विकल्पोंके स्वामी बनते हैं, कोई किसी पदार्थके स्वामी नहीं होते हमारे और आपके विनाशका कारण बाह्य पदार्थोंमें परिणति रखना है हम अपने आपको मोह वश बाह्य पदार्थोंके करता मानते विकल्पमें ऐसा मानते हैं पर पदार्थका जो कर्म है उसको विकल्प में मानते कि मैं सबको करता परन्तु वास्तवमें तो वह अपने आपमें जानन गुण रहताहै उसीको करता है।

पर्याय दो होती है, स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। मनुष्य परका क्या कर सकता है ? निश्चयका प्रकरण चल रहा है। गांधीजी ने

इतना देशको उठाया, पर निश्चयसे किया क्या ? निश्चयसे यही किया कि आन आपमें जितनी दया पैदा हुई उसको हो तो चेष्टा की। वस्तुको उसके स्वतन्त्र रूपसे देखो। उस वस्तुको स्वातन्त्र्य रूपसे देखकर यह बतलाया कि द्रव्य अपने आपको ही कर सकता है, पर पदार्थका कुछ भी नहीं कर सकता। केवली भी अपने आपको ही कर रहे। उनमें अनन्त शक्ति है, परन्तु फिर भी खुद ही को उस अनन्त शक्तिसे किया कि वे अपने स्वभावसे च्युत नहीं होते। वे अपने आप में ही ज्ञानका परिणमन कर रहे हैं उसके अलावा और कुछ नहीं कर रहे हैं। केवलीके बारेमें हम यदि आलोचना कर रहे हैं तो केवली उसे जानते रहे हैं। फिर भी वे मेरा कुछ नहीं कर रहे हैं। परन्तु इस ज्ञानसे मैं केवलीके स्वभावका वर्णन कर रहा हूं और यह उनकी उत्कृष्टता बतला रहा हूं परमें तो कोई कुछ करता नहीं है किन्तु जो विकल्प भी छूट गया वह ऐसा महान् बनजाता। देखो केवलीका कितना स्वातन्त्र्यमय द्रव्य है कि अपने आपमें ही परिणाम रहा और अपने आपके अतिरिक्त बाहरमें किसीमें भी नहीं परिणाम रहा। उन्होंने जाननेका जो विषय है उसे ही जाना। हमने भी ऐसा ही किया, परन्तु मोहसे कहाजाता कि मैंने परको जाना। निश्चयसे तो कोई परको जानते ही नहीं। केवली भी पर को नहीं जानते, वे तो केवल ज्ञान को ही जानते। हम भी केवल ज्ञानको ही जानते।

जैसे हरे रंगको चौकी पर पोत दिया। हरे रंगने किसको हरा किया हम यह सममते कि उसने चौकीको हरा किया, परन्तु निश्चयसे हरे रंगने चौकीको हरा नहीं किया, हरे रंगने तो अपने हरेको ही हरा किया। हरे रंगके भीतर भी चौकी उसी रूपसे रही। इसी तरह प्रत्येक ज्ञानीने अपने ज्ञानके द्वारा अपने आपको जाना, परको नहीं जाना अपने आपको जाननेकी तरंग जो है, ज्ञान ऐसी स्वच्छताको लिये हुए है कि उसका विषयभूत पर पदार्थ ज्ञेय कहलाते इसलिए कहा जाता कि हमने ज्ञेयको जाना। कहते घड़ा को जाना। परन्तु ज्ञान उसका

नहीं है। ज्ञानकी तरंग ज्यादासे ज्यादा क्या कर सकेगी ? जिसकी तरंग है अथवा जिस द्रव्य की तरंग है उसको कर सकेगी ज्यादासे ज्यादा। इससे बाहरको क्या कर सकेगी। द्रव्यकी पर्याय द्रव्यसे अभिन्न हुआ करती। ज्ञानकी तरंग घड़ीको कहाँ टच कर गई। उस आकारक जो समझ है उस समझसे तुमयह कहते कि मैंने घड़ीको देखा। परन्तु मैंने तो केवल अपने आपक ही जाना। भगवान जो सारे विश्वको जानते हैं वे सारे विश्वके कारण विश्वको नहीं जानते किन्तु वे उनके निज स्वच्छ स्वरूप प्रकार ही ऐसे हैं कि सारे विश्वके विषयोंको जान जाते। किन्तु वह ज्ञान किसीको जानता है ऐसी बात नहीं। जानता है, के क्या माईने ? जैसे चौकीको हरे रंगने रंगित कर दिया तो हरे रंगने केवल अपने आपको ही तो रंगित किया। इसी तरह ज्ञानने जो जानन किया वह अपने आपको ही त जानन किया। उसके विषयभूत जो पर पदार्थ हैं उनके कारण उपचारसे कह रहे कि परपदार्थक जान रहा। निश्चयसे वह ज्ञान तो ज्ञान रूप ही रहता निश्चयसे वह पर पदार्थ को नहीं जानता। निश्चयसे कर्त्ता, कर्म करण आदि कारक वहीं हुआ करते, उससे भिन्न नहीं हुआ करते। तो ज्ञान जिससे जानता वह भी वही, जिसके लिये जानता वह भी वही, जिसमें जानता वह भो वही और वह ज्ञान स्वयंभी वही। कारक क्या कहलाते ! जैसे कुम्हारने दंड चक्र के द्वारा अपनो कुटीमें पैसे उत्पन्न करनेके लिये लौंदेसे घड़े बनाये। तो इसमें छहों कारक न्यारे न्यारे हैं कुम्हारने लौंदेसे घड़ों को कुटीमें, पैसोंके लिये, चक्रके द्वारा बनाए, ये सब कारक अलग अलग हैं। ये वृक्ष अपनी शाखाओंमें अपने फूलोसे अपने भारके लिये फल रहा है, ऐसा कहा तो सारी की सारी चीज वृक्ष की ही आई। ये ६ कारक जैसे अभिन्न होते हैं वैसे भिन्न भी हैं। निश्चयसे छहों कारक अभिन्न होते और व्यवहारसे छहों कारक भिन्न होते। इस तरहसे ज्ञान खुद प्रकाश रूप होता खुद को ही जानता, खुदके लिये ही जानता, खुदसे ही जानता, और खुदमें ही जानता।

ज्ञानीके सभी गुणोंका प्रयोग निश्चयसे स्वयंपर ही होताहै। बाह्य पदार्थोंपर नहीं होसकता। वह केवल खुद को ही जानताहै खुद ही दुखी सुखी होता है दूसरेको सुखी दुखी क्या कररहाहै। मैं खुद ही विकल्पक बनताहूं। परपदार्थ पैसे धन आदिको मैं क्या पैदा करसकता हूँ। वेतो सब स्वतन्त्र हैं। इनको मैं क्या करसकताहूं ? दुनियांमें कोई निमित्त अपनी परिणतिसे किसी द्रव्यको परिणमा नहीं देता। आत्मा और ज्ञानमें करता और करणका भेद नहीं। यहां कर्ता और करणका भेद भी दूर करते।

जो जानता है सो ज्ञान है ऐसा नहीं है कि वह आत्मा किसी भिन्न ज्ञानके द्वारा जाननेवाला बनता हो। कितने ही लोग ऐसा मानते हैं कि एक ज्ञान जानता है तो उस ज्ञानको जाननेकेलिये दूसरा ज्ञान पैदा करना होता है जिस तरह हम पहले यह न जान जाय कि कदाचित यह घड़ा है ज्ञानके द्वारा घड़ेको जाना, परन्तु घड़ेका यह ज्ञान सही है या नहीं ? उस ज्ञानको सही करनेकेलिये दूसरे ज्ञानको पैदा किया जाय और फिर दूसरे ज्ञानकी बात भी सही करनेकेलिए तीसरे ज्ञानको पैदा किया जाय और फिर तीसरे ज्ञानकी भी बात सही करनेकेलिये चौथे ज्ञानको पैदा किया जाय और इस तरह तो दुनियांमें ज्ञानोंके ढेर लग जायेंगे और पहले ज्ञानको सही करनेकेलिये दूसरे ज्ञान उत्पन्न करते२ सारी जिन्दगी लगादो तो जगतके तो अन्य कोई कामही नहीं होसकते और न उस घड़ेका ही ठीक ठीक ज्ञान समझ सकते। देखो भैया! कैसे कैसे सिद्धान्त निकल आते कि व्यवस्था ही नहीं बन पाती। घड़ा दूर रखा है परन्तु जान लिया कि घड़ाहै। घड़ेका ज्ञान ठीक नहीं है, फिर भी उपचारसे ठीक है। फिर घड़ेके ज्ञानको सही बनाना चाहिए सही बनाना तो एक ही दफामें होगया। दूसरे ज्ञानको पैदा करनेकी आवश्यकता नहीं है दशाएं दो होती हैं अभ्यस्त दशा और अनभ्यस्त दशा। अनभ्यस्त दशामें ज्ञानको सही करनेकेलिए दूसरा ज्ञान लाते हैं पर उसीमें ही सारा काम पूरा हो जाता है। अभ्यस्तज्ञानको जान लेनेके लिए फिर ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती। जैसे कि हम कहीं

जारहेहैं, रास्तेमें हमने सोचा कि वहां कुआ है। कोई कहता कि वहां कुआ बुआ कुछ नहीं तुम्हें भ्रम होगयाहै तो इस ज्ञानको सही बनानेके वास्ते अनुमान ज्ञान प्रयोगमें लाना पड़ताहै निर्बल को सबल ज्ञान बनानेकेलिए। वह परिचित अभ्यस्त है तो उसके लिए अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नही। हदसे हद खुद ज्ञानके और जाननेके सिवाय वह ऐसा अभ्यस्त होता है कि फिर किसी ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती। यदि ऐसा ही माने कोई कि प्रत्येक ज्ञान ऐसा हीहै कि खुदको नहीं जानता, पर दूसरे ज्ञानके द्वारा जाननेमें आता। तो एकके बाद एक ज्ञानसे जानने-के लिए वह अपनी जिन्दगी इसी काममें निकाल देगा। इसमें तो यह मन्तव्य निकाल बैठेगा कि ज्ञान में स्वयं जड़पनेका स्वभाव है तभी वह किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा जाननेमें आता। कभी ऐसा भ्रम होजाता है कि यह ज्ञान ही सही नहीं है तो उस ज्ञानके भ्रमको मिटानेकेलिए एक ज्ञान और खड़ा करना पड़ता उसी ज्ञानकी सचाई सिद्ध करनेके लिए हम एक ज्ञान और प्रगट कररहेहैं। परन्तु वह ज्ञान स्वयं जड़ है, अपने आपको नही जानता ऐसी मान्यता आजाना मिथ्या है।

आत्मा कर्ता है और ज्ञान करण है,आत्मा और ज्ञान अलग अलग चीज नहीं है। आत्मा ज्ञानकेद्वारा जानता परन्तु वे अभिन्न हैं। जानना आत्माकी तरंग है, प्रकाश है, स्वच्छता है, ऐसा नहीं है कि आत्मा किसी भिन्न ज्ञानकेद्वारा जाननेवाला कहला रहाहै। ज्ञान स्वयं ऐसी स्वच्छतासे परिणमता कि जिसमें विश्व विषय बन जाताहै जैसे निश्चयसे दर्पणको ही देखा जाता पर व्यवहारसे सबके सब जड़ पदार्थ जाने जारहे हैं। इसी तरह आत्मा निश्चयसे अपने आपको ही जानता है और व्यवहारसे सब पदार्थोंको जान रहा है। जानना यही इसका काम है, इससे बाहर कुछ नहीं होता। इसके जाननेमें ही ऐसी विशेषता है कि सारे विश्व विषय कहलाते उस समय यह कहा जाता कि ज्ञानने सारे विश्वको जाना। वह ज्ञान आत्मासे अभिन्न वस्तु है। वह सारा ज्ञान आत्मा ही है। आत्मा और उसकी तरंग ऐसी हो-

रहीहै। जितने जीव हैं सब स्वयं चैतन्य भगवान् स्वयं ज्ञानवान् सब परमेश्वर सबके अन्दर अनन्त ज्ञान स्वभाव मौजूद है, पर कषायोंके कारण अपने ज्ञानको तिरोहित किये रहता है। परन्तु मैं पर पदार्थका कुछ भी नहीं कर सकता हूं। पुण्य पाप, सुख दुःख, अमुक आत्मा को कर सकता हूं, ऐसे बाह्य दृष्टिके यह सब कथन एक बार भी 'यह भ्रम है, समझ होजाय और निश्चयसे आत्मा कर क्या सकता है यह समझ ले तो इसका संसारभ्रमण नष्ट हो जाय और अपने आपको परमेश्वरके रूपमें प्रगट पा सके।

जैसे एक अणु पांच डिगरीके स्निग्धवाला और दूसरा अणु तीन डिगरीके रूक्ष वाला हो दोनोंका मेल हुआ तो दोनों स्निग्ध बन जाते। तो वह५अंश वाला परमाणु अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावसे है, दूसरा रूक्ष परमाणु बदलकर स्वयं स्निग्ध अवस्थामें आगया। वे अन्य स्निग्धकी परिणतिसे स्निग्ध नहीं बने। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता कभी नहीं बन सकता। एक अणु दूसरे अणुको नहीं परिणमा सकता किन्तु दूसरे अणुका प्रभाव ऐसा पड़ा कि उसका संग पाकर स्वयं रूक्ष भाव-छोड़कर स्निग्ध भावमें आगया। वह भी मात्र निमित्त हुआ और अपने आप अपने में अपने रूपसे परिणम गया। सब जीवोंकी सब द्रव्योंको सब अणुओंकी यही व्यवस्था है। मोही जीव ऐसा मानता कि इसकी वजहसे ही सब कुछ होता। उसकी वजहसे ही संसारका पालन होताहै। इसलिए ही वह दुखी होता है। ज्ञानके अतिरिक्त दुनियांमें सुखका कर्ता कोई नहीं है। ज्ञान वही है जो वस्तुके स्वतन्त्र स्वरूपको प्रतिभासित करताहै। केवलीके तीनों लोकका भी ज्ञान आगया फिर भी पूर्ण अपने आप रूप हैं परोक्षमें नाना प्रकारसे तीन लोकका भी ज्ञान करो और वहां उस ज्ञानमें स्वतन्त्रताका बोध नहीं है तो वह ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं है जो शांति दे सके। विद्या पढ़नेवालोंके वस्तुस्वातन्त्र्यकी श्रद्धा नहीं हो तो तभी इस तरह झगडा लठबाजी होती। क्या बात है? जहां वस्तु की स्वतन्त्रताका बोध है वहां ही शान्ति है। वस्तु

की स्वतन्त्रताके बोधके बिना विडम्बना पैदाहोतीहै। स्वातन्त्र्यजानकरस्व-रूप निर्मलताकी भावनारहती और यही यत्न होताहै अपने सम्बन्धमेंखूब मनन करो कि मैं अपनेजानन अनुभवके अतिरिक्तकुछ भीनहीं करता हूं।

आत्माकी जो कर्ता और करणकी अभिन्न शक्तिहै वहीहै परमेश्वरता सदैव इस परमेश्वरतासे सहित रहने वाला आत्मा परमेश्वर है। ऐसा परम ऐश्वर्यहै किइसको अपना काम करने केलिये दूसरी वस्तु आवश्यक नहींहोती। वह अपनाही काम करता खुदहोकरता खुदकेलिये करता और खुदमें करता लोकमेंभी कहतेकिवह गांवकाजमींदार अथवागांवका ईश्वरहै जमींदार वह है जिसे अपनी पूर्तिके अर्थ परकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती जो भी उसकी आवश्यकताएं होती हैं वह अपने खेतसे पैदा करके निकाल लेता है। उसीको लोकमें जमींदार या ईश्वर कहा करते हैं। इसी तरहसे यह आत्मा निश्चयसे अपना काम अपने द्वारा अपने लिये अपने में ही करता है, इस आत्माको अपना काम करनेके लिये पर पदार्थ की अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं होती। इसलिए आत्मामें परम ऐश्वर्य पाया जाता है। आत्मा अभिन्न है, कर्ता भी है और करण भी है। सब कुछ शक्ति यह एक ही है। यहां भी आत्मा द्रव्य तो एक है और पर्याय की जो तरंगें होती हैं उसीमें छहों कारक लग जाते हैं। इसलिए आत्मा जो खुद जानता है वही ज्ञान है। उसमें कर्ता और करणकी भिन्न प्रसिद्धि नहीं है। आत्मामें जाननेकी खूबी होनेके कारण आत्मामें ज्ञानका व्यपदेश होता है। आत्माका काम जानन है। आत्मा में जाननेकी क्रिया पाई जाती है। इसलिये ऐसा व्यपदेश करते हैं कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता। वह ज्ञान आत्मामें अलग नहीं, परंतु आत्माकी एक जाननेकी क्रिया देखकर यह कहा जाता कि आत्मा ज्ञानसे जानी जाती। आत्मामें जाननेकी क्रिया देखकर यहकहा जाता कि आत्माज्ञानके द्वारा जानता। परन्तु जैसे भिन्न दांतलीसे द्वैत बांसको काटने का काम होता है इसी तरह भिन्न आत्माके स्वभाव से ज्ञायक होता है यह बात नहीं है। वह तो स्वयं ही काम करता है। वहां ज्ञानके

द्वारा आत्माको जाना यह सहज नहीं हो सकता। आत्मा है, जानता। जाननेकी आत्माकी क्रिया देखकर यह कहा जाता है कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता है। अग्निकी जैसे गर्मीकी क्रिया देखकर यह कह दिया जाता कि गर्मीकेद्वारा जलाता। उसी तरह आत्मामें स्थित ज्ञानकी जाननेकी क्रिया देखकर यह कह दिया जाता कि आत्मा ज्ञानकेद्वारा जानता। परन्तु आत्मा और ज्ञान जुदा जुदा तो नहीं हैं यदि ज्ञान अलग चीज मान ली जाय और आत्मा भी अलग चीज मानली जाय, और आत्मा ज्ञानकेद्वारा जानता यह बात भी मानली जाय, तो आत्मा अलग और ज्ञान अलग है इसलिए आत्माके विना ज्ञान अचेतन और और ज्ञानके विना आत्मद्रव्य अचेतन, अर्थात् आत्मा तो ज्ञानके विना अचेतन होगया और ज्ञान आत्माके विना अचेतन होगया परन्तु यदि दोनों अचेतनोंका सम्बन्ध भी कर दिया जाय तो कभी जाना ही नही जा सकता। इसलिए ऐसीबात नहीं कि आत्मा और ज्ञान अलग अलग चीजें हैं कभी कभी अपनी बुद्धिकेद्वारा यह जीव कल्पनाएं करलेता परन्तु उस कल्पनासे द्रव्यमे भेद नहीं पड़ता। जैसे कहते हैं कि एक समयमें परमाणु १४राजू गमन कर जाताहै, वहां भी ऐसा लगता कि उसने एक समयमें सारे क्षेत्र नहीं छुये और क्रमशः उठ उठकर ही गया होगा तो उसमें कितने ही समयोंकेद्वारा हिस्सा होगया पर वहां ऐसी बात नहीं। समयमे कोई कम काल नहीं होता। जैसे कोई एक घंटेमें १० कोस जाता और कोई एक दिनमें दश कोस जाता। जैसे १० कोस जानेमें घंटा भी लग गया और एक दिन भी लग जाता, इसी तरह से अन्तमुहुर्त में भी चला जाता और एक समय भी १४ राजू जानेमें लग जाता। इस तरह बुद्धिमें कल्पनाभेद होने पर भी समयके टुकड़े नहीं होते। इसी तरहसे आत्मा और ज्ञानमें भी गुण और गुणीको कल्पना होनेपर भी गुण गुणके टुकड़े नहीं हो जाते कि आत्मा और ज्ञान अलग अलग हो जाते हों यदि अलग अलग होजाते तो एक दूसरेके विना दोनों अचेतन रह जाते और दोनों अचेतनोंके संयोग हो

जानेपर भी काम नहीं हो सकता। जैसे यदि आत्मा और ज्ञान अलग अलग हों और वह आत्मा ऐसे ही ज्ञानके द्वारा जाना करता हो तो फिर ये घट पट आदि चीजें भी क्यों नहीं जाननेका काम करतीं। इस से सिद्ध हुआ कि ज्ञान आत्मासे जुदी चीज नहीं। इसलिये आत्माको अधिकारहै कि वह ज्ञानके द्वारा जाने।घटपट आदि इसलिये नहीं जानते कि वे ज्ञानसे-आत्मासे जुदा हैं। ज्ञान इस तरहसे आत्मासे अलग नहीं है, तब आत्मा ज्ञानकेद्वारा जानता है यह बात बिल्कुल नहीं सहन होती ऐसा आचार्योंने बताया क्योंकि वहां कर्ता और करणमें कोई भेद नहीं है। आत्मा तो अपने द्वारा जानता भी क्या ? परिणमता है। अपने में अपनेको जानता है,वहां और कोई दूसरी चीज ही नहीं हो सकती।

जैसे अग्नि जलती है। अग्निकी जलनेकी क्रियाको देखकर यह व्यपदेश किया जाताहै कि वह अग्नि अपनी गरमीके द्वारा जलती परन्तु वह अग्नि और गर्मी अलगरनहीं है। साधन तीन होतेहैं कर्तृत्व साधन करण साधन और भाव साधन, ज्ञानमें यह तीनों साधन वर्तमान हैं जो जानता सो ज्ञान. जिसके द्वारा जानता सो ज्ञान और जो जानना है सो ज्ञान। यह सब कहनेपर आत्मा ही पकड़में आता। वह आत्मा एक जगह कर्ता एक जगह करण और एक जगह भावकी मान्यतासे ऐसा कहा गया। आत्मा और ज्ञान अलग अलग माना जाय तो कोई बात ही नहीं बन सकती। जो कुछ जानन है सो वह आत्मा ही है परन्तु उसको समझानेकेलिये ऐसा कहा गया कि आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता। आत्माको तो देखो उसमें कुछ जोड़ा तोड़ा कि अशुद्धता आगई जैसा कि विकल्प रूप अनुभवमें नहीं आता। यहां यह प्रश्न उठताहै कि शुद्ध आत्मा क्या है ? शुद्ध आत्मा क्या इसके उत्तरमें कहते कि जो यह आत्मा स्वतः शुद्ध है अनादि है अनन्त है नित्य प्रगट है चैतन्यस्वरूप है वह आत्मा है। इस आत्मामें रहनेवाला जो ज्ञान सामान्य है वह तो नित्य प्रगट है। ज्ञानसामान्यको यह जरूरी नहीं कि शुद्ध पर्यायमें था व ऐसा ज्ञान रहा तो उसका नाम यह कहलाया। वह तो अनादि अनन्तके

सारे ज्ञानपर्यायोंमें एक तत्त्वसे परिणम रहा त उसे ज्ञान सामान्य कहते हैं। ज्ञान सामान्य जिसका कि दर्शन करनेसे हममें सम्यकदृष्टि पैदा होती है वह ज्ञान सामान्य प्रकृतिसे घट घटमें अब भी सबके मौजूद है, जिसके दर्शन करनेसे आत्माका भ्रम दूर होजाताहै अनन्त ससार मिट जाताहै; ऐसा वह ज्ञानसामान्य भगवान सबके अन्दर सदा प्रगट है जो स्वतःसिद्ध है अनादि अनन्त है नित्य प्रगट है ऐसा जो ज्ञायक भाव ज्ञान सामान्य संसारके सब प्राणियोंमें अवस्थित है यद्यपि अनादि कालसे कर्मबद्ध होनेके कारण भ्रममें पड़ा है फिर भी द्रव्यके स्वभाव से यह शुद्धरूप या अशुद्ध रूप नहीं परणमता है। वह परिणामिक वस्तुहै उसे कषायसहित या कषायरहित भी नहीं कहा जा सकता। वह ज्ञानस्वभाव अन्यव्यपदेशरहित है। यह तो जो है सो होहै ज्ञान सामान्यमें विशेष नहीं लगते यह ज्ञान सामान्य आत्मा ही शुद्ध आत्मा कहलाता।

किसीने पूछा यह ज्ञान ज्ञेयमें रहता इसलिए तो अशुद्ध होगा जैसे अग्नि ईंधनमें रहती है तो नाना प्रकारकी लम्बी, गोल, आदि होजाती है। इसी तरह वह आत्मा ज्ञेयोंमें रहता है। जैसे ईंधनके सम्बन्धसे अग्नि नाना रूप हो जाती है और अशुद्ध हो जाती हैं, उसी तरहसे यह ज्ञान जब ज्ञेयमें जाता है तो वह ज्ञान भी अशुद्ध होजाता होगा। परन्तु कहते कि नहीं। अग्नि भी अशुद्ध नही होती और ज्ञान भी अशुद्ध नहीं होता अग्नि कितनेका नाम है? जो गोल गोल है लम्बी लम्बी है सो अग्नि नहीं है, अग्नि तो उष्णत्व धर्म करके समवेत जो वस्तु, सो अग्नि है। यह लम्बाई चौडाई है सो तो परकी है अग्नि तो स्वयं अग्नि स्वरूप है। अग्निमें भी अशुद्धता नहीं। इसी तरह ज्ञानका स्वरूप केवल प्रतिभास है। उस स्वरूपसे ज्ञानभी शुद्धहै। आत्मा विश्वको ज्ञानकी अपेक्षासे नहीं जानता इसकी तरंगमें या स्वभाव से ही अन्तरंगमें विश्व के सारे ज्ञेय जाननेमें आगए। परन्तु वह ज्ञान तो शुद्ध है। फिर इस जगह प्रश्न किया जा सकता कि आत्मामें दर्शन भी होता, ज्ञान भी होता, और चारित्र भी होता, इसलिए भी तो आत्मा अशुद्ध है। दर्शन,

ज्ञान, और चारित्र, इन तीन गुणों वाला यह आत्मा है. इनमें जो आत्मामें अशुद्धता आ गई । जो एक नहीं रहे और इनमें दूसरी वातका सम्बन्ध आजाय तो उसे अशुद्ध कहते हैं । इसलिए आत्मामें एक गुण नहीं रहा और तीन गुणोंका सम्बन्ध होगया. इसलिए न यह बिल्कुल अशुद्ध होगई होगी । तब उत्तर देते कि नहीं, व्यवहारनयसे ऐसा कहा जाता कि आत्मामें ये तीनों गुण विद्यमान है । निश्चयनयसे जो सम्यक्त्वानुभव द्वारा अनुभवसे जो समझमें आये, उस निश्चयकी दृष्टिसे इस आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदिकी भी अशुद्धता नहीं है । जैसे आपको आत्माका अनुभव करना है तो जब तक आपमें आत्माके सम्बन्धमें यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदिकी भेद बुद्धि रहेगी तब तक आत्माके निर्विकल्प स्वभावका अनुभव नहीं होता । जहां इनकी कल्पना भी दूर होजाती है और केवल संवेदन भाव रहता, ऐसी हालतमें कहते हैं कि आत्माको जाना । जैसे हलुआ बना उसमें पानी, घी, शक्कर, आटा, आदि वस्तुएं पड़ी जब तक आप घी, पानी शक्कर, आटा, आदि सबपर दृष्टि डालते रहो चर्चा करते रहो तब तक आपने हलुआ खाया नहीं और खाया भी तो हलुवेका जैसा स्वाद आना चाहिए था वह स्वाद नहीं आया । जिसकी आटेमें अलग, घीमें अलग, पानीमें अलग, मिठासमें अलग, दृष्टि है, उसको हलुवेका स्वाद नहीं आता और जिस समयमें एकचित होकर आंखे मीचकर स्वादमें ही आसक्त हो गये उस समयमें केवल स्वादका ही अनुभव है और सब अन्य चीजोंमें उसका अनुभव नहीं है उस समय उन सब चीजों की छांट नहीं होती । हलवे के पूरे स्वादके समय छांट नहीं होती, इसी तरह आत्माके पूर्ण अनुभव के समयमें आत्माकी छांट नही रहती । इसलिए व्यवहार नयसे बतलाया गया कि आत्मामें सब गुण हैं परन्तु निश्चयसे दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण भी आत्मामें नहीं बतलाये, निश्चयसे आत्मा अनन्त गुणात्मक नहीं है, वह तो एक अद्वैतरूप है । व्यवहारसे आत्मा अनन्त गुणात्मक है । आत्माका निश्चयसे एक अद्वैत रूप है । अनन्तगुणात्मक

आत्मा होतेहुए भी उसमें निश्चयको ढूंढ़ रहेहैं। सम्यक्त्व अनुभवके कालमें जो रि ति होती उसमें बुद्धिके लेजाना निश्चयनयका प्रयोजन है। इसवजहसे कह देते कि आत्मामें न दर्शनहै,न ज्ञानहै,और न चारित्र है। आत्माके स्वाद आत्माके अनुभवमें विभाव पर्यायोंकी त चर्चा दूर रही, अशुद्धता यह कहना तो दूर रहा, उसमें तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणोंके भेदरूप अशुद्धता नहीं बताई वह तो दर्शन ज्ञानऔर चारित्रकी कल्पनासे रहित शुद्ध है। इन गुणोंके निषेधसे आत्मामें निश्चय-नय आगया और इनको कहनेसे व्यवहारनय आगया।

जैसे खेल देख र आये तो उस खेलका वैसेही वर्णन करो, वैसा-का वैसा ही बताओ जिससे वैसा ही हमको भी समझनेमें आवे। भारी प्रयत्न करते और बता नहीं सकते। उसी तरह आत्माकी भी वही चीज बतलाओ जिसमें बहुत काल तक भूलते रहते हो, परन्तु फिर भी काफी प्रयत्न करनेपर आत्माका स्वरूप ठीक तरह नहीं बता पाते। आत्माकी ऐसी स्थिति बतलाई कि वहां तो एक अभेद स्वाद ही है, आचार्य ऐसा कहते कि वहां तो केवल अनाकुल संवेदन है, आत्मामें वहां तो केवल अनाकुल सुख रूप संवेदन है और कुछ नहीं।

तब अपनेको आत्माके अनुभवके लिये क्या करना है? अपनेको शुद्ध आत्मा ा अनुभव करना है तो धन वैभव आदिसे अपनेको कुछ नहीं समझना। इनके कारण तो यह आत्मा कुछ भी नहीं है। इनसे कुछ बननेकी तो बात जाने दो इनसे कुछ नहीं होरहा है, इनके संबंधसे अपनेको बिल्कुल अलग रखना, ऐसा जानकर जितने भा र पदार्थ है, धन वैभव आदि, सबसे न्यारा मैं एक अलग ज्ञानमय हूँ आत्मा हूं, पहले तो ऐसा विचार करो, फिर यह विचार करो यह एक पिंड ऐसा है जो शरीरके छूट जानेपर भी उसमें एक तैजसकार्माणको लिये होता है। वह मुक्तिसे पहले नहीं छूटता वहां उसके अन्दर अनादि अनन्त ज्ञान स्वभाव पृथक् हैं तब तो वहां पर तैजसकार्माण शरीर भी नहीं रहा शरीर दो प्रकारके होते हैं सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। स्थूल शरीर

जिस समय छोड़ गया उस समय सूक्ष्म शरीर तैजसकार्माण अपने रहा परन्तु अनादि अनन्त ज्ञानसामान्यके जाननेके बाद वह सूक्ष्म शरीर भी अब नहीं है और आत्मा में अनन्त गुणोंका पिंडरूप एक मैं रह गया। वहां पर कर्मकी पर्याय भी मैं नहीं हूँ। राग द्वेष आदि पर्यायें भी नहीं हैं। इनसे अपनेको जुदा करने पर मति श्रुतज्ञान रह गया। श्रुतज्ञानकी गुणोंके स्वभावरूप अधूरी अधूरी पर्यायें भी जो हैं इनसे भी अपने आपको अलग करके इस रूपमें भी नहीं हूं इनसे भी न्यारा आत्म तत्त्व है। तब केवलज्ञान रूप उसकी स्वभाव पर्याय कहलाई यहां भी केवल तरंग बता दी। केवलज्ञान की पहिलेसे सत्ता नहीं थी। केवलज्ञान हुआ जबसे सत्ता हुई परन्तु सत्ता तो मुझमें पहलेभीमौजूद थी इसलिए केवल ज्ञानकी पर्याय रूपभी मैं नहीं हूं। दर्शनज्ञानचरित्र आदि जो गुण तीन काल चलतेहैं इन गुणोंके रूप भी मैं नहींहूं क्योंकि ये गुण तो कल्पनासे न्यारे न्यारे कर लिये गयेहैं, चीजतो एक है। एक चीजकी तरंगसे चलरहेहैं। उस एक चीजको बतानेकेलिए आचार्योंने यह बताया कि आत्मामें ज्ञानशक्ति दर्शनशक्ति और चारित्रशक्ति मौजूद तोहै परन्तु वह भी कल्पनामात्र है क्यों कि आत्मा तो एक निर्विकल्प द्रव्य है उसके एक स्वभावके ये भेद मात्र हैं आचार्योंने बताया व्यवहारसे भेद करके एक अभेद स्वरूप समझानेका प्रयत्न किया कि मैं तो एक ज्ञायक रूप हूं। एक ज्ञानस्वभाव मैं हूँ, ऐसा वह मैं शुद्ध हूं। इस शुद्धताका लक्ष्य आजानेसे पर्यायमें निर्मलता आती है। बाह्य पदार्थोंका अनुभव करनेसे निर्मलता नहीं आती। इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदिके भेद भी अनुभव मत करो। इन सबकी घाटीको पार कर एक अद्वैत-रूप उपयोग रहता तब यह आत्मा शान्तिका स्वरूप होता। इन सबकी छांट से या अपनी अछांटसे यह स्वरूप हुआ।

इसी तरहसे यहाँ तो यह बात बतलाई कि तुम जो कहते मैं वह हूं जो हैं भगवान, अर्थात् जो मैं हूं सो केवली है और जो केवली है सो मैं हूँ। प्रकृतमें यहाँ मैं के माईने श्रुतकेवली लगाया। केवली और

श्रुतकेवलीमें कोई अन्तर नहीं। निश्चयदृष्टिसे ही ऐसा है। निश्चयसे देखो तो केवली भी केवलज्ञानके द्वारा आत्माको जानता और मैं भी श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको जानता। अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावी आत्माको वह भी जानता और अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञान स्वभावी आत्माको मैं भी जानता। काम एक है, केवल आत्माको जानना। दोनों ही इसके आगे कुछ भी काम नहीं कर सकते। केवली अनन्त शक्तिमान हैं तो भी अन्य कुछ भी नहीं कर सकता। वह पर पदार्थोंमें अपने ज्ञान गुणका प्रयोग नहीं कर सकता, वह तो केवल अपनी आत्मापर ही प्रयोग करता, इसी प्रकार हम भी केवल अपनी आत्मापर ही प्रयोग करते और परपदार्थोंमें अपने ज्ञानगुणका प्रयोग नहीं कर सकते। केवलीके केवल अपनी आत्मापर ही प्रयोग करनेके कारण उसके जाननेमें विश्व आजाता। इस तरह ज्ञानके आधारभूत निज आत्मापर ही सबका प्रयोग होता, यदि विकल्प अतत्त्वको छोड़दें तो वही स्वच्छता सर्वज्ञता आ धमकेगी। मैं भी क्या करता? खुदको ही प्रयोज्य मानकर ज्ञान कर पाता हूं। निश्चयसे मैं भी और केवली भी समानता रखते हैं।

परन्तु यह कहते हैं कि केवली केवलज्ञानके द्वारा जानता और मैं श्रुतज्ञानके द्वारा जानता। ऐसा कहनेमें तो बड़ा भारी फर्क आजाता है। दोनों ही जाननेके द्वारा जानते हैं। फिर यह श्रुतकी उपाधिसे भेद क्यों पड़ गया? किन्तु निश्चयसे ज्ञानमें श्रुतकी उपाधि भी नहीं। इससे यह मतलब निकला कि केवली भी ज्ञानके द्वारा अपनी आत्माको जानता और मैं भी ज्ञानके द्वारा आत्माको जानता।

केवली और मैं दोनों ही ज्ञानके द्वारा आत्माको जानते, ऐसा कहनेमें भी वह ज्ञानका हथियार लग गया। परन्तु वह ज्ञान तो आत्मासे अलग कोई शस्त्र नहीं। आत्मा और ज्ञान अलग अलग नहीं है। इसलिए वह आत्मा अपने ही तरंगसे अपने आपको जान रहा। परन्तु जानरहा ऐसी अलग कोई क्रियाभी नहीं होती। वहतो अपने आपको

जाननेवाला हो रहा है। वह तो अपने ही द्वारा अपनेको अपने लिये अपनेसे अपनेरूप काम करता। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय कौन है इसकी कल्पना करना भी ठीक नहीं ज्ञान तो जो है सो ही है। स्वरूप जाननेका निश्चय रहना चाहिये और कल्पनामें नहीं पड़ना चाहिये। आत्माके अनुभवसे पराङ्मुख की ये सब दशाएँ हैं।

आचार्य महाराज इतने दयालु हैं कि कोई भी वर्णन करनेपर निश्चय की हद हो जाय तो व्यवहारकी पुट लगा देते हैं। व्यवहार का वर्णन करते करते जब बहुत उलझनकी बात हो जाती है तो वहाँ भी एक निश्चयकी बात लगा देते है।

समयसारमें एक जगह पूछा कि आत्मा करता किसे है? जैसे समुद्रमें लहर उठी तो वहाँ पूछते हैं कि समुद्रकी लहरका कर्ता कौन है? यद्यपि लहरके कर्ताका उत्तर देंगे तो दो उत्तर आएंगे कि समुद्र की लहरका कर्त्ता एक तो समुद्र है और दूसरी हवा है, दोनों उत्तर आएंगे। जब यह सिद्ध करना है कि समुद्र की लहरका कर्ता समुद्र है तो कहते कि यद्यपि हवाके निमित्तसे समुद्रकी लहर उठती है, तोभी हवाका समुद्रसे व्याप्य व्यापक भाव नहीं है इसलिए कर्ताकर्मपना उसमें नहीं हुआ। जल ही लहरका कर्त्ता है यह सिद्ध किया। पर पहले तो यह कह दिया कि यद्यपि हवाके निमित्तसे वह लहर होती है तो भी जलही लहर का कर्त्ता है और जब यह सिद्ध करना है कि हवाकी लहर का कर्त्ता है तो कहते कि यद्यपि उपादानसे जलमें ही लहर उठती है तो भी हवाके बिना लहरकी क्रिया नहीं हुई, इसलिए हवा ही लहर का कर्त्ता है। यह ही आचार्यों का हाल रहा कि पहले तो एक बात को कह देते कि यद्यपि ऐसा है फिर दूसरी बातको सिद्ध करदेते कि परन्तु ऐसा होनेसे ऐसा ही है ये दोनों बातें असिद्ध नहीं। हैं एकमें अन्तर्दृष्टि है दूसरेमें व्यवहार दृष्टि है। अभी तकके वर्णनको सुनकर यह बात समझमें आई कि आत्मा अपने द्वारा जानता और अपनेको जानता बाहरी कोई काम नहीं करता। अब कहते हैं ज्ञान सर्वगत है ज्ञान सर्व

पदार्थोंमें रहकर भी उनसे जुदा होता। निश्चयके वर्णनमें व्यवहारका पुट लगा दिया। इसीतरहसे निश्चयके द्वारा उसी द्रव्यका एक अभिन्नस्वरूप बताया जारहा है उसके बतानेसे व्यवहार मिटरहाहै तो मिट जाओ उसकी अभी परवाह नहीं, काममें निश्चयनयके द्वारा वस्तुके अभेद स्वरूपको पकड़रहो। इस स्वरूपको पकड़नेके बाद कहते कि इससे तो व्यवहार का नाम उड़ जायगा किन्तु यह विचार लाओ वस्तुके निश्चय स्वरूप जाननेकी ड्यूटी में हो तो वही करो।

अपनेसे भिन्न जो ज्ञेय पदार्थ दुनियां भरके हैं उनके आकारके समान परिणमित हुआ यह ज्ञान, इस ज्ञानमें गर्भित जो ज्ञेयाकार समस्त ज्ञेय हैं उन समस्त, ज्ञेयोंके आकारमें परिणत हुआ ज्ञान सो ज्ञान तो स्वयं परिणमरहा। इसका कार्य क्या हुआ! यहींके रहनेवाले ज्ञेयाकार याने इन पदार्थोंके धारण हुए ज्ञेयाकार। फिर उसकी आकृतिसे यह बतलाते हैं कि ज्ञानके कार्यके बाह्य कारण होनेके कारणसे ऐसा कहा जाता कि सारे पदार्थोंको ज्ञान पहिचानगया। ज्ञानके कार्यके कारण होनेसे यह सारे पदार्थ ज्ञानमें आगए। निश्चयसे तो ऐसाही है कि ज्ञान खुद काम है।-और कोई बात मत कहो। ज्ञाता और ज्ञान इसके विभाग करनेका क्लेश उद्योग कल्पना करनेसे क्या लाभहै। केवल अपने ज्ञान स्वभावको देखो,निरखो,अनुभव करो और सब प्रकारके विकल्पों और वासनाओंको न करो ऐसी अवस्था होनी पड़ती है.वहां शांतिमार्गहै जिनकी बुद्धि बाह्य पदार्थोंमें पड़ी हुईहै उनका तो कुछ ठिकानाही नहीं। अद्वैत परमशान्तिके वास्ते ज्ञानके विभाग नहीं करना चाहिये। शांतिका यह मार्ग निर्णीत होने पर जान ही गये होंगे बाह्य पदार्थोंसे कुछ नहीं आता जाता। जैसे सब आदमीचाहे लखपतीहों चाहे गरीब हों सदा आधसेर अन्नही खाया करतेहैं इसी तरह केवली और श्रुतकेवली दोनों ही एक कार्यकरते हैं। तो बाह्य पदार्थोंमें इतना विकल्प दौड़ानेसे कोई सिद्धि होनेकी नहीं। इसलिये सब तरफसे अपना उपयोग हटाकर एक इसी आत्मस्वभावमें बुद्धि लगाना है। मुझे अब बाह्य ज्ञानकी आकांक्षा नहीं। अब मैं मोही नहीं रहना चा-

हता,ऐसा सोचो, किसीसे ऐसा कहनेकी भी जरूरत नहीं। ज्ञानके अन्दर अपने आप दृढ होजाओ उस अमृतको अपने आपमें बढाते रहो और अपनेको निर्वाध शान्तिके मार्ग पर लगाओ ।

अब ज्ञानके बारेमें अनेक विचार कर लेने के बाद यह बतलाते हैं कि ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है ?

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ।
दव्वंति पुण आदा परं च परिणामसंवद्धं ॥ ३६ ।

जिस कारण कि ज्ञानके रूपसे—परिच्छेदके रूपसे स्वयं ही परिणाम परिणाम करके आत्माके स्वतन्त्र स्वरूपसे ही यह जीव जानताहै इस लिए जीव ही ज्ञान है। क्या ज्ञान है और क्या ज्ञेय है इस बातका वर्णन करते हैं - कि ज्ञान तो जीव है और ज्ञेय जीव स्वयं भी है और सारे जगतके पदार्थ भी हैं। जीव ही ज्ञानहै जो जाननरूपसे स्वयं परिणाम परिणाम करके स्वयं ही जानता है स्वयं स्वतन्त्र होकर जानता । घट पट आदि पदार्थ तो ज्ञान नहीं है । केवल जीव ही ऐसी विशेषता रखता है कि वह स्वतन्त्ररूपसे परिच्छेदरूपसे परिणमता स्वयं जाननरूपसे परिणमता रहता और ऐसे परिणमनमें वह स्वतन्त्र है। अपनी ही परिणतिसे जाननेवाला यह जीव है इसलिए यह जीव ही ज्ञान है । अनन्त द्रव्य जो संसारके हैं ये कोई भी द्रव्य जाननरूपसे नहीं परिणाम सकते और जब जाननरूपसे परिणमनेमें असमर्थहैं तो वे नियमसे अजीव अज्ञान अचेतन कहलाये । जीवही केवल जाननेवाला है जानन क्रियासे अभिन्न स्वरूप जीवका ही है, परपदार्थोंका जानन स्वरूप नहीं है। रेडियं या रैकार्डो में कितने ही शब्द भरदो पर जाननकी ताकत वहां भी नहीं है यदि रैकार्डसे प्रश्न करो और वह उसका उत्तर देदे तो देख लो, जाननकी बात उसमें कुछ भी नहीं आती इसलिए वह अजीवहै उसमें शब्दवर्गणा ऐसी ऐसी भरदी जिसके निमित्तसे उसकी बोली निकलती है वह बोलनेवाला तो मालूम पड़ा फिर भी उसमें जाननेकी शक्ति नहीं। केवल अमूर्त जीव

द्रव्य ही जाननेमें समर्थ है और कोई पदार्थ जगतमें जानने योग्य नहीं जीव जाननेसे पृथक् कोई चीज होती ही नहीं। जाननका जिसमें स्वभाव या स्वरूप ही नहीं वह जीव ही क्या? जीव ही ज्ञान है और कोई पदार्थ ज्ञानरूप नहीं हो सकते।

ज्ञेय कौन है? जाननेमें आनेवाले पदार्थ ही ज्ञेय हैं। जो होचुका है जो हो रहा है जो होवेगा ऐसे नाना पर्यायोंकी परम्परामें चलनेवाले जितने द्रव्य हैं वे सब द्रव्य ज्ञेय पदार्थ हैं। ज्ञेय दो प्रकारके होते हैं एक तो जीव खुद द्रव्य है इसलिए वह ज्ञेय और जगतके अन्य पदार्थ द्रव्य हैं,इसलिए वे भी ज्ञेय।अर्थात् ज्ञान तो हुआ यह स्वयं आत्मा और ज्ञेय हुए यह आत्मा स्वयं और जगतके अन्दर रहने वाली अनन्त आत्माएं और अनन्त पुद्गलद्रव्य आदि परन्तु जानने वाला केवल मैं ही हूँ ज्ञानका आलम्बन पाकर यह पदार्थ ज्ञेय कहलाता और ज्ञेयाकारको आलम्बन पाकर यह जीव ज्ञान कहलाता इसीतरहसे ज्ञान और ज्ञेयका ज्ञायकज्ञेय सम्बन्ध है। इस सम्बन्धमें ज्ञान तो एक ओर रहा और जगतके सारे पदार्थ और स्वयं जीव ज्ञेय एक ओर रहे। इन सारे पदार्थों और इस ज्ञानके साथ ज्ञाता ज्ञेयका सम्बन्ध चल रहा है। यह ज्ञान स्वयं ज्ञेय बनरहा है और जगत-पदार्थ भी ज्ञेय बनरहे हैं।

यहां यह शंकाकी जा सकती है कि पहले तो अभेद दृष्टिकी बात चल रही थी कर्ता और करणमें भी भेद नहीं आत्मा और ज्ञानमें भी भेद नहीं यह चर्चा चल रही थी, फिर यह बतलाते कि ज्ञान और ज्ञेय क्या है। ज्ञान तो यह जीव है और ज्ञेय जगतके पदार्थ हैं। इतनी सी मोटीसी बातके वर्णन करनेकी बात क्यों चल रही है? इसका उत्तर देते कि ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है यह बतानेमें यहां एक भारी बुद्धि और महत्त्वकी बात भी निहित है। वहां ज्ञान और ज्ञानीमें अविशेषता दिखलाई, ज्ञान और कर्तामें भी अविशेषता दिखलाई यहां ज्ञान और कर्ममें अविशेषता दिखलारहे हैं--वही एक जीव द्रव्य स्वयं ज्ञान भी है और स्वयं ज्ञेय भी है। ज्ञान भी स्वयं है और ज्ञानका प्रयोग

जिस पर हुआ वह ज्ञेय भी स्वयं है। कर्ता और कर्मका अभेद दिखाने का इस वर्णनमें प्रयोजन है इसलिए प्रकरणके विरुद्ध यह गाथा नहीं वस्तुतः तो ज्ञानका ज्ञेय, ज्ञानके परिणमनको छोड़कर अन्य पदार्थ होते नहीं हैं किन्तु जिन पदार्थोंके आकारवत् ज्ञानमें ग्रहण हुआ उन्हें ज्ञेय उपचारसे कहते हैं। अब यहां शंका उपस्थित होती है कि यह ज्ञान स्वयं जाननेवाला है और यह ज्ञान स्वयं जाननेमें आगया यह बात समझमें नहीं आई। खुदकी क्रियाका प्रयोग खुदमें होरहा है ऐसी बात तो उदाहरणमें भी नहीं मिलती कुल्हाड़ीका काम लकड़ीको काटना है, परन्तु उसका यह काम तो नहीं होता कि वह खुद ही के दो टुकडे करदे, इसी तरह ज्ञानकी क्रियाका काम जानना है तो वह खुदमें जानन कर दे यह कैसे हो? खुदमें खुदका प्रयोगका क्या मतलव? खुदकी क्रियाका काम खुदमें नहीं हो सकता तब यह ज्ञान आत्माका परिच्छेदक कैसे है? यह जीव स्वयंका जानने वाला कैसे है! इस शंकाका उत्तर देते हैं कि यह आत्माका जो जानन काम है वहां क्रिया क्या है और विरोध क्या है क्रिया है जानना तब विरोध क्या है?जो विरोध करे ऐसी क्रिया उत्पत्ति रूप है या ज्ञप्तिरूप?कोई बात पैदा की यह आत्माकी क्रिया है या प्रतिभास होगया यह आत्माकी क्रिया है? जीवने अपनेमें अन्य उत्पन्न कुछ नहीं किया किन्तु उसकी जाननरूप ज्ञप्तिरूप तरंग हुई यह जो तरंग है वह तो प्रकाशन क्रिया रही तो प्रकाशनक्रियामें क्या विरोध? कुल्हाड़ीका काम दो टुकड़े करना लगाते तो वहां विरोध होता परन्तु कुल्हाड़ीका काम अपनी सत्तासे रहना है। काठके टुकड़े करना तो निश्चयसे कुल्हाड़ीका काम ही नहीं कुल्हाड़ीका परिणमन उसका काम है। सत्तात्मक रहना हो तो कुल्हाड़ीके इस कामको कुल्हाड़ी करती, यहां तो विरोध नहीं हो सकता। इसमें क्या विरोध है इसीतरहसे आत्माका काम यदि यह रखा कि आत्मा कुछ अपनेमें नवीन वस्तु पैदा करे, नवीन बात पैदा करे तब तो विरोधकी बात है किन्तु जब आत्माकी क्रिया केवल प्रकाश ही रखे केवल जानन ही काम वत-

लगा तो उसमें— जानन मात्रमें ऐसा क्या विरोध आया। ऐसे ही जो दीपक है उसको खुदको प्रकाशमान करनेकेलिए दूसरे प्रकाश नहीं ढूंढे जाते। अतः जहां भिन्न काम है उस भिन्न काममें तो यह प्रश्न हो परन्तु अभिन्न काममें यह प्रश्न नहीं हो सकता। और फिर देखो भैया भिन्न काम तो उपचारसे मानाहै वस्तुतः वस्तुकाकाम वस्तुसे अभिन्न ही होता। दीपक घटपट आदि पदार्थोंको प्रकाशित ही नहीं करता केवल खुदमें ही प्रकाश करता है ज्ञान दूसरेका भी जानन करता और अपनेका भी जानन करता ऐसी उसमें शक्ति है। दीपककी वह प्रकाशन क्रिया जैसे दूसरों और खुद पर भी अपना प्रयोग करती है। इसी तरह ज्ञानकी जानन क्रिया भी दूसरों और खुद पर भी प्रयोग करती है। जैसे कि दीपकका मतलब प्रकाशन क्रिया उसकी प्रयोग क्रिया खुद दीपक पर भी हो जातीहै अन्यपर भी निमित्तदृष्टिसे होजाती है, प्रकाशन क्रियाका अपने आपमें प्रयोग करनेमें विरोध नहीं। इसी प्रकार जानन क्रियाका भी अपने आपमें प्रयोग करनेमें कोई विरोध नहीं। पहले यह तो देखो कि ज्ञानकी क्रिया है क्या। ज्ञानकी क्रिया प्रकाशन है जानन है। जानन क्रिया ऐसी कोई हौवा नहीं है कि खुदके प्रयोग करनेमें कोई कठिनाई आया करे। दीपक जलरहा है उसे उठानेका किसीने हुक्म दिया तो किसीने ऐसा विसंवाद नहीं किया कि दूसरा दीपक दो जिससे उसे देखकर उठा लाऊं। दीपकको देखनेकेलिए दूसरे दीपककी आवश्यकता नहीं पड़ती दीपकको प्रकाशनमे आनेकेलिए दूसरे दीपककी आवश्यकता नहीं पड़ी जैसे दीपककी क्रिया प्रकाशन है तो खुदकी प्रकाशन क्रियाका खुदमें विरोध नहीं है, इसीप्रकार ज्ञानकी क्रिया जाननका खुदमें भी विरोध नहीं आता। इसीप्रकार ज्ञान जानताहै तो सारे पदार्थभी जाननेमें आते और खुद भी जाननेमें आता। जानन क्रियाका ज्ञान में विरोध नहीं निमित्तदृष्टिका यह अनुचित व्यामोह है कि ऐसा मालूम देना कि अरे ज्ञानकी क्रिया अपने आपमें कैसे आजायगी। भैया वस्तुके अखंड सत्

की खबरलो तो यह बात सहज समझमें आजावेगी। प्रश्न तो यह किया जा सकता ठीक था कि ज्ञान अपने से भिन्न सत्तावाले परपदार्थोंको कैसे जान सकता सो इसका उत्तर तो उपचार मात्र है। यह बात हम खुद अनुभव करके भी देख सकते हैं कि हम भी हैं और दूसरे भी हैं जीओ और जीने दो ऐसा हम खुद भी अनुभव करतेहैं। यद्यपि जैन धर्ममें यह कहा कि न खुद जीवो और न दूसरेको जीने दो अर्थात् चतुर्गतिमें न खुद भ्रमण करो और न दूसरेको करने दो अथवा न खुद जनम मरण करो और न दूसरेको जनम मरण करनेदो किंतु यह यदि हम लोकमें कहें तो बड़ी आफत पैदा होजाय। लोक सोचेंगे यह क्या बात कही जारहीहै कि न खुद जीवो और न जीने दो। अच्छा! यह तो ठीक है कि न खुद मरो न मरने दो किन्तु भैया जाना बंद करोगे तभी मरना बंद होगा।

परपदार्थका परिच्छेदक जो यह आत्मा है सो यह आत्मा ज्ञेय पर पदार्थोंको जानता है ज्ञेय पदार्थको जानते हुए भी इस आत्माको खुदको जाननेमें अन्य ज्ञानक नही ढूंढा जाता, क्योंकि यहां स्वयंही ज्ञानक्रिया की उपलब्धि है। जानन क्रिया खुद अपनी आत्मामें है तो जानन क्रियाको समझनेके लिए दूसरे जाननेवाले ज्ञानको ढूंढनेकी आवश्यकता क्या! क्योंकि स्वयं ज्ञानक्रिया करके उपलब्धि होती। ज्ञान तो यह जीव है और ज्ञेय उत्पादव्ययवाले ये पदार्थ हैं अथवा ज्ञेय तो द्रव्य हैं ज्ञान पर्याय स्वरूप वस्तु है। ज्ञान तो यह जीव है और ज्ञेय जीव खुद भी और जगत के और जीव भी और अनन्त पुद्गल द्रव्य भी होते। यह जीव स्वयं स्वतन्त्र होते हुए भी जानने वाला होता ऐसी खासियत दुनियांके और वस्तुवोंमें नहीं होती। रेडियो रेकार्ड चलचित्र सब जगह ज्ञानका बिल्कुल अभाव है शरीर भी जड़ है उसमें जानन क्रियाका अभाव है जानन क्रियाका सद्भाव केवल जीवमें ही होता जाननेकी क्रियाका परिणमनवाला केवल जीव है और कोई पदार्थ नहीं है, जगतके अन्य सारे पदार्थ मात्र ज्ञेय हैं।

इस प्रकार कर्त्ता और कर्ममें भी भेद मत डालो। ज्ञानमें श्रुत की उपाधि भी नहीं लगती। यद्यपि प्रकरणवश निश्चयके बाद व्यवहारका प्रकरण चला दिया। इसमें भी निश्चयका पुट लगा है कि यह आत्मा ज्ञान तो है ही, परन्तु खुद भी ज्ञेय है। यहाँ ज्ञेय जाननेमें आने वाला है। दीपक प्रकाशक है और प्रकाश्य भी है। इसी प्रकारका ज्ञान याने जानना, जानने वाला भी है और जाननेमें आने वाला भी है। प्रकाशका काम एक ही ढंगसे एक ही तरंगसे चल रहा है। उसका परिणमन प्रकाशन कहलाता। आत्मा तो अपनी एक तरंगसे है, एक जानन क्रियाको परिणम करके सत् है, ऐसा वह आत्मा उसका वही परिणमन एक ज्ञायक ज्ञान और ज्ञेयहै। तीनों बातें रूप स्वयं एकही कामको करने वाला आत्मा है। यह क्रिया क्रियावानको अभेद करके जैसा है समझाया गया है। इस तरहसे यह आत्मा ज्ञान है और ज्ञेय भी है। यह आत्मा स्वयं ज्ञान है और यह आत्मा स्वयं ज्ञेय है। दीपक का प्रकाश है सो वह तो एक है, पर वह प्रकाशक भी है और प्रकाश्य भी है। प्रकाशमें स्वयं भी आरहा है और प्रकाश करनेवाला भी हो रहा है। इसी तरहसे ही एक ही जानन ज्ञायक और ज्ञेय बन रहा है। उसकी एक ही तरंगके होने से ज्ञायक भी बन रहा और ज्ञेय भी बन रहा। वह स्वयं जाननेवाला है और स्वयं जाननेमें आनेवाला भी है। जैसे प्रकाशक दीपक अपने द्रव्यक्षेत्रकालभावसे ही सत् है और प्रकाश्य परसे असत् है इसी प्रकार ज्ञाता भी अपने द्रव्यक्षेत्रकाल भावसे सत् है और ज्ञेय परसे असत् है। जैसे दीपककी उत्पत्तिमें ही पर निमित्त है किन्तु प्रकाशन क्रिया स्वतंत्रतासे हो रही है वैसे ही ज्ञानपर्यायकी उत्पत्तिमें निमित्तमात्ररूप ज्ञानावरणका क्षय अथवा काल द्रव्य निमित्तमात्र होओ किन्तु जानन क्रियामें वह पूर्ण स्वतन्त्र है। षट् द्रव्योंमें प्रधान एक जीव द्रव्य ही है। एक जीव द्रव्य न होवे और सभी द्रव्य बने रहें तो कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकती। जगतके जितने भी द्रव्य हैं उनमें सारभूत एक जीव द्रव्य है।

जीव द्रव्यकी तीन अवस्थाएं होती हैं। बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमें परमात्मा ही सारभूत अवस्था है। इस अवस्थामें भी दो अंश द्रव्य होते हैं,स्वभाव और तरंग। इनमें स्वभावही सारभूत है, तरंग नहीं। केवलज्ञानमें ही स्वभावको ही सारभूत माना है। उसी सारभूत तत्त्वका लक्ष्य करके भव्य जीव संसारसे तिर जाते हैं। तब आत्मा द्रव्यरूप रहा और आत्मा ज्ञानरूप रहा अर्थात् आत्मा ज्ञेयरूप रहा और आत्मा ही ज्ञानरूप है। बाकी जितनी भी द्रव्य और ज्ञेय हैं वे सब आत्माके ज्ञेयरूप ही रहे। परन्तु मैं स्वयं ज्ञेय रूप भी रहा और ज्ञानरूप भी रहा। आत्माके अतिरिक्त सारे द्रव्य मेरे लिये केवल ज्ञेय रूप हैं ज्ञानरूप नहीं। इसी तरह सबमें तत्त्व जानना। यह आत्मा तो जाननेवाला है और ये सब जाननेमें आनेवाले हैं। ज्ञानका भी ऐसा परिणमन है जो जाननेमें आया करे और जाना भी करें। जो जानने में भी आया करे और जानने वाला भी हो सके। आत्माके ज्ञानका आलम्बन करके यह पदार्थ ज्ञेय बनते हैं और इनके आकारका आलम्बन करके यह आत्मा ज्ञानरूप बनता है। इन दोनोंमें ऐसा सम्बन्ध है। जैसे दर्पणके आगे मयूर अर्थात् मोर खड़ा हो गया तो उसमें मोरका प्रतिबिम्ब आगया। दर्पणने मोर को झलकता कर दिया। इस प्रकार दर्पणमें झलकानेकी शक्ति है और मोरमें झलक जाने की शक्ति है। यदि इसका विरोध करें तो मोर को भींतके सामने खड़ा करदो तो वहाँ भींतमें झलकाने की शक्ति नहीं है सो झलकता तो नहीं। अथवा दर्पणके आगे सारे अमूर्त पदार्थ पड़े हुए हैं तो भी दर्पणमें वह काम नहीं बना जो पहले बन रहा था, तो कहा जाता कि उन अमूर्त पदार्थोंमें झलक जानेकी शक्ति नहीं। जैसे झलकानेकी शक्ति वाला पदार्थ हो और झलकानेकी शक्ति वाला पदार्थ हो तो फिर उसमें झलकने की बात आती है। इसलिये ये सब पदार्थ झलकनेकी शक्ति रखते हैं और आत्मा झलकानेकी शक्ति रखता है और इस प्रकार ये सब पदार्थ आत्माके ज्ञानमें झलक

जाते हैं।

अभी प्रश्न उठा है कि जगतके और जितने भी पदार्थ हैं इनमें प्रमेयत्व-ज्ञेयत्व धर्म बतानेकी आवश्यकता क्या है ? ये तो जड़ आदि पदार्थ हैं, जाननेमें आगए। इनमें ज्ञेयधर्म माननेकी आवश्यकता क्या? प्रमेयत्व धर्मकी क्या आवश्यकता है ? जैसा अस्तित्व है समझमें आता परन्तु प्रमेयत्व ऐसा कौनसा गुण है जो इसमें भरा है। इसमें इसकी आवश्यकता क्या है ? उत्तर देते हैं कि जैसे मोरमें झलक जानेकी शक्ति नहीं होती तो दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब नहीं होता। जगतके पदार्थोंमें प्रमेयत्व धर्म नहीं होता तो वे जाननेमें नहीं आसकते। इसलिये अन्य गुणोंके साथ प्रमेयत्व, गुण भी इन पदार्थोंमें माना गया है।

इसी तरहसे यह आत्मा ज्ञान है और जगतके सारे पदार्थ ज्ञेय हैं और आत्मा स्वयं ज्ञेय भी है। इनका आलम्बन करके, द्रव्यके ज्ञानका अवलम्बन करके ज्ञेयके आकारसे जो आत्माकी परिणति होती वह ज्ञान कहलाया। ज्ञान और ज्ञेयका सम्बन्ध दोनों का रूखापन होनेपर भी स्नेहत्व सिद्ध करता। ज्ञाता तो मैं एक अकेला ही हूं। मेरे ही जाननेमें अनन्त पदार्थ आते हैं। ज्ञान भी इतना शक्तिशाली बताया गया है कि उसमें सब पदार्थ आजाते हैं,वह जाननेसे वजनदार नहीं होता। यदि अनन्त द्रव्य भी जाननेमें आवे तो भी वह हलकेका हलका ही रहता। लम्बाई चौड़ाई या वजन ज्ञानमें नहीं होता। वह तो गोल और लम्बाईको ग्रहण कर रहा है , इतना ही मात्र ज्ञानका काम है। किन्तु पदार्थोंके आकारसे ज्ञान लम्बा चौड़ा होजाया करे ऐसा नहीं। यह ज्ञान अमूर्त, सूक्ष्म और विलक्षण वस्तु है कि जगतके सारे पदार्थ इसके जाननेमें आते तो भी वह निर्मल और स्वच्छ है और वैसे का वैसा ही रहता है। यह ज्ञान समस्त पर द्रव्योंसे अत्यन्त पृथक् रहता हुआ स्वयं परप्रकाशक है। इस लोकमें ज्ञानमय आत्मा सर्वकी व्यवस्था बतानेवाला सारभूत तत्त्व है इस प्रकार ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता

कही ।

अब यह सिद्ध करेंगे कि अतीतकालमें हुए द्रव्योंकी पर्याय और भविष्यकालमें होनेवाले द्रव्योंकी पर्याय ज्ञानमें वर्तमान पर्यायकी तरह ही प्रतिभासित होती । वर्तमानकी पर्यायें भी वर्तमान हो जानेसे प्रतिभासमें नही आरही है । वर्तमान होनेके कारण वर्तमान पर्याय सर्वज्ञ के ज्ञानमें आये तो सर्वज्ञके ज्ञानमें परकी अपेक्षा हो गई । मतिज्ञान वर्तमानमें हो जान सकता । जैसे हमारे मतिज्ञानमे वर्तमान नाना पर्यायकी अपेक्षा आवश्यक होती वैसे केवलीके केवलज्ञानको नाना द्रव्य पर्यायकी अपेक्षा आजायगी। फिर वर्तमान पर्याय केवलीके ज्ञानमें आए क्यों ? इसलिए आये कि उनमें सत्ता है । सत्ता जो है, सत्ता जो होगी, और सत्ता जो थी, पर्यायकी दृष्टिसे सत्ताकी उनमें समानता है इसलिये वे ज्ञानमें आगये । जब तीनों कालकी पर्याय एक साथ ज्ञान में है तो वर्तमान भी ज्ञानमें है । एकभींतपर हम अतीत कालके२४तीर्थंकरोंके फोटू , वर्तमानके २४तीर्थंकरों के फोटू लगादें और भविष्यकालके२४ तीर्थंकरोंके फोटू लगादें तो वे तीनों कालके फोटू एक साथ वर्तमानमेंही दृष्टिगोचर हो गये । इसी तरहसे यह ज्ञान रूप भींतपर-केवलीके ज्ञानरूप पर वर्तमानकी तरह ही भूतकाल और भविष्य कालके द्रव्योंकी पर्यायें एक साथ प्रतिभासमें आईं । इस तरह यह सिद्ध करते हैं कि भगवान एक साथ ही तीनों कालके पर्यायोंको जानते । तथा सब पर्यायोंको युगपत् जानते हुए भी सबमें संकरता नहीं हो पाती है सभी द्रव्य और पर्याय पृथकरूपसे प्रतिभात होते हैं, इस तत्त्वको उद्योतयति अर्थात् उसकाते हैं जैसे दीपक जब कम उजाला देता है तो उसकी बाती उसकेर दी जाती है मानों इसी प्रकार आचार्य महाराज अपने इसी ज्ञानको उसरूपके लिये उसका रहें हैं, बढ़ा रहे हैं, प्रगट कर रहें हैं, उद्योतित करते हैं—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥

समस्त द्रव्यसमूहोंकी समस्त पर्यायें जो कि अभी सत हैं अथवा असत् अर्थात् पहिले थीं और आगे होगीं ऐसीं हैं वे सभी सर्वज्ञ ज्ञानमें पृथक् पृथक् रूपसे वर्तमान हैं जाननेमें आरहे हैं। देखो जितने प्रकारके द्रव्य हैं सभी प्रकारके द्रव्य तीनों समय अपने स्वरूहीं की भूमि का लिए हुए हैं, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य था, है और होगा वह तीनों समयोंमें अपनी सत्ताको लिए हुए रहता है और उनकी जो पर्याय सम्पत्तिका लाभ है वह होता है क्रमसे। प्रत्येक पदार्थ पर्यायसम्पत्तिको क्रमसे पाता रहता है एक साथ सारे पर्याय नहीं आते, सब पर्याय द्रव्योमें क्रमसे आएंगे। तो कितने ही पर्यायें तो ऐसी हैं जो होचुकीं हैं, कितने ही पर्याय ऐसी हैं जे होरही हैं और कितनी ही पर्याय ऐसी हैं जो आगामीं काल में होवेगी। इनमेंसे जो हो चुकी हैं वे और जो होवेगीं वे भी सभीकी सभी पर्याएं भगवानके ज्ञानमें एक साथ ही प्रतिभासमें आरही हैं एक द्रव्यकी तीनों समयकी पर्याएं एक साथ जिस समय ज्ञानमें आवें सभीकी सभी पर्याएं एक समयमें एक साथ आगईं तो ज्ञानमें संकरता आगई और यदि क्रमसे एक एक पर्याय आये तो कुछ भेद भी रहा, वहां सर्वज्ञता नहीं। जिसके तीनों कालकी पर्याएं एक साथ आजांये तो आत्मा के अनुभवसे वह स्थिति क्या होती होगी?सबका संकर होगा। उस ज्ञानकी स्थिति क्या रही? वह ज्ञेयाकार भी क्या रहा? तीनों कालकी पर्याएं सब द्रव्यकी एक साथ वहां आजाती हैं। तो भी विशेष लक्षण उनका निश्चित है वह छूटता नहीं। देखो प्रभुके विराट् रूपक अनंतानंत पदार्थ व उनकी अनंतानंत पर्यायें एक साथ ज्ञानमें आथ के फिर भी सब ठीक रहे एक ही कालमें उस ज्ञानकी स्थितिमें सबकी सब तीनों कालकी पर्यायें आजातीं यह शंकास्पद बात नहीं। छद्मस्थ भी अतीत कालकी चिन्तवन करता तो यहांके ज्ञेयाकारमें वह अतीत प्रगट होजता है और भविष्यकी बातका भी चिन्तन करे तो वह पर्याय भी वर्तमान में इस आकार होजाती है। छद्मस्थके भी अतीतकी बात विचारने पर वह आकार ज्ञानमें आजाताहै भविष्य विचार सही हो या न हो सके

आकार तो आ ही जाता है हमारे भविष्यका भी आ जाता है तो केवली के आजानेमें कोई शंका नहीं। जैसे चित्रपट है उसमें अतीत कालके तीर्थंकरोंका भी चित्र लगादो और वर्तमानके तीर्थंकरों का भी चित्र लगादो तथा भविष्यत् के तीर्थंकरो का भी चित्र लगादो तो वे अतीत वर्तमान और भविष्यनके चित्र उस चित्रपटपर वर्तमानकी तरह एक साथ प्रतिबिम्बित होरहे हैं। इसी तरहसे भगवानका ज्ञान तो चित्रपटकी तरह है और अतीत और अनागत सभी पर्यायोंका वहाँ ज्ञेयाकार होरहा है। भूत भविष्यत और वर्तमानके सभी पदार्थ उनके ज्ञानमें एक साथ वर्तमानकी तरह प्रतिबिम्बित होरहे हैं फिरभी सब पर्याय भिन्न २ भिन्नरूपसे प्रतिभान हैं।

दूसरी बात यह कि शंका करनी है कि भूतकाल और भविष्य काल की सभी पर्याएं भगवानके ज्ञानमें वर्तमान जैसी कैसे होगई। तो वे पर्याएं अथवा पदार्थ चाहे वर्तमान नहीं हैं, परन्तु पदार्थोंके निमित्तसे जो ज्ञान होता है जो ज्ञेयाकार बना है वह ज्ञेयाकार तो भगवानके वर्तमान ही है। जैसे अपनी कोई अतीतकी घटना विचारी, वह घटना जिस दिन हुई थी उस दिन हुई थी, आज वह नहीं है तो भी जिस कालमें वह विचार रहा है उस विचारके आनेके समय भी घटना वर्तमान रूपमें दीखती है उस घटनाका आकार अथवा बंध अब भी मौजूद है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवानके तीनों कालोंकी पर्याएं वर्तमानमें दृष्टिगोचर होती हैं।

कहते कि वह जो ज्ञेयाकार होता है, सारे पदार्थोंका जो ग्रहण होता है ऐसा वह जो ज्ञेयाकार है वहां वर्तमानपनेका विरोध नहीं रहता, अर्थात् वह सारे के सारे ज्ञेयाकार वर्तमान में तो हैं ही वर्तमानकी तरह ही हैं। जैसे जो पर्याएं आगईं, आरही हैं और आवेगीं, ऐसी पर्याएं, उनका जो चित्र आया या ग्रहण आया या ज्ञेयाकार जो उसके ग्रहण में आए वे तो वर्तमान रूप ही हैं। उपयोगभूमिमें तो भूत और भविष्यके पदार्थ वर्तमान ही होरहे

हैं। भगवानके ज्ञानकी जगह तो वे पर्यायें वर्तमान ही हैं। जैसे छद्मस्थ पुरुषके मनके अतीत पर्याय का विचार आवे तो जिस काल में विचार आया उस कालमें तो वह पर्याय वर्तमान ही है, अर्थात् चित्रकी भींतमें बाहुबल आदि, या श्रेणिक आदि जो तीर्थंकर आगे होवेंगे, उनका भी चित्र लग गया तो वे तो सब वर्तमानकी तरह ही झलक रहे। इसी तरहसे केवली भगवान के उपयोगकी भींत पर अतीत अनागतके चित्र एक साथ वर्तमान रूपमें आ रहे हैं। इसलिये उनकी ज्ञान भींतपर द्रव्यकी जितनी भी पर्याएं हैं वे सब वर्तमान की तरह ही प्रतिबिम्बित हो रही हैं। वहां भी केवली भगवान पर द्रव्य की पर्यायों को जानने मात्रसे जानते हैं, तन्मयतासे नहीं जानते। उन का पर पदार्थोंपर प्रयोग तन्मयतासे नहीं होता। निश्चयसे केवल ज्ञान आदि गुणोंके आधार भूत निज पर्यायमें तन्मय होकर जानते। बाह्य पदार्थोंको अपने संवेदनाकारसे तन्मयताकारसे नहीं जान। वे तो अपने संवेदनाकारसे तन्मय होकर अपने आपको ही जानते। भव्य जीव अपनी शुद्ध आत्माका सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप जो निश्चयकी रत्नत्रय पर्याय है, उस पर्याय को ही ये भव्य जीव जानते, इसके अतिरिक्त और किसी दूसरी चीजको नहीं जानते। यह आत्मा अपने ही पर्यायको जानकर सबका जाननेवाला कहा जाता। यह जीव अपनी पर्यायको ही निश्चयसे जानता। व्यवहारसे बाह्य पदार्थका भी जानता कहा जाता। तो वह केवली निश्चयसे अपने ज्ञानको ही जान रहे हैं और अपने ज्ञानको जाननेमें व्यवहारसे ज्ञानको जो तीनों काल की पर्यायें विषय होगई हैं वे तीनों कालकी पर्याऐं भी जाननेमें आई हैं किन्तु उनमें वे तन्मय नहीं होरहे हैं। तन्मयता तो भगवानकी निज वर्तमान पर्यायमें ही सहज होरही है।

आजकल भी यहाँ तपस्वी लोग और ज्ञानी लोग अतीतकी और भविष्यकी बात बताते हुए देखे जाते हैं। ज्ञानमें ऐसी एक शैली

पड़ी हुई है कि यह ज्ञान भविष्यकी बात भी इस ज्ञानको आलम्बन करके यह ज्ञान भविष्यके ज्ञेयाकार रूप होजाता है। जिनके सम्यग्ज्ञान होता है वे भविष्यकी बातको निश्चय रूपसे कहते हैं और जिनके यह नहीं होता वे कुछ न कुछ रूपसे जानते तो रहते हैं। इस ज्ञानमें ऐसी शक्ति तो है कि अतीतके और भविष्यके पदार्थोंका भी आकार वह जान लेता है। यहां पर यह बात सिद्ध होती है कि सिद्ध भगवानके या केवली भगवानके जहां कि अतीत और भविष्य के पर्याय झलकते हैं वहां ही वर्तमानके भी पर्याय झलकते हैं और जहाँ वर्तमानके पर्याय झलकते हैं वहां भूत और भविष्यके पर्याय भी ज्ञानके आकारमें आते वह सबको अविशेषताके साथ एक समय ही जानता है। इस ढंगसे सभी पदार्थ उनके ज्ञानमें आगए विश्वमें अनन्त पदार्थ है, असंख्यात है. वे अनन्त और असंख्यात पदार्थ भी उनके ज्ञानमें आगए हैं। तो वह ज्ञान तो उनसे भी ज्यादा अनन्त और असंख्य हुआ। उस अनन्त ज्ञानमें अनन्तों पर्याएं आती हैं न उन पर्यायोंमें अन्त होता है और न ज्ञानमें अन्त होता है और जान जाते हैं सब।

ज्ञानकी जाननेकी शैली इतनी अद्भुत होती है कि ज्ञानका काम तो जाननेका है और इस जाननेमें भूत भविष्यत और वर्तमान सभी पदार्थ एक साथ आजाते हैं। केवल वर्तमानका जानना, ऐसा पचड़ा तो मतिज्ञानमें लगता है। ज्ञानका वह इतना ही विकास है. वह स्वयं अनेक निमित्तोंकी अपेक्षा रखने वाला है, ऐसा समझते इसलिये इन्द्रियोंके समक्ष होने वाली बातेंही मतिज्ञान जान पाता है। परन्तु ज्ञान तो केवल जानता है। वह है, था और होगा, इस सबको जानता है। उसमें केवल सत्ताका सम्बन्ध होना चाहिए। सत्ताका सम्बन्ध था, है और होगा, ऐसी बात होवे जब जाकर वह जानता है। पर्यायकी सत्ता वर्तमान होनेके कारण,केवली जानते हैं ऐसी बात नहीं है। उनका ज्ञान तो ऐसा संकर हो गया कि सारी की सारी

पर्यायें उनके आगईं। द्रव्यमें तो वे पर्याय क्रमसे आवेंगी परन्तु क्रमसे आनेवाली सारीकी सारी पर्यायें केवलीके ज्ञानमें एक साथ आगईं। इस तरहसे यह बात सिद्ध की है कि ज्ञानकी ऐसी शक्ति है। ज्ञान तो केवल जानता है। जब तीनों काल की पर्यायें एक साथ सिद्ध भगवानके ज्ञानमें आगईं तो वहाँ क्रम कहाँ रहा। जाननेमें आनेका क्रम रहा हो नहीं। दूसरे सिद्ध भगवानके स्वयं यह विकल्प नहीं है कि यह भूतकी है, यह वर्तमानकी है और यह भविष्यकी पर्याय है। वहाँ तो समस्त पर्यायोंका ऐसा आक्रमण होगया कि सब की सब एक साथ प्रगट हो गईं। यह अतीन्द्रिय ज्ञानकी बात है। यहाँ की व्यवस्था अतीन्द्रिय ज्ञानके महत्त्वके द्वारा नहीं कर सकते और केवलीके ज्ञानकी व्यवस्था यहांके ज्ञानकी व्यवस्थासे नहीं होसकती और न वहाँ की व्यवस्थासे यहाँकी अवस्था कोई कर सकता। केवलीके तो एक साथ सारी तीन लोक और तीन कालकी पर्यायें प्रगट हो गईं। लोकमें यहाँ त क्षेत्रका क्रम है। परन्तु तीनों कालकी पर्यायें जहाँ एक साथ आरही हैं वहाँ हम कालमें कैसे क्रम लगाएंगे जब की एक ही कालमें सारी पर्यायें एक साथ आगईं। पदार्थोंकी यह व्यवस्था है कि इनकी अनेक पर्यायें क्रमसे होती हैं, एक साथ नहीं हो सकती। परन्तु सिद्ध भगवान या केवलीके ज्ञानमें तीनों लोक और तीनों काल और तीनों लोक की पर्यायें एक साथ आगईं। यह केवलज्ञानकी महिमा है। उसको जानकर हम यहाँकी व्यवस्था करें तो वह सब बेकार। किनके लिए बेकार; मोहियोंके लिए। उनका तो अनन्त ज्ञान है अनन्त स्वरूप है, स्थिति ही अनन्त है, स्वच्छता अनन्त है, जिससे उनके ज्ञानमें सब पर्यायें एक साथ प्रतिभासित हो जाती हैं।

अब तक जो पर्याय नहीं हुई या जो पर्याय आगे होंगी ऐसी जो असद्भावात्मक वस्तु भी ज्ञानमें सद्भूत हो हैं। जो पर्याय हुई नहीं था जो अपना स्वरूप पाकर नष्ट होगईं वे सब वर्तमानमें असद्भूत हैं। परन्तु ज्ञानकी तो प्रत्यक्षताका आभिमुख्य करती ही हैं

जैसे श्रेणिक भी जब तीर्थंकर होंगे उनकी प्रतिमा या आकार कोई बनाले तो जैसे कि उस शिलाके अन्दर वह आकार निष्प्रकम्प स्वभाव वाला ही है। वैसे ही केवलियोंके जाननेके आकारमें पूरा का पूरा ही तो द्रव्य प्रतिभासमान हो रहा है वह पर्याय इस समयमें भी ज्ञानमें ग्रहणमें आरही है तो ज्ञेयाकार तो वर्तमान ही होगा। कलकी चीज तो कल होगी किन्तु ज्ञानमें तो वह वर्तमान ही होगी। यादके काल में तो १० साल पहलेकी भी घटना वर्तमान ही होगी। दो साल पहलेका दुख भी आज विचारने लग जाएं तो आज भी कुछ दुख होजायगा। जिस समयमें विचार रहे उस समयमें भूतकी भी और भविष्यकी भी चीज वर्तमान ही होरही है। इस तरह अतीतकी पर्याय और भविष्यकी पर्याय ज्ञानीके आकारमें आरही है तो वे तो उस कालमें वर्तमान ही होरही हैं। वर्तमान ज्ञेयाकार होनेकी वजहसे वह सबको जान गया। ज्ञानमें जब ऐसी निर्मलता आजाती है तो ज्ञान में यह सीमा नहीं होती कि इतना सीमाको और इतने काल को जाना वह तो अनन्त सीमा और अनन्त काल को जानता। सीमा होगी तो उसके अतिरिक्त, पदार्थका ज्ञानावरण आगया। ऐसे स्वच्छ ज्ञान में यह सीमा नहीं लग सकती जिससे कहाजाय कि इतने कालकी पर्याय जानता है। और इतनी सीमाकी जानता है।

उसके लिये तो सभी पदार्थ वर्तमान हो रहे हैं। अतीत और भविष्यकी पर्याएं वर्तमान होरही हैं। इसीप्रकार वह केवली भगवान का ज्ञान है। जिस समय छद्मस्थ—अपने ज्ञानमें अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञान स्वभावकी ही जिनकी दृष्टि रहती थी ऐसा वह छद्मस्त अपने ज्ञानको केन्द्रित करनेके कारण, अपने आपको संयमित कर देने के कारण, उनकी ऐसी निर्मल पर्याय हैं, ज्ञान ऐसा निर्मल बन जाता है कि आवरणके क्षय होते ही तीनों कालके सारे पदार्थ वर्तमान की तरह प्रतिबिम्बित होजाते हैं। यह केवलज्ञानकी स्वच्छताकी महिमा

हैं। वे भगवान परपदार्थको नहीं करते। आत्माका प्रदेश तो यह ही है और सारे पर्याय एक साथ ज्ञेयाकार बन रहे तो यहाँ क्रम कैसे चले यह इस प्रकरणमें बतला रहे हैं। सबके सब पर्याय एक साथ ग्रहण हो रहे हैं उनका क्रम नहीं हो सकता। वहाँ तो केवलो जाननं जाननं ही होरहा है। उनके क्रमका विकल्प नहीं है। परन्तु पर्यायोंमें स्वयंमें क्रमहै। केवलीके जाननेमें क्रम आना या विकल्पका आना एक ही अर्थ रखताहै सिनेमाकी तरह क्रमसे केवलीके ज्ञानमें सब चित्र आवे तो यहां विकल्प हो जाता है। केवली भगवान का महात्म्य है कि सबके सब सब एक साथ झलक रहे हैं, सबकी सब पर्याएं एक साथ उनमें झलक रहीं हैं, वहाँ विकल्प नहीं। छद्मस्थके ही क्रममें विकल्प आता है। केवलज्ञान की महिमा गा रहे हैं।

जिन साधुओंने अपने आपमें विराजमान अनादि अनन्त ध्रुव ज्ञान स्वभाव का आदर किया, उसपर ही जिनकी दृष्टि रहती है, इस प्रकार परके स्वरूपका त्याग करके निजके स्वरूप को ग्रहण करके अपने आपके स्वरूपमें जो निश्चल होकर रहे, ऐसे उन साधुओंके जो निर्मल ज्ञान पर्याय प्रगट होती वह निर्मल ज्ञप्ति प्रगट होती, वह निर्मल ज्ञान पर्याय कैसी है ? इसके आवरणमें क्षय होता है और तीनों लोक और तीनों कालोंकी पर्यायें वर्तमान होजाती हैं। ज्ञानमें जो पर्यायें आईं तो उस कालमें तो वह ज्ञेयाकारके बराबर ही है। यादमें आई हुई घटनायें; ज्ञानमें आए हुए विचार, सब वर्तमानकी तरह ही तो हो रही हैं वे विचार अथवा घटना वर्तमान की तरह यदि नहीं हैं तो दुख भरी घटनाओंके याद आते ही दुःख नहीं हो सकता। जिन जिन जीवों को जब जब दुःख होता वह वर्तमान पर्यायके अनुभवसे होता। द्रव्यमें जो आकार होनेको हैं वही ज्ञानमें झलकना। द्रव्यमें जो पर्याय थी और जो है अथवा जो होवेगी वही ज्ञानमें जानी गई। होनेके कारण जाना गया परन्तु जानने के कारण वह हुआ नहीं। जैसा पदार्थ हो रहा है उसका आकार वह जानेगा। वह ज्ञान जैसा स्वच्छ है कि

जैसा हुआ है या हो रहा है या होवेगा वह उस ज्ञानमें आता है। जो कुछ होना है सो केवलीके ज्ञानमें है। ज्ञानके कारण कुछ होता नहीं है, परन्तु होनेके कारण ज्ञान होता है। जो कुछ हुआ है या होवेगा, जो था वह ज्ञानमें आता। परन्तु मैं तो ऐसा ही जानूंगा, तो ऐसी हठसे तो वैसा हो नहीं सकता। यहां तो जो होवेगा सो ज्ञानमें जाना। हमने जो किया वह ज्ञानमें जाना। जो कररहे हैं वह ज्ञानमेंजाना और जो करेंगे वह ज्ञानमेंजाना।भगवानका काम भी ज्ञाता दृष्टाका,साक्षीका है। उनका काम तोकेवल जानना ही है। यदि उनके ज्ञानमें ज्ञानके कारण यहाँ सब पर्यायें हुवें तो वे सृष्टिके कर्ताके विकल्पी हुगए और केवलज्ञानमें फर्क आगया। जैसे हम कभी किसी आत्माके विषयमें ऐसा विचार करें कि इसके सींग होगा और पूंछ होगी तो ऐसा हो ही जाय यह तो नामुमकिन वातहै। यदि हमारे जाननेके कारण ऐसा होवे तो बड़ी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। पदार्थमें पर्याय होती है वह ही केवली जानेगें। जो होवेगी सो ही जानेगा। केवली तो जाननेकी व्यवस्थाके मात्र ज्ञाता है। जैसे ज्योतिपीने जान लिया कि ६ बजे सूर्य उगेगा, तो ज्योतिपीके जानलेनेके कारण सूर्य ६ बजे थोड़े ही उगा. परन्तु सूर्य ६ बजे उगने से ज्योतिपीने जाना कि ऐसा होवेगा। ज्योतिपीने बताया कि फलाँ दिन चन्द्रग्रहण होगा। तो चन्द्रग्रहण ज्योतिपीके बतानेके कारण थोड़े ही होगा, चन्द्रग्रहण तो होना ही है, ज्योतिपी तो उसको जानता है और उसने मात्र बताया ही है। उसके ज्ञानमें ऐसा आया कि उस दिन चन्द्रग्रहण होवेगा ऐसा निश्चय है। तो इस प्रकार वह तो ज्ञाता दृष्टा मात्र ही रहा। वह जगतके पदार्थोंका कर्ता नहीं रहा।

इस प्रकार अब तक जो हुआ नहीं और अब होगा वह जो, हो चुका वह सब केवलीके ज्ञानमें वर्तमानकी तरह ही प्रगट हो गया, असद्भूत किन्तु अपने अपने कालमें सद्भूत जो पर्यायें हैं वे भी केवलीके ज्ञानमें झलकीं। अब यहां निश्चय और व्यवहारको भी लगाओ। निश्चयसे ज्ञानी अपनी पर्यायोंको जान रहा है और व्यवहार

से सारे विश्वको जान रहा है। ज्ञान गुण तो आत्माके प्रदेशमें ही है, आत्माके बाहर नहीं है। तो ज्ञानकी क्रिया जो भी होगी वह आत्माके प्रदेश ही में तो होगी। आत्माके ज्ञान गुणकी क्रिया आत्म प्रदेश ही में तो रहेगी बाहर नहीं रहेगी। ज्ञानकी जानने की क्रिया आत्माके अन्दर ही रहेगी बाहर नहीं हो सकती इसलिए निश्चयसे तो यह वर्णन है कि केवली अपनी ही पर्यायों को जान रहा है, परन्तु व्यवहारसे यह वर्णन है कि वह सारे विश्व को जान रहा है।

अथ आचार्य श्री कुंदकुंद महाराज — असद्भूत पर्यायों को अर्थात् जो हो चुकी हैं अथवा जो आगे होगीं, इस समय सत् नहीं हैं उन पर्यायोंको कथंचित सद्भूतपना धारण करते हैं— यहाँ विदधाति क्रिया देकर श्री अमृतचन्द्रजी सूरि बड़े रहस्य को स्पष्ट कर रहे हैं— भगवान् केवली के ज्ञानमें असद्भूत पर्यायें ज्ञेय होनेके कारण सद्भूतहैं और इस विषयको कुंदकुंद महाराज बताते हैं,तो बतावेंगे तभी ना! जब अपने ज्ञानमें उसे धारण करलें यहां कुन्दकुंददेव ने इस प्रकार इस तथ्यको जानलिया कि सूरिजी विदधाति शब्दसे वर्णन कर रहे हैं-

जेणेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।

ते होंति असब्भूया-पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

जो पर्यायें अबतक भी संभूतिका अनुभव नहीं करते हैं अर्थात् जो पर्यायें अब तक हुई नहीं है। यहां जो पर्यायें ऐसा कर्तृपद देनेसे इतना तो सुनिश्चित है कि जिनके बारेमें कहा जारहा है वे अवश्य सत्तावाली हैं, परन्तु वर्तमानमें सत्तारूपसे नहीं है ऐसी भविष्यकाल सम्बन्धी पर्यायें हैं। तथा ऐसी पर्यायें जो आत्मलाभ का अनुभव करके विलयको प्राप्त हुई हैं ऐसी भूतकाल सम्बन्धी पर्यायें हैं। ये पर्यायें अपने स्वरूप का लाभ करके अर्थात् पर्यायोंकी वर्तना प्राप्त करके विलयको प्राप्त हुई हैं। इन पर्यायोंने द्रव्यमें से ही आत्मलाभ किया था और द्रव्यमें ही विलयको प्राप्त हुई हैं। वे द्रव्य की एक समयकी अवस्था

थीं द्वितीय समयमें द्वितीय अवस्था होनेके कालमें विलयको प्राप्त हुई यह विलय बड़ा विलक्षण है। द्रव्यसे बाहर कहीं जाकर नष्ट नहीं हुई और न द्रव्य में गुप्तरूपसे उपस्थित है फिर भी द्रव्यमें विलीन हो गई है। द्रव्य की समस्त पर्यायें उद्भव, विलय या भाव्यरूपसे द्रव्यमें हैं। द्रव्य त्रैकालिक है वह अवस्थासे दूर होकर रह ही नहीं सकता। यही कारण है कि हम किसी भी पर्याय को मुख्य करके द्रव्यको नहीं विचार सकते। द्रव्य या तो सर्वपर्याय रूप एक चिन्तना में आवे या किसी भी पर्याय रूप नहीं किन्तु मात्र स्वभाव रूपसे चिन्तनामें आवे तब ज्ञेय होता है।

ये सभी भूतकाल या भविष्यकाल सम्बन्धी पर्यायें यद्यपि वर्तमानमें असद्भूत हैं, असत् हैं तथापि सर्वज्ञ भगवान अथवा सीमित पर्यायके लिये अवधिज्ञानी आदिके ज्ञानके प्रति नियत हैं अतः वे सब पर्यायें ज्ञानकी प्रत्यक्षताको अनुभव करते हैं। ज्ञानमें तो सदा ही वर्तमान है इस कारण से सद्भूत ही हैं यहां ज्ञान की ओर से देखो वे सभी की सभी पर्यायें वर्तमान पर्याय ही की तरह ज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं वर्तमान हैं।

यहां प्रत्यक्षज्ञानियोंके ज्ञानमें, जिस कालक्रमसे वे सब पर्याय होना है उस क्रमसे सद्भूत पर्याय ज्ञेयमें हो रही है परन्तु भूत भविष्य वर्तमान या केवली भगवानके विकल्प नही हैं और वे सब पर्याय एक काल में ज्ञेय हैं, तब छद्मस्थको भी शायद केवलीके विषय का पता लगजाय तो वहभी क्या निर्णय करे कि इन पर्यायोंमें यह पर्याय वर्तमान है और यह पर्याय भूतकाल की तथा यह भविष्य कालकी है। एवं केवली भगवान तो निर्विकल्प हैं उन्हे निर्णय जैसे विकल्पकी पड़ी ही क्याहै? भैया देखो क्रम भी झलककर उन पर्यायों का वहां यह निर्णय कठिन है भूतकालकी कौन और भविष्य अथवा वर्तमान कालकी कौन पर्याय है?प्रभुकी यह यह तो विलक्षण लीलाहै इसका अनुभव वे ही कर सकते हैं। धन्य है,हे केवलज्ञान! तुम उत्कृष्ट निर्मल ज्ञान

वृत्ति हो किसी भी प्रकार की मलीमसताको तुममें स्थान नहीं है। अहा? इस केवल ज्ञानमें सभी पर्यायें सद्‌भूत होरही हैं। जैसे एक पाषाण की शिलामें भूतकालके देवों और भविष्यकालके देवोंकी तथा वर्तमानमें विहरमान देवकी प्रतिमायें उकेर दी जावे तो उस शिलामें भूतकालके वर्तमान कालके व भविष्यकालके सभी वे देव एक कालमें वहां या जाननेवालेके ज्ञानमें सद्भूत ही हैं। उसी प्रकार समस्त पर्यायें भगवानके ज्ञानमें उत्कीर्ण हैं सो वे सब पर्यायें भूत की हों, वर्तमान व भविष्यको सभी सद्भूत हैं।

यहां नयविभाग करके ऐसा विशेष ज्ञात करना चाहिये कि ज्ञान में सर्व पर्यायोंका ग्रहण है सो ज्ञानमें ज्ञेयाकार की अपेक्षा सद्‌भूत, निश्चयनय है. परन्तु ज्ञानमें वे सब भासते हैं अतः वे सर्व पर्यायें ..द्भूत हैं यह व्यवहारनय से है। जैसे कि भगवान उत्कृष्ट आनन्द ही है एक स्वरूप जिसका ऐसे अपने स्वभाववर्तन को - मोक्षपर्याय को तन्मयतासे अनुभव हैं जानते हैं।इसीप्रकार सर्व पर्यायोंके अनुरूप ज्ञानमें जो ग्रहण है उस निज ज्ञेयाकार रूप ज्ञानवृत्तिको तन्मयतासे उस काल करके परम्परया अनंतकाल तक तन्मयतासे अनुभवते हैं, जानते हैं। हम सब भी तो इसी प्रकार यथासंभव जितने पदार्थों के अनुरूप हमारे ज्ञानमें जो ग्रहण है उस निज ज्ञेयाकाररूप ज्ञानवृत्तिको उस कालमें तन्मयता से अनुभवते हैं जानते हैं। परंतु इस ज्ञेयाकार में जो विषय पड़ा है ऐसे समस्त परद्रव्य पर्यायोंको भगवान जानते हैं यह व्यवहार नयसे कथित है। हमारे ज्ञानके लिये भी जो परद्रव्य पर्यायोंका जानना कहा जाता है यह भी व्यवहारनयसे कथित है।

भगवानका जैसा परिस्पष्ट ज्ञानस्वरूप है जिसमें कि सर्वद्रव्य पर्यायें सहज ज्ञेय होते हैं उसकी भावना करनेवाले हम सब को उस शुद्ध स्वरूपकी भावना की गई। अपनी परिणतिके द्वारा जैसा कि विकल्प रहित शुद्ध ज्ञानदेव है उस तरहसे जाननेवाले निजसंवेदन

पर्यायको तन्मयता से अनुभवते हैं जानते हैं यह तो निश्चयनयसे है और सिद्ध भगवानको या केवलज्ञानको हम जान रहे हैं यह सब व्यवहारनयसे कथित है।

यहां ज्ञानकी असीम महिमा बताई है। ज्ञान का कार्य जानना है. सो जो कुछ भी था. है, होगा उस सबको जाननेमें आवारक कोई पदार्थ नहीं अतः सर्वको यह केवलज्ञान जानता है अतः जो पर्यायें बीत चुकी हैं अथवा जो पर्यायें होने वाली है वे भी सब केवलज्ञानमें प्रत्यक्षविषयताको अनुभवते हैं सो सब सद्भूत हैं।

अब आगे इसी सम्बन्धमें और भी पुष्टि करते हैं — कि असद्भूत पर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष ही हैं—

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वंति हि के परूविंति ॥२९॥

यदि अजात कहिये भविष्यकी पर्याय तथा प्रलयित कहिये अतीतकाल की पर्यायें समस्त ज्ञानके प्रत्यक्ष नहीं होवे तो फिर वह दिव्य ज्ञान कैसे कहला सकता-- उसे दिव्यज्ञान कौन कह सकता। दिव्य ज्ञान की कथा छोड़ो वास्तवमें तो वह ज्ञान ही नहीं रहता। ज्ञान का स्वभाव जानना है। हमारा वर्तमान ज्ञान भी अपने स्वभाव का काम कर रहा है परन्तु निमित नैमितक सम्बंधवश ज्ञानावरणका निमित्त पाकर सम्पूर्ण विकास में नहीं हैं। फिर भी अतीत अनागतकी बात समझनेको उद्यत हो ही रहा है। यह तो ज्ञानावरणका निमित्त पाकर संवृत हुए ज्ञानकी कथा है किन्तु जहाँ ज्ञानावरण लेश भी नहीं रहा वहाँ ज्ञानके कार्यमें मर्यादा बनानेका हेतु ही क्या ? अतः वह ज्ञान असीम जानता ही है। यदि वह ज्ञान समस्तको न जाने तो थोड़ेको जानना तो सर्वथा असिद्ध है ही। समस्तको जानना स्वीकार नहीं है तब वह ज्ञान जाननपनसे रहित होनेके कारण ज्ञान ही नहीं रहा। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि

ज्ञान निश्चयसे सहज आनंद है एक स्वभाव जिसका ऐसे निज शुद्ध आत्मामें तन्मयतासे जानन करता है तथापि यह निश्चयकी दृष्टिमे तो सत्य है फिर भी परिणमन तो वहाँ समस्त विश्वग्रहणरूप है अतः व्यवहारनयका विषय खंडित नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार से तो हम सभी मात्र स्वमें ही तन्मयतासे परिच्छेदन करते हैं किन्तु जो परिच्छेदन है वह जिनर वस्तुओंके परिच्छेदनरूप हैं उन द्रव्योंके तथा उनके गुण और पर्यायोंके परिज्ञानसे बाहर नहीं किया जा सकता है। निर्दोष आत्माके विज्ञानमें समस्त तत्त्व जो पर्यायमें सत्‌है पर्याय है अथवा होगा वे सभी द्रव्यगुण पर्याय क्रमरहित एक साथ इन्द्रियों विना साक्षात प्रत्यक्ष होते हैं। भविष्यकी पर्यायोंको असंभावित पर्याय कहते हैं, जिनका होना अभी तक नहीं हुआ वे असंभावित पर्याय हैं। होना तो अपने कालमें निश्चित है परन्तु अभी संभावित नहीं हुए इसी तरह अतीत पर्यायोंको संभावित भाव कहते हैं जिनका होना अच्छी तरह यथास्थितिसे हुवाया गया है। पर्याय परिणमन उसी द्रव्य की वर्तमान तरंग अवस्था है, वह अपने उपादानसे ही उत्थित होती है। वह द्रव्यमें उस काल तन्मय होती है तथापि उसकाल भी द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती अर्थात् उस कालमें भी वह स्वभाव नहीं हो जाता है। पर्याय द्रव्यका क्षणिक प्रभाव है। वह प्रभाव यदि स्वभावके अनुकूल है तो वह केवल साधारण काल निमित्तको पाकर-जो कि स्वतः सदा अनिवार्य होता ही है-होताहै। इस स्वभाव प्रभावमें पर उपाधि नहीं होती। किन्तु यदि प्रभाव स्वभावके विपक्षहै तब साधारणकाल निमित्त के अतिरिक्त अन्य उपाधिके सन्निधानको निमित्त पाकर अपने उपादानसे ही उठकर वर्तमान होना है। ऐसी समस्त पर्यायें वस्तुतया अपने कालमें वर्तमान समयमात्र क्षणिक हैं परन्तु विभाव अन्यसमयनिरपेक्ष न होनेसे किसी जातिका विभाव साधारणतया आवली, अन्तमुहूर्तप्रमाण होता है। सर्वद्रव्यों की समस्त पर्यायें सर्वज्ञके ज्ञानमें युगपत् प्रत्यक्ष प्रतिभासित हैं क्योंकि कोई प्रतिबन्धक निमित्तरूप ज्ञानावरण कर्म न

रहनेसे ज्ञानका प्रताप निर्विघ्न बढ़ ही जाता है वह प्रताप किसी प्रकार खंडित नहीं होता। यह ज्ञान ऐसे एकदम वेगसे सर्व विश्वको जानता है जैसे मानों ज्ञानने अनिवार्यतया सर्व तत्त्वोंपर आक्रमण कर दिया हो अथवा सर्वज्ञेय अपना स्वरूप सर्वस्व ऐसे वेगसे सर्वज्ञके ज्ञान को समर्पित कर देते हैं मानों सर्वज्ञेयों का सब ज्ञानमें एक साथ हमला हो गया हो। यदि ऐसा न हो तो ज्ञानकी महिमा ही क्या? अथवा वह ज्ञान ही नहीं रहेगा। अतः आवरणके होते ही स्वयं ज्ञानशक्तिसे प्रगट होनेवाले केवलज्ञानके सब द्रव्य गुण पर्यायों का जान लेना निश्चित सिद्ध है।

अतीत और अनुत्पन्नको जाननेकी सामर्थ्य न होना तो तो इन्द्रियज्ञान में ही घटित होता है इस अभिप्राय को लेकर अब श्रीमत्कुंदकुंददेव इन्द्रियज्ञानीके सम्बन्धमें वितर्कण करते हैं –

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कंति पण्णत्तं ॥४०॥

इन्द्रियोंके सन्निधानमें प्राप्त हुए पदार्थको विचार-विमर्षपूर्वक ईहादिज्ञानपूर्वक जो जीव जानते हैं उन जीवोंको परोक्ष वस्तु जानना अशक्य ही है ऐसा वीतराग ऋषिराजने कहा है। छद्मस्थोंका ज्ञान ईहादिक्रमसे होता है वह अनेक पदार्थोंको स्पष्ट कैसे जान सकता है? तथा छद्मस्थोंको ज्ञान इन्द्रिय और विषयोंके सन्निकर्षको पाकर उत्पन्न होते है अतः सबके साथ ग्राह्य ग्राहक सम्बन्ध असंभव है। पुनः वह इन्द्रियजज्ञान सबको कैसे जान सकता है? यहां इन्द्रियां और पदार्थों के सन्निकर्षसे तात्पर्य इतना ही समझना कि जितने दूर समीप योग्य क्षेत्रमें अवस्थित पदार्थको इन्द्रियोंके निमित्त द्वारसे आत्मा जानता है उतने मुकाबलेमें इन्द्रिय व विषयोंका उपस्थित होना सन्निकर्ष है। इस प्रकार के सन्निकर्षको पाकर जाननेवाला ज्ञान व विस्तृत क्षेत्रको जान सकता है भूत भविष्यत्को जान सकता है। और न सूक्ष्म पदार्थों

को जान सकता हैं। किन्तु ये हैं सब ज्ञेय। तब किसी न किसी के द्वारा ज्ञात होना ही चाहिये सो वह अतीन्द्रिय ज्ञान का ही कार्य है। अतीन्द्रिय अनैमित्तिक उत्पत्तिके स्वभाववाला होनेसे एक साथ ही सर्व कालवर्ती सूक्ष्म, स्थूल, मूर्त अमूर्त, सर्व पदार्थोंको जानता है। अतः सर्वज्ञ आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान से ही सर्वज्ञ होता है इन्द्रियज्ञान से नहीं। क्योंकि इन्द्रियका सन्निपात किसी स्थूल पदार्थके एकदेश पर ही हो सकता है। अमूर्त पदार्थोंमें तो असंभव ही है सूक्ष्म पदार्थमें भी असंभव है। जिन पर्यायोंने अपना कोई विशिष्ट अस्तित्वकाल ढा दिया है उन्हें तो जानेगा कैसे तथा जिनका अस्तित्वकाल अभी उपस्थित नहीं हुआ ऐसी पर्यायों को जाने कैसे! एक पदार्थ में पर्यायोंकी अपेक्षा भिन्न २ अस्तित्व है अतीन्द्रियज्ञानकेलिये पदार्थका अस्तित्व मात्र ही बात है। विशिष्ट अस्तित्व चाहे बीत चुका हो तो क्या! व उपस्थित न हुआ तो क्या है! किसी कालावच्छेदेन अस्तित्व हो उस सबको विशुद्धज्ञाता जानता है। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञता अतीन्द्रिय ज्ञानमें ही होती है, इन्द्रिय ज्ञानमें उसकी संभवता नहीं हैं। अतीन्द्रियज्ञानमें क्या २ ज्ञेय हैं इस विषयमें जो २ भी उत्तर दिये जावें वे सब संभव हैं। अब इस गाथामें उक्त भावका विवरण करते हैं —

> अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
> पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥४१॥

जो ज्ञान एक प्रदेशीको मूर्त पदार्थको, भविष्यत्पर्यायोंको, अतीतपर्यायोंको, सबको जानता है वह ज्ञान अतीन्द्रिय कहा गया है।

इन्द्रियज्ञान अनेक वहिरंग व अंतरंग कारणपूर्वक जानता है अतः वह सबको जाननेमें असमर्थ है। इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्तिके बाह्य कारण ये हैं-उपदेश, मन; इन्द्रिय आदि, और अंतरंग कारण ये

है- लब्धि, उपयोग, संस्कार आदि । यद्यपि इन्द्रियज्ञानमें ज्ञानकी ही सामर्थ्य है अन्य किसी भी परद्रव्यकी सामर्थ्य नहीं है तथापि जहां ज्ञान अपना असर इन्द्रिय मनके व्यापारको निमित्त पाकर प्रकट करता है वह ज्ञान इन्द्रियज्ञान है । इसमें यद्यपि अपने कार्य के लिये स्वतन्त्रता है यद्यपि विशिष्ट क्षयोपशम वाला यह ज्ञान अन्यको निमित्तमात्र पाकर अपनी स्वतन्त्रतासे परिणम रहा है तथापि यह बहुप्रदेशीको ही एकदेश जान सकता है एक प्रदेशीको नहीं। यहां अप्रदेशसे तात्पर्य एकप्रदेशी द्रव्यसे है जैसे अणु व काल द्रव्य। इन्द्रियज्ञान स्थूल पदार्थका ही उपलंभक है जानने वाला है, वह सूक्ष्मद्रव्यके जाननेकी व्यक्तिवाला नहीं है । इन्द्रियज्ञान का विषय मूर्तपदार्थ ही है अतः वह मूर्तपुद्गलद्रव्यको ही जानता है अमूर्तपदार्थ को नहीं जान सकता । इन्द्रियज्ञान विषय विषयी के सन्निपात पूर्वक उत्पन्न होता है और यह सम्बन्ध वर्तमानमें ही हो सकता है क्योंकि जो पर्याय प्रलीन हो चुकी अथवा जो अबतक आई नहीं उनके साथ इन्द्रियोंका सन्निधान है ही नहीं । इसका कारण स्पष्ट है कि भूत भविष्यत पर्यायें वर्तमानमें असत् हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियज्ञान बहुप्रदेशी मूर्तिक पुद्गलद्रव्यकी वर्तमानपर्यायको एकदेश जान सकता है परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान सर्वको जानता है। अतः सर्वज्ञता अतीन्द्रिय ज्ञानसे ही है अतीन्द्रियज्ञानकी दशा पूर्ण निराकुल रहनेकी अवस्था है । पूर्ण निराकुलता ही हमारा ध्येय है इसकी अवस्थाको पहिचानना हमें आवश्यक है जिसे प्रथम ध्येय बनाकर स्वभावमें विलीन कर स्वभावप्रति भास रूप पुरुपार्थसे पाना है । निराकुल प्रतिभासका परिणमन एक ऐसा अपूर्व निमित्त है कि जिस निमित्तको पाकर ज्ञानावरणादि आत्मघाती कर्म स्वयं क्षीण होजाते है, तब आवरण रहित यह ज्ञान अतीन्द्रियज्ञान होता है और सर्व प्रकारके पदार्थोंको सर्वदेश स्पष्ट जानने लगता है। ज्ञानका स्वभाव जानना है। हमारा ज्ञान सावरण

है। अतः अंतरंग आवरण रागादि पर्याय व बहिरंग आवरण ज्ञानावरणादि को निमित्तमात्र करके अपनी अजघन्य वृत्तिसे परिणम रहा है। किन्तु अतीन्द्रियज्ञान निरावरण है। अतः उसकी सीमा होना असंभव है इस ही कारण जो कुछ भी ज्ञेय है वह सब अतीन्द्रियज्ञान द्वारा परिच्छेद्य है, चाहे वह एक प्रदेशी हो, बहुप्रदेशी हो, मूर्त हो अथवा अमूर्त हो, भूत हो अथवा भविष्यत् कुछ भी हो सभी अतीन्द्रिय ज्ञान में ज्ञेय है। समस्तपदार्थोंमें प्रमेयत्व गुण है अतः अवश्य सकल ज्ञान के प्रमेय होते हैं। जैसे ज्वलमान अग्निका दाह्य वह सब है जितने का आकार रूप अग्नि का परिणमन है और अग्नि का उतने आकार रूप परिणमन है जितना वह सब दाह्य है। इसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान का उतने आकाररूप परिणमन है जितना कि सर्व ज्ञेय है। इस प्रकरण से यह प्रयोजन लेना कि सर्वज्ञ अतीन्द्रियज्ञानसे ही होते हैं। सर्वज्ञता निराकुल दशाकी स्थायी अवस्था है। इससे विपरीत इन्द्रियजज्ञान और मानसिकज्ञान है अतः इस अशक्त ज्ञानकी दृष्टिको त्याग करके समस्त विकल्प रहित परम समाधिरूप स्वसंवेदन ज्ञानमें रमण करना चाहिये इससे ही वीतराग व सर्वज्ञकी अवस्था प्रकट होगी। जिस अवस्थामें निराकुलताके विनाशका कभी किञ्चित् भी संदेह नहीं है।

प्रश्न—जब यहां हम लोगोंका ज्ञान जिस ज्ञेयके आकाररूप परिणमता है उस ज्ञेयके अनुरूप साता असाता विकल्पकी क्रिया बन जाती है, तब ज्ञेय अर्थके अनुरूप परिणमनेकी बात सर्वज्ञके भी होगी और इसप्रकार हम थोडेसे ज्ञेयके ज्ञानसे इतने व्याकुल हो जाते हैं तब सर्वज्ञके जाननहारकी विह्वलता तो असीम हो जायगी ?

उत्तर—बन्धुओ ! ज्ञेय अर्थके अनुरूप साता असाता रूप परिणमन की क्रिया ज्ञानसे नहीं होती किन्तु निर्विकार स्वसंवेदन रूप ज्ञानानुभवके अभावमें किसीके चारित्रगुणके विकारसे होती है।

आगे इसी विषयके सम्बन्धको लेकर प्रकारान्तरसे आचार्य देव कहते हैं।

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणंत्ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥४२॥

यदि ज्ञाता ज्ञेय अर्थको परिणमे अर्थात् पदार्थके जानते हुए पदार्थ सम्बन्धी यह ऐसा है, इत्याद्याकारक विकल्प करे तो उसका वह ज्ञान क्षायिक ही नहीं है। ऐसे विकल्प तो क्षायोपशमिक ज्ञानमें ही होते हैं। विकल्प करते हुए ज्ञाता पुरुषको जिनेन्द्रदेवने कर्मका अनुभव न करनेवाला कहा है। परिच्छेत्ता पुरुष वही है जो परविषयकज्ञान करते हुए ज्ञेयसे पृथक् निज तत्त्वमें निजके अनुरूप ही परिणमे। यदि वह परिच्छेद्य अर्थके अनुरूप विकल्प से परिणमता है तो वह स्वाभाविक ज्ञानका लक्षण नहीं है अथवा वह ज्ञान ही नहीं है। जो संकल्प विकल्प हैं वह श्रद्धा व चारित्र गुण का विकार है। ज्ञानका कार्य मात्र जानन है। ज्ञानका जाननरूपसे ही प्रकट होना ज्ञानकी अवस्था है इसके साथ जो विकार भाव हैं वह सब मोहनीय आदि कर्मके विपाकको निमित्त पाकर अन्य गुणोंका विकार है। छद्मस्थ जीवोंमें जो यह जघन्य स्थिति पाई जाती हैं वह कर्मके निमित्तसे है। किन्तु जीव गुण घातक समस्त कर्मों का जिनके क्षय हो चुका है, उनके अब अत्यन्त स्वायत्त स्वाभाविक परिच्छेद है। पदार्थके विषयमें कुछ भी कल्पना करना ज्ञान की अस्वाभाविकता है। पदार्थ जैसा अवस्थित है उस रूप जाननमात्र ज्ञानकी स्वाभाविकता है। जो कोई जीव अर्थके अनुकूल परिणमता है अर्थात् विकल्प या इष्ट अनिष्ट भाव करता है वह कठिन निज कर्मके भारको तथा इस निमित्तको पाकर बँधे हुए कार्मणके भारको भोगता हुआ आकुल रहता है जैसे कि कोई मृग मृगमरीचिका में जलकी कल्पना कर दुःसह क्लेशको सहता है। सर्वज्ञ देवका ज्ञान अतीन्द्रिय है, क्षायिक है उसमें अस्वाभाविकता अथवा मलीमसता नहीं है। क्षायिकज्ञानीकी विकल्पपरता तो दूर रहो, छद्मस्थ अवस्थामें भी जो क्षायिकज्ञान प्रगट करने वाला है।

उस योगी के भी विकल्पपरता नहीं है। उसके बहिरंग ज्ञेय पदार्थका अवलम्बन भी नहीं है। इसी कारण रागादि विकल्प रहित उत्कृष्ट स्व संवेदन ज्ञान उसके होता है। जिसके फल स्वरूप अत्यन्त विशुद्ध लोकालोकप्रकाशक त्रिकालज्ञ केवल ज्ञान प्रकट होता है। इस प्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट सिद्ध है कि ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया ज्ञानसे नहीं होती। यदि ज्ञान पहिले अर्थ रूपसे परिणमे पश्चात् अर्थको जाना करे अथवा यह अमुक है यह अमुक है इस प्रकार विकल्पकी पूर्ति करे, पश्चात् जाने तब तो पदार्थ अनन्तानन्त है विकल्पोंकी पूर्तिको ही अधिक समय चाहिये फिर सकलज्ञता कैसे हो सकती है। तथा निरावरण ज्ञान सकलज्ञ न हो सके तो वह ज्ञान ही नहीं है। भगवंत अर्हंत सिद्ध प्रभुके केवलज्ञानमें कोई कमी नहीं है। जो ज्ञान की वृत्ति है वह पूर्ण है और जो विकाररूप वृत्ति है वह किञ्चित् भी नहीं है। केवलीके ज्ञानका विलास अद्भुत है इसमें तीनलोक व अलोक तथा भूत वर्तमान भविष्यत सर्वकाल विकल्पकी रुकावट विना स्पष्ट प्रतिभासित होता रहता है। ज्ञानका ही काम ज्ञान करता है, विकारका काम नहीं। एक शक्ति दूसरी शक्तिका काम नहीं करती और न कोई शक्ति परिणमें विना रहती है। केवली भगवानकी ज्ञानशक्ति दर्शनशक्ति चारित्रशक्ति स्वभावरूप परिणमरही हैं। परमात्माके ज्ञेयार्थ परिणमनक्रिया के हेतु रति अरति भाव नहीं है अतः पूर्ण निराकुल परिणमनके साथ अपने ज्ञाता स्वभावरूप परिणम रहे हैं।

प्रश्न— यदि ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया अर्थात् रागद्वेषमयी वृत्ति ज्ञानसे प्रकट नहीं होती है तब यह क्रिया व इसका फल रूप आकुलता कैसे प्रकट होती है?

उत्तर— इसके उत्तरस्वरूप श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विवेचन करते हैं—

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।

तेसुहिं मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुहवदि ॥४३॥

जीवके कषायभावको निमित्त पाकर बंधे हुए कर्म अपनी अवधि समाप्ति होते ही स्वभावसे उदयको प्राप्त होते हैं उनके निमित्त से शुभ अशुभ कर्म फल व्यक्त होता है। यदि आत्मा उनमें रागद्वेष न करे तो उस कर्म फलके कालमें भी बंध नहीं होता, परन्तु उन कर्म फलोंमें जो मोहित हो, रागी हो, द्वेषी हो, वह बन्धको अनुभवता है। संसारी जीवके तो पुद्गल कर्म उदयागत हैं ही। यह उदय पुद्गल कर्मके परिणमनसे है इसको निमित्त पाकर जीव सुखी और दुःखी होता है अथवा वाह्यविभव व विपदाओंका समागम होता है। यहाँ ज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे अंतरमें ज्ञानमय परिणमता है वह होरहे कर्मफलमें एकत्व नहीं करता किन्तु कर्म फलोंमें ही "मैं कर्म करता हूं, मैं कर्मफल भोगता हूं" इस प्रकार अनुभव करनेवाला मोह राग द्वेषसे परिणत होता है अत एव ज्ञेयार्थपरिणमन रूप क्रियासे बंध होता है। पदार्थोंको जानकर इंष्ट अनिष्ट भाव करना ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया है। इसके फलस्वरूप बन्ध हो जाता है। इस प्रकार यही निश्चित सिद्ध हुआ कि क्रिया व क्रियाका फल ज्ञान से नहीं होता है किन्तु मोहके उदयसे होता कर्मके उदयसे नैमित्तक भाव जो होता है वह इतना ही सात असात आदि रूप है वह भी आत्मचारित्र गुण का विकार है उसमें एकत्व करना मोह का कार्य है, ज्ञानीके भ्रमका विनाश होनेसे मोहकी योग्यता है ही नहीं। अतः कर्मका उदय बंध का कारण नहीं और न ज्ञेयका जानना रागद्वेषका कारण है निर्विकार शुद्ध आत्मस्वरूपकी भावनासे [illegible] यह जीव अपनी अवस्थामें मोहरूप निशेप करता है तब मोहमूलक रागद्वेप होने से कर्म प्रकृतिके बंधस्थितिका बंधन अनुभागका सम्बन्ध लेते हुए प्रदेश बँध कर आत्माके एक चेत्रावगाहमें स्थित हो जाते हैं। इसमें मोह रागद्वेष अंतरंग निमित्त कारण है इसके विपाकसे हुए

कर्म बन्धनके उदयको निमित्त पाकर फिर विकल्पको अनुभवता और यह परंपरा तब तक चलती है जब तक विभाव से एकत्व नहीं तोड़ा जाता। मलीन अवस्थामें भी आत्मास्वभावसे है परभावसे नहीं। जिस भावसे मैं नहीं उसकी एकताका विकल्प मिथ्या है अहित है। भगवान केवलीके ज्ञान अत्यन्त स्वच्छ अतीन्द्रिय है उनके ज्ञानमें त्रिलोक त्रिकाल असमान होनेपर भी ज्ञेयार्थ परिणति इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं होती है यही सुखका मूल है। ज्ञान ज्ञान बना रहना सुख है। कर्मका उदय होनेपर भी ज्ञान बंधका कारण नहीं होता किंतु बंधके कारण तो रागादि अध्यवसान भाव ही है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे ज्ञेयार्थपरिणतिरूप क्रिया नहीं होती है और इस कारण ज्ञानसे बंध नहीं होता है बंधकृत उदयमें जुड़ने वाला जीव है।

अब श्रीमत्केवली प्रभुकी विहारादि क्रिया भी क्रियाके फलको अर्थात् बंधनको नहीं करती है ऐसा अनुशासन करते हैं - कहते हैं। भगवान के निर्बंध स्वभावको तबतक नहीं जाना जा सकता जब तक कि निर्बंध के अनुरूप यथायोग्य अपना उपयोग नहीं बनता, तब इसप्रकार अपने को बनाना अनुशासन ही तो है। प्रभुका शासन कभी न बदलता और न कभी मलिन होता है। यहां आचार्यदेव सर्वज्ञदेवकी निश्चित सहज सुव्यवस्था को कहते हैं।

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इत्थीणं ॥४४॥

चारित्रमोहके बिना विचार नहीं होता। अर्हन्तके विचार भी नहीं, क्योंकि चारित्र मोह नहीं होता। अन्तरंगपरिणतिसे वे तो सिद्धकी तरह हैं। भगवानकी जो क्रियां होती वह तो योग निमित्तसे होती। योगको यह आवश्यकता नहीं कि वह विचार होय तो होय।

योगके प्रवर्तन करनेके वास्ते उपयोगके सहयोगकी आवश्यकता नहीं दिव्यध्वनिको भव्य जीवोंका भाग्य और उनका वचन योग सहयोगी हैं। दुनियामें कोई काम पुण्य पापके बिना नहीं होता। यह निमित्त की दृष्टिसे वर्णन हैं, उपादानकी दृष्टिसे नहीं। निश्चयसे तो निज की परिणतिसे ही उसकी परिणति है।

यहां मेघका दृष्टांत दिया गया है। जैसे मेघ गरजता है, परन्तु वह विचार कर नहीं गरजता। या मेघ चलता है तो वह विचार कर नहीं चलता इसी तरहसे यहां तं दृष्टांत विहार और वचनपर दिया गया। जैसे मेघका विहार और वचन विना विचारके होता है, इसी प्रकार अर्हन्तका वचन और विहार विना विचारके होता है। अर्हन्त में विचार नहीं है। उनका मन तो द्रव्य मन है।

जैसे मेघके आकारोंमें परिणत हुआ यह पुद्गल इसका गमन भी होरहा है, यह एक स्थानपर खड़ा भी है, यह गरजता भी है, अथवा पानी भी वरसता है। इसी प्रकार भगवानका विहार भी होता है, वे एक स्थानपर अवस्थित भी होते हैं, उनके वचनोंको गरजना समझना और मेघकी तरह जलकी वर्षा भगवानकी दिव्य ध्वनिकी वर्षा अमृतकी वर्षा समझना। तो जैसे मेघ अपनी कोई क्रिया विचार कर नहीं करता उसी प्रकार भगवानकी कोई भी क्रिया विचार कर नहीं होती। पुरुषके प्रयत्नके विना जैसे मेघमें यह देखी जाती है। उसीप्रकार केवलीमें भी ठहरने चलने आदि की क्रिया अबुद्धिपूर्वक ही देखी जाती हैं। इसी प्रकार ठहरने, चलने, विहार करने, धर्मोपदेश देने आदिकी क्रियाएं मोहके उदयसे नहीं होती और उनके ये क्रियां विशेष होती भी है, तो उन क्रियाओं से कर्मफल जो बंध है वह नहीं होता हैं। कभी कभी आपमें भी क्रियाएं होजाती हैं जिनका विचार नहीं होता। जैसे पैदल कहीं जाते हैं और बिना विचारे ही १० कदम आगे चले जाते हैं। तो यह

पैदल चलना बुद्धि पूर्वक तो नहीं होता है । इस चलनेके निमित्तसे बन्ध भी नहीं होता । जहां दिमाग लग रहा है कषाय हो रही है उसकी वजहसे बन्ध होरहा है । इसी प्रकार भगवानके भी कोई क्रिया विचारसे नहीं होती । वह तो भव्य जीवके भाग्यसे होती है। भव्य जीवोंके भाग्यसे वीतराग भगवानके जो क्रिया होती है वह क्रिया फलको पैदा नहीं करती यानी बन्धको पैदा नहीं करती। केवलीकी क्रिया विचार पूर्वक भी नहीं होती तो भी उनके श्री विहार आगया । विहार वगैरहकी क्रियाएं उनके होती ही रहती हैं। केवली का विहार भी श्री विहार आचार्यो द्वारा कहा केगया है। केवलीके श्री विहार इसप्रकार का शब्द कहनेमें श्रद्धा आती है । जैसे मेघ ठहरता है अथवा चलता है तो बिना प्रयत्नके या बिना विचारके ठहरता या चलता है, इसी प्रकार केवलीके मोहके अभावमें जो क्रियाएं होतीं हैं वे उनके बन्धको पैदा नहीं करतीं। केवली भगवान ऐसे वीतराग हैं कि भगवान केवली होरहे हैं तो आपकेलिये कुछ लौकिक सिद्धि करने वाले नहीं रहे । वे तो भगवान ही रहे। वे दूसरोंसे बातचीत मिलना जुलना भी नहीं करते। वे तो केवल भगवान हो गये । वे तो सबसे निराले, सबसे अलग; सबसे निर्मल भगवान होगये । भव्य जीवों के भाग्यकी वजहसे वे समवशरणमें बैठे होते हैं और उनकी क्रियाएं होती हैं। वहां उनका कोई सम्बन्धी बैठा होय तो उनसे कोई भी बोल नहीं सकता । वे तो सबके लिये निराले हो गये । भगवान होगये भव्य जीवोंका जो भाग्य है व निश्चयतः उनके आयुका उदय है इसलिये वे यहां हैं, परन्तु यहां रहकर भी वे केवल सिद्धकी तरह हैं। ज्ञानी भी शरीरसे अपने आपको उपयोग द्वारा न्यारा रखता, इसी प्रकार केवली तो परमोपेक्षासे अपने शरीरसे न्यारे हैं। शरीरकी क्रिया इस प्रकार क्रिया विशेष होनेपर भी बन्धको करने वाली नहीं होती। जिस जीवने वस्तुके स्वरूपको समझा और इसी

तरह से अपनेको भी वस्तुके एक सत रूप ही समझा, कदाचित बाह्य क्रियाएं भी ऐसे जीवको हो जाएं तो भी उसके इस क्रियाका बन्ध नहीं है।

हमारे लिये एक स्वतन्त्र निजज्ञानदृष्टि ही दुनियांमें करनेकी चीज है और इसके अतिरिक्त कुछ भी करने की चीज नहीं है। केवल इस दृष्टिके पानेपर ही मुनि श्रावक आदि सब धर्म सहकारी बन जाते। ज्ञान स्वभावकी दृष्टिके बिना सारा धर्म कर्म करना मात्र एक क्रिया ऊपरी चीज रह जाती है। जो मुनिराज तपस्या करते हुए दर्शनाचारसे यह कह रहे कि हे ८ अंगवाले दर्शनाचार, तब तक मैं तुमको पाल रहा हूं जब तक तुमारे प्रसादसे मैं तेरे विकल्पसे रहित शुद्ध अवस्थाको न पालूं। तुम्हारी पालन क्रिया से रहित शुद्ध तत्वमें नहीं हो जाऊं तब तक तुम मेरे पास बने रहो। ज्ञानाचारों को भी सत्तारूप नहीं रखता है। वह कहता कि मैं तुम्हारा तब तक पालन करता हूं जब तक तेरे प्रसादसे तेरेसे रहित शुद्ध अवस्थाको न पालूं। ऐसा विरक्त, न्यारा ज्ञानी, क्या पर्यायोंमें अपनी बुद्धि रखेगा, क्या अपने पास रहने वाले कमंडल पोछीमें अपनी बुद्धि रखेगा, क्या शास्त्रोंमें ही उसकी बुद्धि रहती होगी? उसकी बुद्धि तो केवल एक ज्ञान दृष्टिमें होती है, एक अलौकिक अवस्था, लोकोंसे विरुद्ध अवस्था उसकी होती है। विरुद्ध अवस्थासे मतलब जैसा यहांकी प्रजा करे उससे उल्टी बुद्धि, उल्टे भाव उनके हों। उनका मोह एन्ड कम्पनीसे स्तीफा हो-गया। अब वे उसके सदस्य नहीं रहे उससे अलग हो गये। जब दुनियां से ही वे अलग रह गये तो दुनियां के लोगोंसे उनका क्या सम्बन्ध रहा? वे तो केवल एक ज्ञानदृष्टिमें ही सदा रहते। उन्होंने तो संसारसे पार होनेकी चीज अपनेमें रखो।

ये ही उनके संस्कार हैं, उन संस्कारोंके फलसे यह बात पैदा होती कि केवली होनेपर सब क्रियायें बिना विचारोंके अपने आप हो गईं। उनको दिव्यध्वनि किसीकी प्रार्थनासे नहीं खिरती। इस प्रकार

राग द्वेष मोहसे वे अलग रहते। उनकी माँ भी सामने बैठी हो- तो वह माँ तो बेटा कहतीहो परन्तु बेटा नहीं रहा। जो माँ का बेटा होता हुआ भी माँका बेटा नहीं रहा। न प्रेम न राग, न आकर्षण कुछ भी तो उनमें नहीं रहा। भगवान तो केवल मूर्ति की तरह ही हैं। मूर्तिमें और समवशरणमें बैठे भगवानमें केवल इतना ही फर्क है कि मूर्तिमें तो दिव्यध्वनि नहीं रहती और वहां दिव्यध्वनि रहती है। जो कुछ चीज आप समवशरणमें देखेंगे वह यहाँ भी देखलें। यहाँ भी तो उन्हींकी मूर्ती है। वहाँ समवशरणमें भी तीर्थंकरकी आत्मा नहीं दीखेगी। आप ही वहाँ कल्पनासे देखोगे तो वहाँ यह देखोगे कि तीर्थंकरका ऐसा स्वरूप है। वहां भी स्थापनासे ही तीर्थंकरको देखोगे। तो यहां भी तो कल्पनासे और स्थापनासे तीर्थंकरका स्वरूप देख सकते हैं। फर्क इतना ही है कि वहां तो उनके रहते हुए स्थापना की और यहां न रहते हुए स्थापना की। स्थापनासे ही आपने अर्हन्तको समझा। यहां भी आप स्थापनासे ही अर्हन्तको समझे। जैसी शक्ल स्वरूप वहां देखोगे यहां भी वहा की तरह ही आजायगा। स्थापनासे अर्हन्त दोनों ही जगह समझे गये। फर्क इतना ही है कि वहां है और फिर स्थापना से कल्पना की और यहाँ उनकी आत्मा नहीं है और फिर स्थापनासे कल्पना की। एक फर्क यह भी है कि वहाँ झट कल्पना की जाती थी और यहाँ विलम्ब होता। कितने आडम्बरसे यहाँ स्थापना की जाती है। पांचो कल्याणक किये और फिर स्थापना हुई ये सारे काम इसलिये करते कि बहुत काम करनेके बाद स्थापना गहरी हो जाती है और हमारे भाव भी उनमें गहरी तौरसे मानने को तैयार हो जाते हैं। जैसे कई दिनोंका और कई आडम्बरोंके साथ विवाह करनेसे विवाह का सम्बन्ध अमिट सा रहता था, परन्तु अब एक मिनटमें विवाह हो जाता है जिसके फलसे यह देखा जाता कि तलाकमें देरी नहीं लगती। इसलिए यह सम्बन्ध हमारा जो गहरा बनता है वह इतने आडम्बरोंके करनेसे होता है। इसी तरह कई काम करनेके बाद स्थापना करनेसे

स्थापना गहरी हो जाती है। यहां स्थापना गहरी बनानेके वास्ते, अर्हन्त को जाननेके वास्ते इतना परिश्रम करना पड़ता और समवशरणमें इतना काम नहीं करना पड़ता। वहाँ स्थापना जल्दी हो जाती है। परन्तु स्थापनाके लिये मूर्ति विरूप नहीं होय। यहाँ की मूर्तिका वैसा ही स्वरूप होय जो समवशरणमें होता है तो भी कम समय लगे।

दारोगाजीके मन्दिर में यहाँ भी दो कृष्णवर्ण बड़ी मूर्तिया हैं। उनके दर्शन करके हमारी कल्पनाकी बात कहते हैं। पहली मूर्ति के पास आनेपर हमको जवाब मिलता कि तुम रागद्वेष आदिको छोड़-कर हमारी ही तरह ऐसे क्यों नहीं बैठ जाते। दर्शन करते करते हम दूसरी मूर्तिके पास पहुंचते तो वहां भी हमारी कल्पनाको जवाब मिलता कि संसारमें कहीं सार नहीं दीखता इसलिये हम बैठ गये। ऐसा हमको वहां दर्शन करते हुए रोज विकल्प होता। हम भगवानसे वहां ऐसी ही बातचीत करते हैं और वहां ही हमें आनन्द आजाता है। इसलिए यहां भी भगवानकी मूर्तिसे समवशरणकी तरह ही लाभ लिया जा सकता है। वहां और यहां इतना ही तो फर्क है कि यहां दिव्य ध्वनि नहीं निकलती और वहां निकलती है। और स्थापनामें इतना फर्क है कि वहां भगवान मौजूद नहीं हैं फिर स्थापना करते और यहां भगवान मौजूद नहीं है फिर स्थापना करते। वैसे वहां भी कल्पनासे अर्हन्तको जाना और यहां भी कल्पनासे अर्हन्तके स्वरूपको जाना। अतः जिसकी मूर्ति बनाओ उसके मूर्तिमें दर्शन करो केवल मूर्तिके दर्शन मत करो। ऐसे भव्य जीवोंका जीवन बहुत पवित्र जीवन था। हमें भी अपना पवित्र जीवन बनाना है। दुनियामें कोई हमारी मदद नहीं करेगा। यहां हम असहाय हैं, अशरण हैं, अपनी निर्मलता बनानेसे तो हमारे लिए हम आलम्बन हैं और यदि हमारीनिर्मलता नहीं बनेगी तो हमारे लिए जगतमें कोई आलम्बन नहीं बनेगा। दर्शन करके, स्वाध्याय करके साधुसमागमसे, चारों भाव-नावोंको भाकर अपनी निर्मलता बढ़ाओ तो उसका फल यह होगा

कि हमारा स्वरूप जिनकी चर्चा करते उन केवलीकी तरह ही हो जायगा । इसलिये चारों भावना भावो । सब जीवोंमें मेरी मित्रता है । किसी जीवको दुख पैदा न होय, ऐसी इच्छाका होना मैत्री है । किसीके दुख उत्पन्न न होय, ऐसी अभिलाषाको मैत्री कहते हैं । गृहस्थियोंकी और मुनियोंकी मैत्रीमें फर्क होता है । मुनि दुखीको देखते हैं परन्तु कमंडलसे पानी पिलानेका विकल्प नहीं करते । ज्ञानी जीवकी मैत्री तो केवल यह ही होती है कि वह ऐसी भावना भाये कि जगतमें किसीको भी दुख न हो इसका मोह भ्रम मिट जावे तो स्वयं सुखी होजावें । यह है मित्रताकी भावना । किसी ज्ञानी जीव को देखकर हर्षका परिणाम होय कि मैंने सब कुछ पालिया है, यह कहलाती है प्रमोदकी भावना । फिर आती है दया । दया किसे कहते हैं ? इसका दुख दूर हो, इस प्रकारका अपनेमें परिणाम आजाना यह दया है । राग, द्वेष, मोह रहित ज्ञानी पुरुषोंकी दया यह होती है कि इनका अज्ञान दूर होजाय । उन्होंने अज्ञानके दूर होनेका स्वाद लिया । अज्ञान ही उनको दुनियांका दुख रहा है और सारे दुख तो उनको दृष्टि में क्षणिक हैं । केवल अज्ञान मिट जाय और उनके ऐसी ज्ञान दृष्टि ही रह जाय, ज्ञानियोंकी इतनी ऊंची दया होती है । अज्ञान दूर हो जाय तो दुखकी जड़ ही मिट जाय । जिसके विपरीत वृत्ति होय तो न प्रेम करना और न द्वेष करना । विपरीत वृत्तिमें द्वेष करना भी बुरा और प्रेम करना भी बुरा । रागको पैदा होनेका मौका ही मत दो । जैसे कटन्ना कुत्ता बैठा हो तब कहते हैं कि न तो इसे पुचकारो और न पुचकारो, दोनों ही काम मत करो । इसी प्रकार दुख बुद्धि वाले किसी जीवसे न प्रेम करें और न द्वेष करें ।

एक समता भावको सब जीवोंमें रखो । समता आई कैसे? सब जीवोंसे मित्रता का परिणाम क्या ? मित्रता करनेसे सबमें समता भाव आ ही गया । गुणीको देखे हर्ष किया तो उनके बराबर कैसे बना ? गुणीके गुणकी जो भावना करी उस गुणकी भावनासे ऐसी

विशेषता पड़ गई कि ठीक अन्तरंगके निकट पहुंच गया, इस तरह से उसके निकट पहुंचा। प्रमोद करनेसे उसके निकट पहुंच गया। दयासे कैसे निकट पहुंचा ? हमारे पेटमें अन्न है अर्थात् हमारा पेट भरा हुआ है और दूसरेका खाली है। यदि दूसरेका भी पेट भर जाता है तो वह भी हमारे समान होजाय ! इस प्रकार दयासे भी समता आ-गई सब जीवोंसे मित्रता करना, सब ज्ञानी जीवोंका प्रमोद करना। दुखी जीवपर दया करना दुखीको अपने बराबर बना लेने की पर्याय है, समताका प्रयत्न ही तो उन सबसे होता। विपरीत बुद्धिसे माध्यस्थ भाव रखा, उसमें भी तो समता का भाव ही है। इस समता परिणाम से यदि चारों प्रकारकी भावनाके करके निर्मलता बढ़ाओ तो यह नि-र्मलता ही आपके कामकी चीज होगी। दूसरोंके बहकावेमें मत आओ और अपनी ओर ही दृष्टि डालो। जैसे किसी लड़केसे कोई कह देते कि तेरा कान तो कौवा ले गया। वह लड़का यह सुनकर रोता जाय और कौवेके पीछे लगा यह कहता जाय कि मेरा कान तो हाय कौवा लेगया। कोई ज्ञानी उससे कहे कि नहीं तेरा कान कौवा नही लेगया तो उसके समझमें नहीं आवे और वह कहे कि मुझे बहुतसे आदमियोंने कहा है कि मेरा कान कौवा लेगया-तो मैं तुम्हारी बात कैसे सच मानूं तब ज्ञानी कहते कि बात तो तेरी ठीक है, परन्तु तू अपने कानको तो टटोल। कानको टटोलकर लड़का कहता है कि अरे, नहीं लेगया, हमा-रे पास ही हमारा कान है इस तरह कोई कहता कि हमारा सुख उसने बिगाड़ दिया। अपने अन्दर टटोल कर देखो कि तेरेमें तेरेसे बाहर की कोई चीज आई क्या ? अपने स्वरूपको टटोलकर देखनेके बाद यह बात मालूम हुई कि इसमें तो मैंने बड़ी कुबुद्धि लगा रखी है, इसमें तो पर पदार्थका प्रवेश ही नहीं है। वह तो अपनी सत्तासे स्वयं सत्ता-वान हैं। मेरेमें बड़ी शक्ति है। मेरी ज्ञान शक्ति मेरी आत्माके प्रदेशों से बाहर नहीं जाती है। मेरे में तो बड़ी भारी शक्ति है, उस ज्ञान शक्ति से परका कोई काम नहीं होता है। न वह किसी परको करता

और न कोई पर उसको करता। पर तो अपने आप ही को करता और उसकी अवस्था ही उसका कर्म है। यह अमृत बुद्धि जीवके आजाग तो यह सब कुछ है, यह नहीं है तो मिथ्या बुद्धि स्वयं नष्ट कर देने वाली है।

जैसे कहते कि इंजन ने डिब्बोंको चलाया। परन्तु यह सब गलत बात है। इंजनका निमित्त पाकर वे डिब्बे अपने आपको चलाने की क्रिया करने वाले बने। इंजन अपनेमें क्रिया कर रहा है और उस का संयोग अथवा निमित्त पाकर यह जो डब्बे हैं वह चले तो अपनी परिणतिसे चले। इंजनके पहियोंके चलनेसे वह नहीं चले। वहां ऐसी स्वतन्त्र परणति देखो तो वह डब्बा अपनी ही क्रिया अपने आप में कर रहा है। इसी तरह कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यकी क्रिया नहीं करता वे सब तो अपनी सत्तामें ही रहते हैं। जैसे १० हाथ दूरपर एक लड़का खड़ा हुआ कुछ उंगलीके इस प्रकारके इशारे कर रहा है। जिससे कोई आदमी चिढ़ रहा है। वहां अज्ञानी आदमी उस लड़केसे कहता कि तुम उसे क्यों चिढ़ाते हो, और ज्ञानी उस बालक से ही कहता कि तुम क्यों चिढ़ते हो। वह तो अपनी चेष्टा स्वयं कर रहा है, वह तुम्हें चिढ़ा कहाँ रहा है. जब चेष्टा करते करते उसके हाथ थक जाएंगे तो वह चेष्टा करना बन्द कर देगा। जैसे तुम उससे कहते कि क्यों चिढ़ाते हो, तो वह यही उत्तर देगा कि मैं चिढ़ा कहां रहा हूं, मैं तो अपनी चेष्टा स्वयं कर रहा हूँ, वह मेरी चेष्टासे चिढ़ता है तो चिढ़े। इस तरह वह दूसरे का कुछ नहीं बिगाड़ रहा है। वास्तवमें उस लड़के ने नहीं चिढ़ाया। व्यवहारमें निमित्त पड़ने के कारण व्यवहारी जीव यह कह देता कि इसने उसे चिढ़ाया। इसी तरह दुनियांमें हमारा कोई कुछ नहीं करता, परन्तु उनका निमित्त पाकर चारित्र ज्ञानमें जो विकार होता है उससे हम यह कह देते हैं कि उसने हमारा काम बिगाड़ा, वरना निश्चयसे हम तो केवल अपना आपको ही करते और दुनियां वाले भी केवल अपने आपको ही करते। और तो और हम

अपने शरीरके ही कर्ता नहीं बन सकते। जिस शरीरमें हम रह रहे उस शरीर केही कर्ता धर्ता नहीं, और तो जाने दो, जिन कषाय भावोंमें हम रह रहे उनके भी हम कर्ता धर्ता नहीं। निज कषाय भावोंको मैं करने वाला नहीं, तो दुनियांमें किसीका करने वाला मैं कैसे बन गया। ऐसी स्वतन्त्र दृष्टि रखने वाला जो जीव है वह अपने आप को ही करता है। स्वातन्त्र्य स्वरूपकी दृष्टि रखनेवालेके कोई दिन ऐसा आ जायगा कि यह परिणति केवली जैसी हो जायगी और वहांसे भी चलकर सर्वज्ञ बनकर सिद्ध भगवान हो जायगा।

पहिले यह बतलाया था कि केवली भगवानकी जो क्रिया होती है वह बन्धको नहीं करती है, क्रियाफलको नहीं साधती। इस बात का वर्णन करनेके बाद अब कहते हैं कि जब ऐसी बात है कि केवली भगवानकी क्रिया बन्धको नहीं करती तो इसके माईने तो यह निकले कि तीर्थंकर भगवानके पुन्यका उदय निष्फल है, बेकार है। हाँ यही तो है। पुन्यका उदय समवशरणके रूपमें, अनेक लोगों द्वारा पूजे जानेमें पुन्य। उदय तो है, परन्तु यह पुन्यका उदय अकिंचितकर ही है। अर्हन्त देवको उसका कुछ फल नहीं हो रहा है और उनके द्वारा जो साधन जुटे हैं उससे भी उनको कोई फल नहीं होता। इसका अवधारण करते हैं- कहते हैं यहां अवधारण शब्दका प्रयोग हुआ जिससे यह सिद्ध है कि यही बात प्रयोगरूपसे आचार्यदेवके श्रद्धानमें अकाट्य है और इस प्रकरणको करते हुए तो उपयोग इसीप्रकार बन रहा है। यहां तीर्थंकर परम देवका पुण्यफल अकिंचित्कर ही है अर्थात् उनके आत्मसुखमें रंच भी बाधक नहीं और न बंधक है यह कहते हैं

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइगित्ति मदा ।४५।

अर्हन्त पुन्य फल वाले हैं! जो पुण्य पंच महा कल्याणक की पूजा करावे, तीन लोककी विजयको जो करे, ऐसा तीर्थ-

कर भगवान का जो पुण्य फल है उसके फलसे उनकी आत्मामें कोई फल नहीं होता। क्योंकि उनकी आत्मामें मोह रागादि भाव नहीं हैं। शुद्ध ज्ञान दृष्टिका आवरण करने वाले, अपने ही अन्दर अनादिसे अनन्त तक प्रकाशमान ज्ञान स्वभावपर दृष्टि न पहुंच देने वाले, उसमें अडचन पहुंचाने वाले मोहादि भावोंसे वे विरहित हैं, इसलिये उनकी क्रिया क्षायिकी क्रिया है। हां कर्मके उदयसे क्रियायें हैं एतावता औदयिकी है यदि भगवानकी क्रियाको औदयिकी न कहें तो विहार करते हैं, चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं ये सब स्वाभाविक क्रियायें होजाँयगी, सो बात नहीं। क्योंकि ये सब कर्मके उदयका काम हो रहा है। परन्तु वह कर्मोदय क्या उदय है जो कर्म बन्धको न पैदा करदें। औदयिकी होनेपर भी कर्मोंके क्षयका ही कारण है। कर्मोंके उदयको दृष्टिसे देखो तो वह औदयिकी है और उसका फल क्या होता उस दृष्टिसे सोचो तो उनकी क्रिया को क्षायिकी कहदो।

अर्हन्त भगवान कैसे हैं कि समस्त अच्छासे अच्छा पुन्य कर्म उदयमें आनेवाला है ऐसे पुन्य रूपी कल्पवृक्षके फल हैं। तीन लोकपर जिन्होंने विजय की है अधोलोकके जीव भी जैसे भवनेन्द्र व्यन्तरेन्द्र आदि जिनको आकर नमस्कार करते हैं, ऐसे वे अर्हन्त हैं जिनको की देव इन्द्र आदि भी नमस्कार करते हैं। यहां मनुष्येन्द्र चक्री आदि व तिर्यञ्चोंके इन्द्र सिंह आदि भी नमस्कार करते हैं जिनको इन्द्र भी नमस्कार करें तो उसमें उस जाति भरकी भक्ति आगई। इस तरह वे त्रिलोकीनाथ हैं फिर भी वे अत्यन्त वीतराग जो अपनी क्रियासे कुछ काम नहीं निकालते फिर भी संसारके प्राणी अपना काम निकाल ले जाते हैं। यहां भी कोई दूसरेका कुछ काम नहीं करता, मात्र अपनी ही चेष्टा करता है। इस तरहसे अर्हन्त ने भी अपनी ही चेष्टा की। जैसे हम अपना ही काम करते, इसी तरह वे भी अपना ही काम करते और हमारे निमित्तसे दुनियामें कुछ हो जाता है इसी तरहसे उनके निमित्तसे भी दुनियामें बहुत कुछ

हो जाता है। उनकी दृष्टिसे वह पुन्यका उदय अकिंचित्कर ही है। जैसे यह लक्ष्मी जिन्हें नहीं चाहिये उनके चरणोंमें लोटती है और जो इसकी आराधना करते हैं फिर भी लक्ष्मी वहाँ फटकती ही नहीं। इसी तरह यह पुन्य लक्ष्मी ही तो है। सब स्थानोंमें रहकर भी वह अर्हन्त भगवानकी हालतसे वर्णन तो है ही, फिर भी किसीमें शंका न होजाय इसके लिये माननेकी प्राकृतिक ही ऐसी बात होती कि समवशरणमें रहते हुए भी, गन्ध कुटीर कमलआदिपर रहते हुए भी उनसे चारअंगुल उनसे ऊपर रहते हैं। तीर्थंकर भगवान सर्व महनीय हैं विशाल बल शाली हैं उनकी अपूर्व महिमा है फिर भी वे स्वरूपमग्न हैं बल की बात देखो भैया कितना बल है? जैसे बीस बकरोंका जितना बल है उतना एक गधेमें होता है, २० गधोंका बल एक घोड़ेमें होता, २० घोड़ोंका जितना बल एक भैंसेमें होता है,२०भैंसोंका बल एक हाथीमें होताहै;कितने ही हाथियोंकाबल एकसिंहमें होता है और कितनेही सिंहोंका बल एक अष्टापदमें होता, कितने ही अष्टापदोंका बल एक नारायणमें होता,कितने ही नारायणोंका बल एक चक्रीमें होता,कितने ही चक्रीयोंका बल एक साधारणदेवमें होता,कितनेही देवोंका बल एक इन्द्रमें होता और अनेक इन्द्रोंका बल एक तीर्थंकर भगवानकी अंगुलीमें होता। यह बल तो गृहस्थ तीर्थंकर का है अर्हन्त होनेपर तो अनंतशक्ति आजाती है। दुनियांके विजयी मल्ल जो होते हैं उन्हें यह आवश्यकता नहीं कि वह दुनियाँ के मल्लोंसे लड़ लड़कर दुनियांमें विजयी मल्ल कहलाये उस एक मल्ल को ही पछाड़नेकी उसको जरूरत है। तभी वह विजयी कहलाने लगेगा। इसी तरहसे तीन लोक के नाथ भगवान हैं। वहां यह आवश्यकता नहीं है कि उनको सारे जीव आकर नमस्कार करें और सिलसिलेसे उनकी भक्तिमें अपना नाम लिखावें। स्वर्गोंका नाथ इन्द्र उनके सामने झुक गया मनुष्योंका नाथ चक्रवर्ती उनके आगे झुक गया, तिर्यंचोंका इन्द्र सिंह भी उनके सामने झुक गया तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि सारे स्वर्गोंके देव, सारे मनुष्य और सारे तिर्यंच उनके सामने झुक गये। तीनों

लोकोके सारे जीव भगवान की भक्तिमें आगये । ऐसे तीन लोकोंके विजयी अर्हन्त भगवान बन गये । उन्होंने मोहादि भाव जीता इसलिये भी वे तीन लोकके विजयी कहलाये क्योंकि मोह तो तीन लोक का विजयी कहलाता और भगवानने मोहको जीत लिया । ऐसे अरहंत की जो क्रिया होती है वह सभी की सभी कर्मके उदयके प्रभाव से हुई । उस क्रियाका ऐसा स्वभाव बनाया इसलिए वह क्रिया औदयिकी ही है । परन्तु औदयिकी क्रिया होनेपर भी वह कर्मका उदय व्यवहारसे अरहन्त का और निश्चयसे कर्मका होता है । भगवान की जो क्रिया होती है उस क्रियामें भव्य जीवोंका पुन्य व्यवहारसे निमित्त होता है ।

यहाँ यह प्रश्न हुआ कि भव्य जीवोंके पुन्यके उदयसे यह बात सम्भव लगती कि उनके पुन्यके उदयसे भगवान की दिव्यध्वनि आदि क्रियाएं हुई । परन्तु उनकी जो दिव्यध्वनि आदि क्रिया करदे ऐसे उस पुन्य कर्ममें क्या ताकत है? उत्तर यदि उनकी क्रियाकी केवल भव्यजीवों को पुन्य फल ही कारण कहा गया हो तो ठीक नहीं बनता । वह क्रिया तो निश्चयसे उनके ही योग का फल है । भव्य जोवका पुन्य उदय तो केवल निमित्त ही है । उनमें से जो वचन वर्गणाएं निकलने लगीं तो वह भव्य जीवोंके पुन्यके उदयका फल है । पुन्य कर्म किसीके ठोकर नहीं मारता । सब अलग अलग जगह रहते फिर भी क्रिया होती है । निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है कि निमित्त की तो उपस्थितिमात्र है, उपादानमें क्रिया अपने आप हो जाती है कितने ही कार्य ऐसे होते हैं कि बहुत दूर दूर रहते हैं, कोई ठोकर भी नहीं लगाता फिर भी निमित्त नैमित्तिककार्य होने लगतेहैं। भव्य जीवोंका भाग्य और उनका वचन दोन अलग अलग हैं, फिर भी वह कार्य दोनोंका ही होरहा है । उस समय यह अर्हन्तका बड़ाअपराध है, (प्रशंसामें) कि बडे होकर छोटोंमें रह रहे। परन्तु जब छोटोंमें रह रहे तो जहां निमित्त नैमितिक सम्बन्ध है वहाँ तो काम करना ही पड़ेगा । बड़ा छोटोंमें रहेगा तो उसे काम तो करना ही पड़ेगा

नेता यदि प्रजा में रहेगा तो उसे काम तो करना ही होगा। यदि वह सिद्धोंमें चला जाय और यहां न रहे या योगनिरोध हो तो काम नहीं करना पड़ेगा। हम छोटोंमें रहेंगे तब तक तो सब क्रिया करनी ही पड़ेगा। ऐसी प्राकृतिकता रहती ही है।

अब यहां यह प्रश्न उठा कि सिद्धान्तमें ऐसा कहा गया कि एक द्रव्यकी क्रियाका असर दूसरे द्रव्यकी क्रियामें नहीं होता तो भव्य जीवों के पुन्यका असर भगवानमें कैसे आगया। निश्चयमें यही उत्तर आवेगा कि भव्य जीवोंके पुन्यके प्रतापसे भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरती।

जिसके उदयसे ही सर्व कर्मका बंध होता ऐसा जो मोहनीय कर्म हैं उस कर्मका क्षय हो जानेके बाद जो उपरजक भाव है उनका अभाव होनेसे वह क्रिया चैतन्यके विकारका कारण नहीं हो सकती, वह क्रिया औदैयिकी तो है परन्तु उस क्रियाका लाभ बन्ध नहीं है इसलिए तथा उस कर्मके उदय का कार्य क्या है ? मोक्ष; इसलिये केवली की क्रिया क्षायिकी ही है। जैसे कि किसी वृक्षपर से कोई फल टूटा और वह फल टूट कर उसी डंठलमें फिर तो नहीं लगता, यह फल तो मुक्तिके लिये टूटा। इसी तरहसे जो कर्म उदयमें आकर टूटा। वह फिर हमारे नहीं चिपक सकता, वह दूसरी शक्ल बनाकर आजाय यह हो सकता है। वही फल फिर दूसरी तरह के परमाणु लेकर पेड़में दूसरे किसी वर्ष चिपक जाय यह हो सकता है, परन्तु वह फल उसी शक्लमें फिर उस पेड़में नहीं लग सकता। कर्म उदय मोक्षके लिये ही ही, छूटनेके लिये हो आते, परन्तु वे उदयमें आकर फिर उसमें नहीं चिपक सकते। भैया देख लिया ना अंधेर!! कर्मका उदय मोक्षके लिये होता। भगवानकी औदैयिकी क्रिया एक तो कर्मबंध का कारण नहीं और इसमें मोक्षका कारण देखा गया, इसलिये वह क्रिया क्षायिकी ही है। कर्मके उदयके बिना वह क्रिया नहीं होती, इसलिये वह औदयिकी ही कही गई। ऐसी औदैयिकी क्रिया उनके बन्धका कारण नहीं होती,

वहां कर्म छूटता मात्र है इसलिये चायिकी है ।

यहां एक प्रश्न है कि कर्मके उदयसे तो सुख दुखकी क्रिया होती, उससे तो बन्ध नहीं होता; परन्तु राग द्वेष आदि भावोंसे बन्ध होता। और कर्मके उदयसे रागद्वेष आदि की क्रिया नहीं होती क्यों कि वह अनादिसे है। उत्तर—यदि कर्मके उदयसे रागद्वेष आदिकी क्रिया न होय तो कर्म छूटे ही नहीं। क्योंकि वह स्वभाव बन गया, जैसे सुख दुख का कारण कर्म साता असाता वेदनीय कर्म कहा है इसी तरह राग द्वेष के कारण भूत मोहनीय कर्म कहे गये हैं। जिनके मोहनीय कर्म शिथिल हो जाते हैं, उनके सुख दुखमें राग नहीं जाता। अनादिसे परम्परा है विवचित राग द्वेष तो कारण पाकर हुआ वह चणिक है।

यहां एक शंका यह है कि जब कर्मके उदय आनेपर रागद्वेष होते तो उदय में भी आते रहेंगे और फिर बंध होते भी रहेंगे तब छूटना कैसे हो? समाधान—यह दोनों पदार्थ सत्तावान हैं। आत्मा और पुद्गल कर्म ये प्रकृतिसे परिणमते ही रहते हैं। प्रकृतिसे कर्मका भी मन्द अनुभाग आ जाता है, परन्तु उस मन्द अनुभाग की हद होती है। उस मन्द अनुभागके समयमें आत्मामें सम्हालनेकी सावधानी आई और कर्म बन्ध कम हुए और उसको परम्परा कम होते होते समाप्त हो जाती है और कभी समय ऐसा आता कि वह कर्म बन्ध नहीं करता। औदैयिकी क्रिया होनेपर भी वह क्रिया बन्धको नहीं करती। यह कर्म मल्ल और आत्म मल्ल, दो मल्लोंकी लड़ाई है। एक तरफ का फैसला नहीं देना कि कर्मके आधीन आत्मा को ही परिणमना पड़ता, क्योंकि आत्म ज्ञानके अनुसार कर्मको भी तो मिटना पड़ता। कभी लड़ाई ठीक बनते बनते किसीकी ऐसी बात बन जाती है कि कर्मों से सदा केलिये छुटकारा मिल जाता है। इस लिये अर्हन्त भगवान की क्रिया औदयिकी तो है परन्तु क्रिया फलके नहीं करनेके कारण वह चायिकी ही मानी गई है। कर्मका फल अर्हन्त भगवानके

स्वभावके विघातके लिये नहीं होता तब ही उनकी क्रिया क्षायिकी है। हमको भी यही सोचना चाहिये कि मैं भी एक निमित्त मात्र हूं और दुनियांके और लोग भी निमित्त मात्र हैं और यह कार्य अपने आप होते। किसी परपरिणतिमें अहंकार करना अज्ञान है।

एक सेठ जीके चार लड़के थे। एक कमाऊ था, एक जुआरी, एक अन्धा और एक पुजारी, ये चार लड़के थे। कमाऊ कमावें और सभी खावें। कमाऊकी स्त्री उससे रोज लड़े कि तुम तो कमाओ और दुनियां भरके एरे गैरे खाते हैं, हमें यह अच्छा नहीं लगता, इसलिये न्यारे हो जाओ। तब वह पिताजी के पास जाता है और कहता है कि हमारी स्त्री मानती नहीं है इसलिये हमें न्यारा करदो। पिताजी कहते हैं कि अच्छा तुम न्यारे होना ही चाहते हो तो न्यारे हो जाना, परन्तु न्यारे होनेसे पहले शामिल तीर्थ यात्रा तो करलो। वे राजी हो गये। सबके सब ५ दिनके वास्ते यात्रामें एक शहरके पास ठहर गये। पहले दिन पिताने कमाऊ बेटेको २०) रुपये दिये और कहा कि सबके लिये बढ़िया भोजन लाओ। वह बाजार गया और उसने कुछ सामान खरीदा और उसे फिर नफे से बेचा और दो रुपये और कमाये और इस तरह २२) रुपयेका भोजन लेकर आया। दूसरे दिन पिताने जुआरी बेटेको २०) रुपये दिये और कहा कि बढ़िया भोजन लाओ। वह बाजार गया। वहां रास्तेमें कहीं जुआ हो रहा था, तो उसने वे २०) रुपये दाव पर लगा दिये, उसका दाव आगया और उसने २०) रुपयें के ४०) रुपये कर लिये और उन रुपयोंका कमाऊ लड़केसे भी अच्छा भोजन लेकर आया। तीसरे दिन अन्धे लड़केकी बारी आई। उसे भी २०) रुपये दिये गये। अन्धेको रास्ता दिखानेके लिये उसकी स्त्री गई। रास्तेमें अन्धेके एक पत्थरकी ठोकर लगी। तब उसने उस पत्थरको ही बीचमें से हटा देनेकी बात सोची, ताकि उसीकी तरहके और अन्धोंके उसकी ठोकर न लगे। उसकी स्त्रीने पत्थरको

उठानेमें इसकी मदद की। जब वह पत्थर उठा तो स्त्री चीख पड़ी कि यहां तो अशर्फियोंका हंडा पड़ा हुआ है। उसने उन अशर्फियोंमें से कुछ अशर्फियाँ लीं और उनसे अच्छासे अच्छा भोजन खरीदा और उस भोजन के साथ बाकी बची अशर्फियां भी उसने लेजाकर पिता को दे दी। चौथे दिन पुजारी लड़के की बारी आई। उसको भी पिताने २० रुपये देकर भोजन लानेको कहा। उसने सोचा कि पहले भगवानके दर्शन करलूं और पूजा आदि से निवृत्त होलूं फिर भोजन लेकर घर चलूंगा। उसने उन रुपयोंकी सामग्री आदि खरीद ली और १० बजे पूजनके लिये बैठा तो शामके ५ बज गये और बैठा ही रहा। यह देखकर मन्दिरके अधिष्ठाता देवको चिन्ता हुई कि इसके पीछे सारे घरवाले भूखे बैठे होंगे। देवताने उस जैसा ही रूप बनाया और बैल गाड़ियोंमें बहुत अच्छासे अच्छा भोजन लादकर पुजारीके पिताके पास वह गया और कहा कि पिताजी यह लीजिये भोजन। पिताने कहा कि शाबाश। आज तो तूने कमाल कर दिया। जा सारेके सारे गांव को आज यहाँ ही भोजनका निमन्त्रण दे आ। सारेके सारे गांव को भोजन करायां गया; भिखारियोंको भर पेट भोजन कराया और खूब ठाटबाट किये। जब शामके ६ बजे तो पुजारी पूजनसे उठा और सोचा कि मेरे पीछे आज तो सबके सब भूखे मरे। उसके पास जो पूजाके उपकरण आदि थे उनको भी उसने वहीं छोड़ दिया और पिताके पास भागा भागा गया और उसके चरणोंमें पड़कर कहा कि पिता जी मुझसे बड़ा अपराध हुआ। तब पिता बोला कि अरे तूने तो इतना बड़ा भारी चमत्कार दिखाया। तब बेटेने अपनी कथा सुनाई और बोला कि आप लोग तो भूखे ही पड़े होगे। तब पिताने भी उसको सारी बात बताई। तब पिताने उस कमाऊ पूतसे कहा कि अकेले अकेले का पुन्य फल देखा। अब भी यदि तुझे न्यारा होना हो तो होले तुझे न्यारा करदूं। तब कमाऊ लड़का बोला कि नहीं पिता जी। मेरा पुन्य तो दो रुपयेका है, मैं न्यारा होकर क्या करूंगा? इसलिये जगतमें कुछभी

होरहा हो उसे देखकर हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि मैं जगत का कुछ करता हूं। जगतके सारे काम अपने आप हो रहे हैं मैं जगका क्या काम करता हूँ, इस प्रकारका विचार करके अपनी आत्माके स्वरूपको देखो और कोई प्रकारका विकल्प न करो। भगवानके कर्मका उदय भगवानके स्वभावको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। कर्मका उदय तो रागीके बंधका कारण है ता यह तो आगम का वचन है, परन्तु भगवानके कर्मके उदयका कोई फल नहीं है। भगवान की क्रिया औदैयिकी तो है परन्तु मोहके उदयसे रहित होनेसे औदयिकी क्रिया भी बन्धका कारण नहीं है। यहां कर्मके उदय सब जगह चल रहे हैं, सदा चल रहे हैं, परन्तु अपनी शुद्ध आत्मा की चर्चामें चलते रहें तो हमारे स्वभाव श्रद्धान विघात नहीं करते। द्रव्यमोह का उदय होनेपर भी यदि शुद्ध आत्माके भावसे बंध नहीं हुआ तो उसके बन्ध नहीं होगा, मोक्ष होगा।

अब इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध किया कि केवली जीवका जो कर्मका उदय है, उसके उदयसे परिणामोंमें विकार नहीं होता। इस प्रकरणसे हमे यह शिक्षा लेनी है कि हमें भाग्यके भरोसे ही नहीं बैठना चाहिये। एक कर्मके ही आधीन बनकर नहीं रहना चाहिये। अपने आपको कर्मके आधीन नहीं बनना चाहिये। हमें अपना बल समझना होगा और पूर्ण स्वरूपकी दृष्टि रखनी होगी कि हम जो कर सकेंगे तो पुरुपार्थसे कर सकेंगे। प्राणी अपने आपमें ही परिणमता और किसी का कुछ नहीं कर सकता। इसी तरह जगतके सारे जीव अपनेमें ही परिणमते जगतका कुछ नहीं कर सकते। ऐसे ही संसारमें हम अपने पुरुपार्थसे ही तिर सकेंगे, ज्ञानदृष्टिके बलसे तिर सकेंगे और दूसरोंके बलसे नहीं तिर सकेंगे। अपने ज्ञानस्वभावकी वजहसे तिर सकेंगे इसलिए मोह आदि विभावोंमें पड़कर हमें अपनी आत्माको बरबाद नहीं करना चाहिये। और एक आत्मदृष्टिको अपनाना चाहिये। तभी हमारा कल्याण हो सकता है और हम संसार रूपीसमुद्रसे तिर सकते हैं।

अब यहां यह वर्णन चल रहा है कि केवली भगवानकी जो समवशरणादि लक्ष्मी है उनकी नहीं, लोगोंके कहनेमें ऐसा आता है कि समवशरणआदि, लोक पूजा आदि, जितने भी हैं वे सब पुण्य के विपाक हैं। ये सब ठाठ बाट उनके स्वभाव का घात नहीं करते। ये भगवान्के स्वभावका घात नहीं करते। तो कहते कि जब कर्म केवलीके स्वभावका ही घात नहीं करते तो उनकी तरह सभी जीवोंके स्वभावका घात नहीं करते होंगे तो फिर ऐसा कहने में अनोखी बात क्यों बताई। सांख्याभिनिवेशी शंकाकारका अभिप्राय यह है कि जितने भी जीव हैं सभी जीवों के स्वभाव का कर्म घात नहीं करते। प्रयोजन यह है कि तत्त्व दो हैं, जीव और प्रकृति इनमें से जीव जो है, वह सत्य जीव है पुरुष है वह हर प्रकारकी गड़बड़ियों से रहित है, केवल अपने स्वरूपका लाभ करता है और कोई बात यह जीव नहीं करता। यह जितना भी ठाठबाट है सब प्रकृतिका है। इस तरह केवली की तरह सभी जीवों में स्वभाव को घात नहीं देखा जाता इसका समाधान करते हैं।

जदि सो सुहोव असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो विन विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

यदि जीव अपने उपादान से शुभ अशुभरूप न होवे तो फिर सभी जीवोंके संसारका अभाव होजायगा सो संसार का अभाव नहीं है यह तो स्पष्ट हो रहा है। जहां यह कथन है कि जीव शुभाशुभरूप नहीं परिणमता वह परमशुद्धनिश्चयनयका कथन है। सर्वथा ऐसा नहीं है।

इस ४६वीं गाथामें केवली की तरह कर्मोंद्वारा सभी जीवोंके स्वभाव के घातका अभाव निषिद्धकरते कर्म सभी जीवोंके स्वभावका घात नहीं कर पाते ऐसा नहीं है। निश्चयके विषयको अशुद्धभाव होनेपर भी पर्यायमें घटानेवाले सत्पथसे भ्रष्ट हो जाते हैं एक सन्यासी और एक शिष्य था। सन्यासी शिष्यको प्रतिदिन यही पढ़ाया करता था कि आत्मा पुरुष का कर्म निमित्त आदि कुछ भी नहीं करता है, वह तो

केवल ज्ञाता द्रष्टा ही है । किसी कार्यसे पुरुष अशुद्ध नहीं होता एक दिन गुरूजी एक मुसलमान की दुकानपर रसगुल्ले खा रहे थे तो शिष्य उधरसे निकला और उसने गुरूजी को रसगुल्ले खाते देख लिया । उसने गुरूजीके पास जाकर पूछा कि महाराज आप मांसवाली दुकानपर रस-गुल्ले कैसे खारहे हैं ? गुरूजी ने उत्तर दिया, कौन खारहा है, आत्मा कुछ नहीं खाता है न छूता ही है । जो खारहा है वह खा रहा— आ-त्मा नहीं खारहा। शिष्यको यह सुनकर गुस्सा आया और उसने गुरु-जीके एक तमाचा जड़ दिया । तब गुरूजी बोले अरे की यह क्या कररहा है तो शिष्य ने उत्तर दिया कि महाराज तमाचा तो आत्मामें लगता नहीं है और न यह आत्मा दुखी होता है और न पिटता है और न कुछ करता है । यह सुनकर गुरुको बड़ा क्षोभ हुआ परन्तु सत्यताका पता भी लग गया । उसने शिष्यसे कहा कि तूने आज मेरी आंख खोलदी । इस तरह सब कुछ दुख सुख इस आत्मामें विषय कषाय राग आदि होते हैं, यह समूचे आत्मा के भाव हैं । पर्यायतया भी यह आत्मा न करता है, न भोगता है; न कोई गड़बड़ पैदा करता है, इस निश्चया-भासी को मिथ्यादृष्टी कहा गया है । जो समूची बातको मानने वाला नहीं है व मैं शुद्ध बुद्ध हूं कुछ भी नहीं करता हूं ऐसी बात बनाता और अन्तरंगमें दुखी होरहा है, मोही भी होरहा है उसको कहते हैं निश्चया-भासी ।

इस गाथामें बताया है कि आत्मा यदि स्वयं स्वभावसे शुभ या अशुभ नहीं होता तो समस्त जीवोंके संसार भी विद्यमान नहीं है ऐसा सिद्ध होगा । यदि यह माना जाय कि आत्मा स्वयं स्वभाव से शुभ या अशुभ नहीं, होता शुभाशुभ भावोंसे परणमित नहीं होता, तो समस्त जीव निकायों के संसार भी विद्यमान नहीं है, ऐसा सिद्ध होगा । यदि यह आत्मा अपनी ही परणति से शुभ रूप या अशुभ रूप भाव से नहीं परणमता होता तो संसार के सारे जीवों के संसार का अभाव होता । प्रकृति और पुरूष का विवेक करने की आवश्यकता उस सिद्धान्त को

को क्यों पड़ी। जब आत्मा कुछ करता ही नहीं तो यह उपदेश क्यों करते हो कि पुरुष और प्रकृति में भेद विज्ञान करो। सिद्धान्त तो यह बनाते कि पुरुष अलिप्त है और उपदेश यह दिया जाता कि मोह में मत पड़े रहो, प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान करो। ऐसा कहने की आवश्यकता क्या हुई भेद विज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि दुःखी हम होते हैं, संसार में भ्रमण करने वाले हम ही है, भ्रम के कारण यह जीव शुभ और अशुभ भाव से अपनी परणति से परणमता। न परणमता तो संसार रूप भाव हो नहीं रहता। सारे जोवों के संसार नहीं हैं यह तो प्रकृति के संसार लगा हुआ है। प्रकृति ही करता होरहा है। यह बात सुनने में तो सुहावनी लगती परन्तु है नहीं। संसार नहीं है इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ मोक्ष है। सो हमारी आत्मा के मोक्ष है क्या। जब प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान करो और वह दृढ होजाय तो मोक्ष होता। इसका अर्थ है अभी मोक्ष नहीं, मोक्ष नहीं होना इसका भी नाम संसार है यदि यह आत्मा एकान्त से नियम से शुभ अशुभ भाव से नहीं परणमे तो हमेशा ही सर्व प्रकार से बिना विरोध के शुद्ध स्वभाव रूप ही इस जीव को रहना चाहिए। तो सारे के सारे प्राणी समस्त बन्ध के साधनों से शून्य हो जाएंगे। बन्ध का साधन संसार और संसार का साधन राग द्वेष है। सारे वैभव का कारण या साधन भी राग द्वेष है। संसार का साधन रागद्वेष मोह आदि और कर्म बन्ध का साधन भी राग द्वेष मोह आदि भाव। जब कर्म बन्ध का साधन ही नहीं रहा तो उसके आवागमन ही नहीं रहा। संसार हो नहीं रहा तो नित्य मुक्त होगया।

अभी जैनियों में भी जो अध्यात्म का पाठ बतलाते हैं ऐसे कुछ त्यागी जन ने इस बात की श्रद्धा करली है कि एक आत्मा ऐसा है जो अनादि अनन्त नित्य मुक्तहै। वह बन्ध में पड़ा हो नही था और बाकी जितने आत्मा कर्म काट कर मोक्ष में जाते वे नित्य मुक्त नहीं है। जैनियों में भी इस प्रकार की श्रद्धा करने लगे हैं कि एक परमात्मा तो

अनादि अनन्त हैं और अनेक परमात्मा ऐसे हैं जो अनादि अनन्त नहीं हैं। यह सिद्धान्त निकल कहां से आया। इसका उत्तर यह है कि शास्त्रों में हर जगह यह लिखा कि अनादि अनन्त अहेतुक करता भोगता भाव से रहित बन्ध मोक्ष की कल्पना से दूर, ज्ञान स्वभाव है। यह तो अपने में देखने की बात थी, अपने में निरखे ऐसा जो सामान्य भाव ज्ञान में है उसको निज में निरखो, वह है अनादि अनन्त परमात्मा। कथन तो यह था कि निज में ही उस परमात्मा को ढूढ़ना। एक परमात्मा जो सब भेदों से रहित है, वह अपने अन्दर न पढ़कर दूसरे क्षेत्रों में पढ़ने लगा, ऐसो परमात्मामें दृष्टि आगई और जैनोंमें भी किसी में यह श्रद्धा बन बैठी। परन्तु ऐसा कोई आत्मा नहीं है जो अनादि मुक्त हो। पर: आत्मा है तो सही। अनादि काल से मोक्ष भी जा तो रहे हैं, परन्तु जो अनादि मुक्त हैं वे भी कभी संसार में थे। जब हम स्वरूप पर दृष्टि डालते हैं तो उस स्वरूप की आराधना में पड़ करके हमें जो फैसला देना पड़ता है, उस स्वरूप का घात नहीं है ऐसा देखना पड़ता है तो यह कहना पड़ता है कि प्रत्येक जोव कर्म से छूटा है, यह कहते हुए भो यह कहना पड़ता है कि छूटने से पहले वह कर्म बद्ध था। न मोक्ष का आदि बताया जिसको और संसार का भी आदि नहीं है, फिर भी संसार मोक्ष से आठ वर्ष जेठा है इस तरह से अनादि मुक्त ईश्वर की कल्पना लोगों में थी वह अपने आप में रहने वाले अनादि अनन्त ध्रुव ज्ञान स्वभाव को देखकर यह चर्चा करते। इस निजदृष्टि को भूलने का फल यह भूल है।

यह जीव स्वयं की परिणति से संसारी है। केवली बाह्य पदार्थों में रहते हुए भी स्वभाव के घात वाले नहीं है, इसीतरह से संसारी भी बाह्य पदार्थों में रखते हुए अपने स्वभाव के घात करने वाला नहीं है ऐसा नहीं मानना चाहिए। संसारी के स्वभाव का घात तो होरहा है।

यहां एक प्रश्न उठा कि जैसे संसार की समस्त वस्तुएं अनादि हैं, इस तरह से सिद्ध भी एक वस्तु हैं? वह भी अनादिसिद्ध माना

जाना योग्य है समाधान सिद्ध वस्तु नहीं है, सिद्ध तो पर्याय है। आत्मा वस्तु है और सिद्ध अवस्था है, पर्याय है, वस्तु नहीं। यह तो वस्तु की तरंग-अवस्था है। वस्तु की अवस्था एक समय की ही होती है। प्रत्येक अवस्था क्षणिक है। सिद्ध वस्तु नहीं किन्तु आत्मा वस्तु है। वह सिद्ध-पर्याय या सर्वगुणोंकी पर्याय क्षणिक होकर उनकी एक ही प्रकार अनन्त काल तक होवेगी क्योंकि वह स्वाभावपर्याय है।

अब यह प्रश्न होता है कि यह अवस्थाएं, संसार भी है, केवलज्ञान भी है, सिद्ध भी है; तो क्या ये अनादि से चल रही है। उत्तर है कि अनादि से ही चल रही हैं। परन्तु समूह रूप से यह उत्तर होगा कि एक ही आत्मा में ये सब अवस्थाएं चल रही है। ऐसा नहीं है। किसी आत्मा की सिद्ध अवस्था है तो किसी की केवलज्ञान अवस्था है और किसी की संसारी अवस्था चल रही है।

यदि जीव अपनी परिणति से शुभ अशुभ भाव से परणमता है ऐसा न माना जाय तो वह नित्य मुक्त बन जायगा। इसलिए आत्मा के परणमन का उपादान कारण विवक्षित पर्यायी आत्मा वस्तु है सत्ता है, इसलिए प्रति समय निरंतर परणमता ही रहेगा। आत्मा द्रव्य है इसलिए परणमता है। जब आत्मा का परणमने का स्वभाव है तो कर्मोदय की उपाधि रहेगी तब शुभ अशुभ भाव से परणम जायगा जैसे स्फटिक है उसमें मयूर पंख जटा आदि उपाधि लगादो जाय तो उसमें वह रंग आजायगा, क्योंकि स्फटिक का उन परणमने का स्वभाव है इसी तरह से आत्मा परणमे बिना नहीं रह सकता।

इस तरह से यह बात सिद्ध की है कि संसारी जीव के यह कर्मोदय सम्पदा ऐश्वर्य वगैरा स्वभाव के विघात को करता है और केवलज्ञानी के ये स्वभाव के विघात के कारण नहीं है। कोई कहे कि ये सब तो स्वभाव का घात करने वाले नहीं है, इनके छोड़ने का उपदेश क्यों करते। परन्तु इस जीव के कर्मोदय का डंक लगा है तब तक यह बाह्य पदार्थों को निमित्तमात्र बना कर उन रूप परणमता।

अब यह प्रश्न है कि जब यह जीव पहले शुद्ध नही था तो हम भी नहीं कह सकते कि बाह्य वस्तुओं ने हमं अशुभता या अशुद्धता लगाई। समाधान यहां पहले और बाद का सवाल ही नहीं, यहां तो वर्तमान काल में हा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। अर्थात् जिस काल में उपाधि रूप निमित्त है उस समय में वहां राग द्वेष रूप परणमत हैं और अनादि से प्रति समय उपाधि रूप राग द्वेष रहे तब प्रति समय रागी द्वेषी रहा अतः यह आवश्यकता नहीं है कि पहले शुद्ध होय फिर निमित्त आये तो अशुद्ध होजाय। दूसरा कारण यह है कि जिस उपाधि के कारण आत्मा में वर्तमान में राग है वह राग उस उपाधि के निमित्त से पहले नहीं था। ऐसी हालत में वर्तमान में जो राग जिस निमित्त से होता है उस राग से तो वह आत्मा पहले शुद्ध था यहां शुद्ध से मतलब सर्वथा से नहीं किन्तु उस विवक्षित राग से है वर्तमान में जो कार्य होते हैं वे अनादि से नहीं चले आते। यदि अनादि से चले आते तो यहां यह सन्देह होता कि जब पहले से ही ये चले आरहे हैं तो फिर निमित्त का नाम क्या ? निमित्त ने जो उसी काल में गड़बड़ी की वह पहले तो नहीं थी। प्रति समय निमित्त रहा और प्रति समय उसका कार्य रहा। ऐसा भाव इस जीवके अनादि से चला आरहा है। इसलिए यह आवश्यकता नहीं रही कि पहले यह आत्मा शुद्ध हो और फिर अशुद्ध हुआ हो। जैसे स्वर्ण पाषाण का जब से जन्म हुआ तभी से वह अशुद्ध है शुरु से शुद्ध होवे और फिर कालिमा आवे तो वह अशुद्ध होवे यह उसमें आवश्यकता नहीं रहती। जब उसको अग्नि में पका कर उसका निमित्त हटा देते हैं तब वह शुद्ध होजाता है, इसी तरह आत्मा में प्रति समय निमित्त है और प्रति समय अशुद्धता है।

जिसे शंका होती है उसकी वह शंका उस सिद्धान्त में कहीं कुछ किसी ढंग से कही गई हो तो ही प्रायः उपस्थित होती है। इस गाथा में यह शंका उपस्थित की गई कि जैसे केवली भगवान किसी बाह्य कारण से शुभ अशुभ भाव नहीं परणमते, इसी तरह से संसार के कोई भी

जीव किसी भी तरह शुभ अशुभ रूप नहीं परणमते। निश्चय का सिद्धान्त में कथन था। उस कथन को सुनकर शुद्ध नय की बात बोलकर यह पाड़ कर रह गये कि आत्मा शुभ अशुभ भाव से नहीं परणमता। शुद्धनय से इसके क्या अर्थ हैं? जैसे ज्ञान में ज्ञान की पर्याए हती जारही है। प्रति समय उसमें पर्याए चल रही हैं और उन पर्यायों में लगातार एक चीज है जिसकी कि वे पर्याए हैं। ज्ञान की जितनी हालत ही रही हैं उन सब में ज्ञान कोई एक चीज है। वह एक चीज जिसे हम समझना चाहते हैं क्या वह कोई पर्याय रूप है। यदि हम किसी पर्याय रूप उसे खोजते हैं तो केवल पर्याय ही हमारे हाथ में आती है। इस लिए हम उस ज्ञान को किसी पर्याय रूप न निरखें, एक स्वरूप सब पर्यायों में अनुगत ऐसा निरखें तो हम एक शुद्धनय ज्ञान स्वभाव को जानसकेंगे शुद्ध रूप वह ज्ञान स्वभाव तो किसी रूप भी नहीं परणमता। परणमता तो है परन्तु वह परणमन व्यवहार का विषय है। परन्तु निश्चय से जिस एक चीज का वह परणमन है वह एक तत्व तो परणमता नहीं तो उसमें शुभ अशुभ भाव से परणमन नहीं हो सकता। ऐसा मानलो कि वह चीज नहीं हम तो सोच रहे। क्यों कि चीज जो है वह द्रव्य पर्यायात्मक होती। सामान्य विशेषात्मक होती। इसलिए सामान्य विशेपात्मक उस चीज में जिस समय सामान्य को मुख्य रूप से देख रहे हैं उस समय की यह चर्चा है और उस वस्तु में जिस समय पर्याय को मुख्य करके देख रहे हैं उस समय की चर्चा है परणमन। और विना पर्याय को मुख्य करके देख रहे हैं उस समय की चर्चा है परणमन नहीं जो परणमन है वह तो परणमन है और जिसका परणमन है वह एक सामान्य तत्व है। उसमें परणमन नहीं देखा जायगा। उस वस्तु की दृष्टि के रूप देखो तो यह चर्चा है कि वह चीज शुभ अशुभ रूप नहीं परणमता।

देखो भैया! द्रव्यार्थिक नय का लक्षण क्या? व पर्यायार्थिक नय का लक्षण क्या? वहां यह वताया कि द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमें द्रव्यको मुख्य

रूप से देखो। द्रव्यार्थिक नय है द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु में परिणमन को दृष्टि से देखने वाले नय को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। सामान्य विशेपात्मक वस्तु में सामान्य को मुख्यता देखने वाले नय को शुद्ध निश्चयात्मक नय कहते हैं। और सामान्य,विशेपात्मक वस्तु व्यवहार को मुख्यतया देखने वाले नय को व्यवहारात्मक नय कहते हैं। सामान्य विशेपात्मक कहने में वस्तु के दो तरह के तत्व हुए, सामान्य तत्व और विशेपतत्व। उसमें सामान्य तत्व क्या हैं? यदि उसको निराकारता से देखे तो वह सामान्य तत्व होगा और यदि पर्याय तरंग परणमन को देखे तो वह विशेप तत्व होजायगा। उस समय वह सामान्य तत्व नहीं होगा। वह सामान्य एक स्वरूप है, सामान्य अंश परणमन रूप नहीं। उसका जो परणमन होता वह तो परणमन है ही। किंतु सामान्य न शुभ रूप से परणमता और न अशुभ रूप से परणमता, ऐसी सिद्धान्त की चर्चा जैन सिद्धान्त में है। उस चर्चा को सुनकर कितनों ही ने यह मान लिया कि यह आत्मा संसार में परणमता ही नहीं। यदि यह आत्मा शुभ अशुभ रूप भाव से न परणमे तो व्यवहारनय से भी संसार नहीं रहेगा।

एक वात और है कि संसार व्यवहार में है कि निश्चय से। संसार व्यवहार से है। व्यवहार पक्ष वाले मन में यह चुलवुलि रखते हैं कि व्यवहार से संसार है तो संसार झूठमूठका है। परन्तु संसार व्यवहार से है यह कहने का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए। अर्थ यह लगाना चाहिए कि पर्याय में संसार है, द्रव्य में संसार नहीं है। सामान्य अंश में संसार नहीं है, जब हम विशेप अंश से देखते हैं तो संसार है। एक नय से संसार है और एक नय से देखते हैं तो संसार नहीं है। यह आत्मा शुद्धनय से शुभाशुभरूप नहीं परणमता इस तरह अशुद्ध नय से भी नहीं परणमता तो इसका संसार ही खत्म होजायगा। सभी जीवों में संसार खत्म होजायगा सो है नही प्रत्यक्ष संसार दीख रहा। तो यह सिद्ध होता कि आत्मा परणमता है। परणमने का आत्मा का स्वभाव

है। वह कर्म उपाधि के कारण उपाधियों को ग्रहण कर लेता है। ऐसा नहीं होय तो संसार का अभाव हो जाय। परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि संसार के अभाव का मतलब मोक्ष। परन्तु उन सब के ऐसा नहीं है। वह संसार में पड़ा हुआ है इसलिए सब संसारी संसार में पड़े हुए हैं। ये तो उसी जैन सिद्धान्त स्याद्वाद की मुद्रा से मुद्रित हैं। ये तो हमारी द्रव्य कम्पनी का ट्रेड मार्का है। जैन सिद्धान्त का भी ट्रेडमार्का स्याद्वाद है। जिस ग्रन्थ के यह ट्रेडमार्का हो उसी ग्रन्थ को जैन शास्त्र कहा जा सकता है। जिस ग्रन्थ में बराबर हम लोगों को सम्भालने के वास्ते बीच में व्यवहार का प्ररूपण है और निश्चय का प्ररूपण नहीं है तो उस शास्त्र से हमारा हित नहीं हो सकता। इसी तरह जहां व्यवहार को छूये भी नही वर्णन में वहां हित नही तो निश्चय व्यवहार दोनों दृष्टियों से स्वरूप को समझा कर निश्चय को भी छोड़ देंगे और व्यवहार को भी छोड़ देंगे और एक निज शुद्ध आत्मा तत्व की कल्पना करेंगे। वह ज्ञान स्वभाव सामान्य है, वह तो शुभ अशुभ से नही परणमता। वह तो सामान्य दृष्टि से शुभ अशुभ भाव से नही परणमता। परन्तु जिस द्रव्य में वह सामान्य है, वहां भी शुभ अशुभ भाव से परणमता और वह सामान्य उस समय उस दृष्टि में कहलाता विशेष। इसलिए हम अपने ज्ञान स्वभाव की दृष्टि को प्रबल से प्रबल बनाएं और पर्याय बुद्धि से अपना चित्त हटावें। पर्याय का अनुभव हम यहां बराबर करते। परन्तु भेद विज्ञानसे व्यवहार करे तो कुछ आराम है जैसे मैं इस आत्मा से पृथक चीज हूं, इसीतरह दुनियां के प्रत्येक जीव को देख कर भी हमारे अन्दर यह भाव आये कि उनकी आत्मा भी उनके शरीर से अलग चीज है। हमारी आत्मा भी इस शरीर से न्यारी है, दूसरों के प्रति भी यही है। यह भाव लाने में कितनो झगड़ा मिटता। जैसे मेरी आत्मा मेरे शरीर से अलग है उसी तरह दूसरे की आत्मा भी उसके शरीर से अलग है। आत्मा २ न्यारी हैं और शरीर शरीर न्यारे हैं। शरीर शरीर लड़ नहीं सकते, क्योंकि वे

अजीव हैं। सब का स्वरूप बिल्कुल पृथक है। इस दृष्टि से निरंतर बंधा हुआ भी राग मिटना भी सरल है। कदाचित राग मिट जाय तो जो अनुकूलता आई है उससे सुख आ ही गया तो दूसरे की चिन्ता करने से क्या लाभ ? संसार अनादि से रहा और अनन्त काल तक रहेगा। जितने भी मोक्ष गये तो संसार का लक्ष चले जाने से गये। उनका रागादि भाव सब जाता रहा। यदि कोई मोक्ष चला जाता तो उसके पीछे भी संसार का कार्य उसी प्रकार चला करता। इसी तरह यदि घर में से कोई मर जाता है तो भी घर का कार्य चल रहा है। इस से वस्तु का स्वतन्त्र स्वरूप जान कर जगत के बाह्य पदार्थों से अपना चित्त हटा कर अपने स्वरूप को समझकर अपनी आत्मा की उन्नति में लगो। यहाँ की सारी चीज तो स्वप्नवत है। केवल आत्मा की दृष्टि करने से ही सब कुछ होगा। यहां का कोई समागम किसी का भला नहीं कर सकेगा।

ज्ञानके इस प्रकरणमें ज्ञानकी विशेषताओंको बतलाते बतलाते बीचमें अभी ३, ४ गाथाओंमें ज्ञानका कुछ ऐसा आकार वर्णन किया जिससे कुछ ऐसा अनुभव किया कि बड़ी कठिन चर्चा करते हुए बीचमें मानो आचार्य महाराजने भी आराम लिया और श्रोताओंने भी आराम लिया। ऐसी आरामकी चर्चा करनेके बाद आचार्य महाराज फिर वही बात लेते हैं। अब फिर उसी प्रकृतका अनुसरण करके यह बात बतलाते कि अतिन्द्रिय ज्ञान सर्वको जानता है। अतिन्द्रियज्ञानका सर्वज्ञपनेसे अभिनन्दन करते हैं। अभिनन्दनको सारी शक्ति लगाकर भी की जावे तब भी उसके अन्दरकी महत्ता बताना अशक्य है, इसी तरह अतीन्द्रिय ज्ञान सहजही स्वच्छ और पूर्ण अनाकुल है उसकी महत्ता कैसे कही जावे सो अतीन्द्रियज्ञानमें व्यक्त सामर्थ्य सर्व को जानना भो है अतः सर्वज्ञपने से अभिनंदन करते हैं अभिनंदन करते समय अन्तरहस्य-अन्तर्महत्वका अनुभव होते ही सर्व ओर से नन्दन-अभेद होजाता है इस की शैलीसे यहां आचार्य देव अतींन्द्रियज्ञानको सर्वज्ञपनेसे अभिनन्दनते हैं।

जंतक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७॥

केवलीके जाननेमें और हमारे जाननेमें ऐसा अन्तर है कि हम चीजको पकड़ते हैं और वे चीजको पकड़ते नहीं। पकड़नेका अर्थ हाथसे पकड़ना नहीं, बातचीतसे पकड़ना श्रद्धासे पकड़ना है। परन्तु उनके ज्ञान में वह पकड़ना नहीं होता। इस कारण हमें कई बार ऐसी बीचमें शंका हो जाती है कि इसे भी जानता है तो कैसे जानता है व क्या जानता है, कहां जानता है तथा सबको कैसे जाना। परन्तु जाननेका क्या काम है यह सोचे तो कोई शंका नहीं रहती। जानने का काम तो केवल प्रतिभास मात्र है। उसके अन्दर विकल्प करना भी ज्ञानमें नहीं फंसा है। जैसे कि तत्कालके जाये हुए बालकको कमरेमें सारी चीजें प्रतिभासमें आती हैं परन्तु उनमें उसके विकल्प पैदा नहीं होता, इसी तरहसे जब तक ज्ञान इन्द्रियोंसे पैदा होता है तब तक उसमें नाना उपाधियां होती हैं, परन्तु जब वह इन्द्रियों से रहित होजाता है अर्थात् अतिन्द्रिय ज्ञान होजाता है तब स्वभावसे ही सबको जानने वाला होता है। केवलीका जानना ऐसा है कि प्रतिभास मात्र। उनके ज्ञानमें सब बात गर्भित होजाती हैं। प्रतिभास मात्र स्वरूप होनेसे कहा गया कि वे अनन्त जान गये, परन्तु वहां अन्त नहीं कहा गया। जहां प्रतिभास मात्र है, उसे हम अपनी भाषा में कहें अपने विकल्परूप से सोचें तो उनका जानना न जानना समान है। ऐसा प्रतिभास मात्र अतिन्द्रिय ज्ञान जो है वह सर्वको जानता है इस रूपसे प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार निर्विकल्प प्रतिभास तक जावें तो प्रतिभास का विस्तार समझ में आवें।

जो ज्ञान में वर्तमान कालकी बातका जानता है, भूत कालकी बातको जानता है और भविष्यकी बात को जानता है और जो सबको एक साथ ही जानता है, सर्व ओरसे सर्व आत्मप्रदेशोंसे सर्वको जानता, विचित्र या नाना प्रकारके पदार्थों को जानता विषमको जानता ऐसे अर्थों को जो जानता है वह ज्ञान क्षायिक ज्ञान है। वर्तमान कालमें

जिसकी वर्तना कलित है, वर्तना माने उपस्थिति। एक समयकी सत्ता को या एक समयके परिणमनको वर्तना कह सकते। एक समयके परिणमको परिवर्तनकी शक्लमें नहीं जान सकते। इसलिए एक समयके परिणमनोंका नाम वर्तना रह सकता। भिन्न समयके परिणमनको परिणमन कहा गया। एक समयमें यदि वर्तना नहीं रहे, सत्ता नहीं रहे तो आगे भी क्या हो। वह सत्ता कुछ काम करके ही तो रहती, तो उस समयमें वह परिणमन चल रहा है, परन्तु उस समयके परिणमन का नाम वर्तना है। इस तरह वर्तमान कालकी चीज जिसके वर्तना कलित है अथवा चल रही है, अतीत कालकी और भविष्य कालमें भी जिसके वर्तन कलित है, उनकी वर्तना कलित है इसलिए जानते। कलित माने सत्ता का होना। वर्तमान काल, भूत काल तथा भविष्य कालमें उनकी वर्तना कलित है इसलिए आत्माके सर्व प्रदेशोंसे तीनों कालोंको एक साथ ही जानते।

यहां एक प्रश्न यह उठता है कि जब एक समयमें परिवर्तन नहीं और परिवर्तन भिन्न समयोंमें कहा जायगा और इसतरह केवली प्रत्येक समयकी सत्ताको जान रहे हैं, इसलिए उन्होंने पर्यायोंको नहीं जानी। इसका उत्तर यह कि एक समयमें परिवर्तन नहीं होता यह बात मुकाबले को लेकर कही है। एक समयमें जो परिणमन है वह पर्याय नहीं है ऐसा नहीं। प्रति प्रति समयका परिणमन पर्याय ही है। परन्तु एकसमयकी परिणति में यह नहीं छांट सकते कि इसतरह यह इतना जुदा होगया, इसलिए वर्तना कहा गया। तीनों कालोंकी जो पर्याए हैं. जो वर्तना है, उस पर्यायको वर्तनाके लक्षण में यह बतलाया कि यह नहीं बतला सकते कि इतना बदल गया। यह बातएक समय की दृष्टिमे नहीं बतला सकते परन्तु एक समयमें जो वह देखनेमें आरहा है वह पर्याय ही है। एक समय वर्तना भी पर्याय ही है। प्रति प्रति समयके जो पर्यायें हैं उनके होनेके कारण ही तीनों कालोंमें पर्याए आती हैं?

ऐसा है, हमारे ज्ञानमें यदि एक समय २५ पदार्थ आगए तो २५

पदार्थ ज्ञान में तो एक साथ आजाते, परन्तु ज्ञानमें एक साथ आजानेपर भी जैसे ये अपने स्थानपर तो न्यारे न्यारे ही हैं, इसी तरहसे वह सब पर्याए एक साथ उपयोग भूमिमें आजाने पर भी उनके क्षेत्रमें तो न्यारी न्यारी ही हैं। इसी तरहसे केवलीके ज्ञानमें तीनों लोक और तीनों काल की सारी पर्याए एक साथ आजाती, फिर भी कहीं ऐसा नहीं होता कि वहां क्षेत्र और कालमें संकरता आजाय। वे पर्याए जिस भिन्न भिन्न सत्ता रूपसे, पर्याय रूपसे अवस्थित हैं, वैसे ही उन्होंने जानी। उन्होंने उन पदार्थों को इसी तरहसे जाना कि वे जैसे हैं वैसे ही हैं। वे उनमें विकल्प नहीं करते। जो पर्याय जिस कालकी हैं, जिस तरहसे हैं, जिस नम्बरसे हैं, जो उनकी स्थिति है, वे सब एक साथ प्रतिभासमें आगई परन्तु उनमें विकल्प नहीं होता कि यह भूतमें है, यह वर्तमानमें है और यह भविष्य में है। जैसे तत्कालका जाया बालकको सब चीज कमरेमें मालूम तो हैं परन्तु उसके यह चीज कौनेमें रखी है, यह छत पर रखी है, यह खूंटीपर पर रखी है, ऐसा विकल्प नहीं होता, इसी तरहसे ज्ञानीको पदार्थोंके सम्बन्धमें विकल्प न होनेपर भी जहां जिस कालमें जो अवस्थित हैं वे सब पर्याएं प्रतिभासमें आजाती वहां विकल्प नहीं होता।

अभी एक प्रश्न यह उठा कि क्षेत्रकी चीज तो हमारी समझमें आ सकती है, परन्तु कालकी चोज सब जो नहीं हैं जो होवेंगी वह सब एक साथ कैसे जाननेमें आ सकती है। तो इसका समाधान यह है कि जब छद्मस्त के भी भूतकाल और भविष्यत् कालकी बात आजाती है तो इसमें भी कोई सन्देह नहीं होता। परन्तु एक साथ कैसे आजाती है? एक साथ वहां क्यों आजाते हैं, जैसेवहां यह प्रश्न करते वैसे हमें यहां भी प्रश्न करना चाहिए कि जब ज्ञानका स्वभाव जानना है तो वहां क्रम क्यों लगाते हैं। हमारे जो कृम पड़ गया है, इसका कारण है क्षीयोप शम अवस्थामें रहने वाले ज्ञानावरणके पुद्गल। उनके करण मात्रनि- मितमें हम तीनों कालके पदार्थोंको एक साथ नहीं जान सकते। एक साथ जान सकते इसमें कारण नहीं ढूंढा जाता स्वभावमें कारण नहीं

होता, विभावमें कारण होता है, क्रममें कारण है और अक्रममें कोई कारण नहीं होत। क्रममें आश्चर्य है, खेद है, अफसोस है, पर अक्रममें नहीं। वह अक्रमही-एक साथ जानता।

प्रश्न यह होता है कि जो चीज सत्तासे नष्ट होगई उसका जाना कैसा? इसका यह उत्तर है कि जो चीज नष्ट होगई उसको हम भी जानते। ज्ञानोपयोगमें इस ज्ञान भावमें जो समस्त ज्ञेयाकार झलके वे उस ज्ञान पर्यायमें वर्तमानकी तरह है। जैसे कि हमारे ज्ञानमें १० वर्ष पुरानी घटनाकी याद आई तो वह आजकी हमारी ज्ञान पर्यायमें वह तो वर्तमान है परन्तु उस जगहमें और उस कालमें तो वह घटना तो भूत ही है। ज्ञानमें तो ज्ञेयाकार रूपमें वर्तमान है अर्थात वे सबके सब हमारे ज्ञानमें झलके यह झलक तो वर्तमान है, यह झलक तोहमारे ज्ञान की इस समयकी पर्याय है, इसलिए उनका जानना सब हमारे लिए वर्त-मान है, परन्तु वह घटना वर्तमान नहीं है। इसलिए जो वस्तु नष्ट होगई उसको भी जाना जाता।

ऐसे समस्त अर्थ समूहको, कैसा है यह अर्थ समूह, इसके बहुत सुन्दर विशेषण देते हैं, पृथक पृथक रहनेवाले जो निज निजके लक्षण हैं, जो पदार्थोंकी विशेषता वतलाते हैं। ये जो अलग अलग अपना लक्षण लिए हुए हैं इनको कहते हैं उनकी लक्ष्मी। लक्ष्मी नाम लक्षण का है। इस पदार्थका जो स्वरूप है वह इस पदार्थकी लक्ष्मी है। आत्मा का स्वरूप आत्माकी लक्ष्मी है। प्रत्येक द्रव्यका लक्षण उस द्रव्यकी लक्ष्मी है। पृथक पृथक रहने वाली रूप लक्ष्मी, उस लक्ष्मीसे इंगित किया हुआ जो अनेक प्रकारकी प्रगट वैचित्र्य है जिसमें वह है अर्थ समूह। जिन अर्थोंमें यह बात प्रगट कर देते हैं कि यह भिन्न भिन्न परिणतिको लिए हुए हैं, भिन्न भिन्न परिणतिको लिए हुए नाना प्रकार के पदार्थोंको यह ज्ञान जानता है और कैसे हैं वे पदार्थ? विषम हैं। आग गरम है, पानी ठंडा है, यह दोनोंमें विषमता है। परन्तु दोनों का ज्ञान एक साथ है। इस ज्ञानमें परस्पर विरोधी अनेक पदार्थ रहते हैं।

परस्पर विरोधी अर्थात पैदा होती है असमानता जिसमें, ऐसे ये पदार्थ हैं। यहां राज्यशासन जैसी वीतराग अवस्था है कि व्यवहारमें विषमता होते हुए भी चतुर राजा वह है कि सब को अपने शासन सूत्रमें बांधें रक्खे। इस लोकमें नाना प्रकारके पदार्थ अलग अलग जाती और परिणतिमें रहते हुए एक समयमें जिनको जान रहा हैऐसा वह ज्ञान है। वह विचित्र विषम सर्व पदार्थोंको एक साथ ही जानता है। इसलिए वह ज्ञान क्षायिक कहलाता है। स्वभाविक कहलाता है। स्वभाव विशेष तर्क का गोगचर नहीं। जैसे कोई पूछे कि नीमके पत्ते कड़वे क्यों होगए ? उत्तर दिया जाता, उनका स्वभाव है। स्वाभवमें शेविष तर्क नही उठा करते। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है उस स्वभावसे ज्ञान सबको जानंगया यह तो उसका स्वभाव है। सबको जानता है इसमें आपत्ति पेश करने की गुंजाइश नहीं। अपनेमें आपत्ति करो कि मैं त्रिकालको क्यों नहीं जानता। मैं सबको क्यों नहीं जानता। अपने क्रम ज्ञानमें प्रश्न पैदा करें और कारण खोजें इसका भी उत्तर साफ है कि वह ज्ञान समस्तअर्थ समूह में एक ही कालमें प्रकाशित करता है क्यों कि केवलीके ज्ञानावरणी कर्म पुद्गल नहीं रहे। क्षयोपशम जो पहले अवस्थामें रहते थे वे ज्ञानावरण कर्म हैं। क्षयोपशम अवस्थामें रहने वाले जो ज्ञानावरणके कर्म पुद्गल हैं वे कारण थे हमारे ज्ञानको क्रमसे चलानेमें। उस में यह व्यवस्था है कि ज्ञानका उपयोग क्रमसे चलता। जिनके मतिज्ञान और श्रतज्ञान भी हैं उनके भी दोनों ज्ञान एक समय में नही चलते। हमारी भी यही व्यवस्था है जिनके ये दोनों ज्ञान हैं। और इस तरह जितना भी हमारा ज्ञान आता है सब क्रमको लेकर आता है। इसमें कारण यह है कि क्षयोपशम अवस्था में रहने वाले ज्ञानावरण कर्म पुद्गल वहां हैं। केवलीका ज्ञान उन क्षयोपशम अवस्था में रहने वाले ज्ञानावरण कर्म पुद्गलोंके अभाव से सबको जानता है। सब ओर से क्यों जानता, अब यह प्रश्न उठता है। सब ओर से यों जानता है कि वह सबसे निर्मल होगया। किसी भी आत्म प्रदेशमें कोई कालिमा नहीं रही।

उसमें प्रतिनियत देश विशुद्धि भी नहीं होती। जैसे एक कमरे में ५ खिड़कियां हैं तो प्रति नियत अवकाश होनेसे हम खिड़कियों से ही जान सकते हैं, परन्तु भींत सारी गिर जाय तो सब विकाश होगया और सब तरफ से देख सकते। जब प्रतिनियत देशविशुद्धि ही नहीं रही और सर्व विशुद्धि रह जाय तो यह आत्मा सर्व ओर से जानता है। उसको सर्वज्ञ कहा गया है, अनन्तज्ञ नही कहा गया। अनन्त कई प्रकार के होते हैं और वे सारेके सारे केवलज्ञानसे कम होते हैं। कम होते हैं ऐसा कहने में कही यह दृष्टि नहीं लगाना कि उसकी हद होगई। हद न होनेपर भी कम अधिक का यहां प्रयोग है। क्योंकि सर्व पदाथ समूह मिलकर भी केवलज्ञान की शक्तिके जो अंश हैं उनकी बराबरी नहीं कर पाते। जैसे किसी आदमीकी समझ की हद १०० की संख्यासे परे है और वह बड़ा जोर लगाकर भी केवल ९० तक ही जान पाता और पूछता कि १०० कितने होते तो बताते कि १०० में से १० घटा दो और जो बचे उसमें १० जोड़ दो इतने १०० होते हैं। इसी तरह बताते कि केवलज्ञान की शक्तिके अंश इतने हैं कि सर्व प्रकारके अंशों को सर्व प्रकारके अर्थ समूहों को जोड़कर उसमेंसे घटादो और जो कुछ बचे उसमें उन अंशोंको जोड़ दो, इतने केवल ज्ञानकी शक्ति के अंश हैं। केवली भगवान केवल पदार्थों को ही जानते होते तो कह देते कि वे अनन्तज्ञ हैं, परन्तु केवली तो अपने ज्ञानकी शक्तिके अंशोंको भी जान रहे हैं, पदार्थों को भी जानते हैं, जितने केवली हुए हैं उन सबकी शक्तिके अंश भी जानते हैं, उनकी ज्ञान पर्याय को भी जान रहे हैं, इतना जानने के कारण उनको अनन्तज्ञ न कह कर सर्वज्ञ कहा गया। भगवान का ज्ञान अलौकिक है। उसमें ऐसी स्वच्छता है कि सर्व प्रतिभास उसमें आ जाता। परन्तु वह हम लोगोंकी तरह हम लोगोंकी दृष्टि में स्पष्ट कहा जाता है ऐसा स्पष्टाभास उनके ज्ञान मे आवे तो वह सर्वज्ञ नहीं रह सकते, वे तो हमारी ही तरह रह जाऐंगे। उनका ज्ञान तो सर्वका प्रतिभास है। यह कैसे समझा जाय कि सर्व का प्रतिभास है?

उनके सर्व ज्ञानावरण का क्षय हो गया। ज्ञानावरण कितने थे ? हमारी आत्मामें ज्ञानावरण कितने हैं, जितने ज्ञान हैं उतने ही ज्ञानावरण हैं। जितने ज्ञेयोंका ज्ञान है उतने हो ज्ञानावरण हैं। उन सबका क्षय होगया और क्षयोपशम यहां रहता नहीं तो वे सर्व को ही प्रकाशित करेगा। जब तक क्षयोपशम रहता तब तक सर्वको प्रकाशित नहीं करता। सर्वज्ञ ज्ञान में क्षयोपशम नहीं रहता तब वह सबको प्रकाशित करेगा।

अब कहते कि विचित्रको भी प्रकाशित करता। नाना प्रकारकी सत्तामें रहने वाले विचित्र पदार्थोंको भी प्रकाशित करता। ज्ञानके सर्व प्रकारके ज्ञानावरणों का होगया क्षय और कुछ ही प्रकारके ज्ञानावरणी जो क्षयोपशमरूप चल रहे थे उनका भी होगया विनाश इसलिए वे विचित्रको भी प्रकाशित करते। विषमको भी जानते। असमानजातीय ज्ञानावरणका होगया क्षय और कुछ समान जातीय ज्ञानावरणोंका क्षयोपशम जो हुआ था उसका विनाश है नेसे वे विषमको भी जानते हैं फिर कहते कि ज्यादा विस्तार करना व्यर्थ है। मालूम होता कि जैसे व्याख्याता व्याख्यान देना देता श्रोताओंको देख लेता कि सुनते सुनते थक गये तो कहता कि अब मैं आप लोगोंका ज्यादा समय नहीं लेकर केवल उपसंहार करके अपना स्थान लूंगा, उसी प्रकार आचार्य भी जो यह कहते हैं कि हम विस्तार करना नहीं चाहते उसका यह तातपर्य हो-गा कि उन्होंने समझा कि ज्यादा विस्तार कर देनेसे ग्रन्थके बढ जानेके कारण लोग उसे पढकर थक जाएगे। इसलिए कहते कि ज्यादा विस्तार करना व्यर्थ है। सारा तात्पर्य इतना वर्णन करनेका यह है कि ज्ञानका स्वभाव जानता है। जाननेका अर्थ प्रकाश है और उसका प्रकाश निन-वारित है। ऐसा प्रकाश करके सत होनेमें क्षायिक ज्ञान स्वभाव ही सर्व जगह सर्व प्रकार सर्वको ही जानता यहतात्पर्य निकला।

आगे चलकर यहबतलाया है कि जो सर्वको नहीं जानता वह एकको भी नहीं जानता। सबको न जानता हुआ एकको भी नहीं जान-ता इसका निश्चय आचार्य देव करते हैं-निश्चय प्रभुकी आत्मामें नहीं

किया जारहा है वस्तुत, निश्चय निश्चय करने वाले आत्मामें ही होता है। ज्ञानकी व्यञ्जना कैसी होती है निमित्त दृष्टि छूट कर तथा बाह्यविकल्प सीं छूट कर आत्मा में ज्ञानकी क्या परिस्थिति होती है इन रहस्योंका अनुभव करने वाले आचार्य निःशंक निश्चयकरते हैं।

जो ण विजाणदि जुगवंअत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णाहुँ तस्सण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥४८॥

जो त्रिकालवर्ती त्रिभुवनस्थ सब पदार्थों के युगपत् नहीं जानता है वह निज आत्मा को भी नही जानता है अथवा वह सब पर्यायों सहित एक भी ज्ञेय द्रव्य को नहीं जानता। एक ही पदार्थ को समस्त पर्याय सहित जाननेकी योग्यता उन्हींमें है जो सब द्रव्योंको सर्वपर्याय सहित जानता है। अथवा सर्वज्ञका ज्ञान समस्तज्ञेयाकार परिणत है सो सवज्ञेयोंके ज्ञान ने पूर्वक ही तो खुदका जानना बन सकता है।

केवली भगवान सबको जानते हैं इसलिए वे अपने आप को भी सही जान जाते हैं। यदि वे सबको नहीं जानते होते तो अपने आपको भीसही नहीं जान सकते थे। वे केवली तीन कालके रहनेवाले पदार्थोंको तीन लोकके रहने वाले पदार्थोंको एक साथ नहीं जानते हैं तो सर्व पर्यायों सहित जो एक निज स्वभाव है उसे भी जानने में वे समर्थ नहीं हो सकते। एक तो आकाश द्रव्य है, एक धर्म द्रव्य है, एक अधर्म द्रव्य है, असंख्यात काल द्रव्य हैं, अनन्त जीव द्रव्य हैं और उससे भी अनन्त गुणें पुद्गल द्रव्य है, ये समस्त ज्ञेयोंकी चर्चा चल रही है। इससे कहीं यह बात नहीं सिद्ध होगी कि पुद्गल द्रव्योंसे तो अनन्तवेभाग कम जीव द्रव्य हैं, इसलिए उनके तो अन्त आजाता होगा। परन्तु ऐसा नहीं है। जीव भी इतने अनन्त हैं कि जिनका अन्त है ही नहीं और इसितरह से अनन्त पुद्गल द्रव्य हैं जिनका कि अनन्त नहीं है। यहां एक जीवके ही भोगमें आने वाले एक जीवके ही सम्बन्धमें आने वाले पुद्गल अनन्त हैं। सबसे सूक्ष्म अवगाहना वाला जीव सूक्ष्म निगोदियाजीव होता है। उसके भी औदारिक शरीर ज. होता है उसमेंभी

अनेक वर्गणाएं हैं और जो एक एक जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध है वहां कर्म वर्गणाएं भी अनन्त हैं। यदि जितने जीव होते उतने ही कर्म होते, उतने ही कर्म परमाणु होते, ते एक परमाणु में या २, ४ परमाणुओंके स्कन्ध में इस निमित्तपने की कारणता नहीं हो सकती कि वह जीवके कषाय भावका निमित्त हो सके। ऐसे एक जीवको जाननेके लिये अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं की आवश्यकता है। उस जीवके शरीरके परमाणुओं की संख्या भी अनन्त असंख्यात हैं, तब फिर जिन कार्यों को यह जीव छोड़ चुका है और जो उनके रूपको देख रहा है तो ये अनन्तानन्त कर्म परमाणु भी उनके दीखने के आगये। तो जीव द्रव्य से अनन्तानन्त गुणें पुद्गल द्रव्य हैं। इतना ही नहीं कितने ही कितने ही इन द्रव्योंमें से प्रत्येक को अतीत और अनागत कालमें जो अनुभव में आने वाली पर्यायें हैं उनकी अनेक पर्यायोंका जो एक प्रवाह होता है, उस एक प्रवाह में पतित अनन्त पर्यायोंका भी ज्ञान हो गया। इतने तो सारे अनन्त द्रव्य हैं ये सब स्वतन्त्र हैं। अनन्तानन्त जीव द्रव्य, अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य, आदि सब अपनी अपनी सत्ता को लिये हुये हैं। असंख्यात काल द्रव्य हैं वे भी, आकाश द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, वे भी सब अपनी जुदी जुदी सत्ताको लिये हुए हैं। अव्वल तो इनकी संख्या ही अनन्तानन्त है, फिर इनकी अनन्तानन्त पर्यायें हैं। यह सब मिलकर ज्ञेय कहलाते। अनन्तानंत द्रव्य और उनकी प्रत्येक की अनन्तानन्त पर्यायें, यह सब समूह ज्ञेय है। और यह ज्ञाता कौन है? एक जीव द्रव्य ज्ञाता है। एक तो ज्ञाता और ये सब के सब ज्ञेय हैं। ज्ञाता भी यद्यपि अनन्तानन्त है, परन्तु एक ज्ञाताके लिये तो सबके सब ये ज्ञेय ही हैं। इस तरहसे ज्ञेय तो कितने ही हैं, परन्तु ज्ञाता तो एक जीव द्रव्य ही है। सो वह जीव द्रव्य, जो कि अपने पूरे ज्ञान स्वभाव में आगया है, वह जीव द्रव्य यदि सर्व को जानने वाला नहीं है तो अपने आपको भी नहीं जान सकता। सर्व को जान लेता है इसी लिये अपने को भी जानता।

किस तरह से सर्व को जान लेता ? जब कोई ज्ञानावरण ही नहीं रहता तो इस ज्ञान में ऐसा स्वभाव प्रगट होता है कि सर्व इसके ज्ञेय होजाते हैं। ऐसी हालतमें यदि ज्ञेयों को न जाने तो अपने आपको कैसे जान सकता है। जैसे एक दर्पण है, दर्पणके सामने एक पेड़ खड़ा है, पेड की डालियां, पत्ते, पुष्प, फल, छाल आदि सभीके सभी दर्पण में प्रतिविम्ब में आ रहे हैं। आप प्रतिविम्ब को मत देखो, दर्पण को देखलो, क्या विना प्रतिविम्ब के देखे दर्पण को देख सकते हो ? प्रत्यक्ष बात है कि आप दर्पण को नहीं देख सकते। दर्पण का प्रतिविम्ब और उसकी सारी पर्यायें देखने पर ही दर्पण देखनेमें आसकता है। जैसे ज्ञानी के ज्ञानमें सर्व पर्यायें आईं, वहां सर्व ज्ञेयोंको नहीं जान पाया तो वह अपने ज्ञानको भी नहीं जान सकता। समस्त ज्ञेय जाननेमें नहीं आने पर वह एक भी जाननेमें नहीं आ सकता। जैसे कोई अन्धा सूर्यके द्वारा प्रकाशमें आने वाले पदार्थों को नहीं देख पाता तो एक सूर्य को भी नहीं देख पाता, इसी तरह से यदि कोई सर्व ज्ञेयों को नहीं जान पाये तो अपनेमें अवस्थित एक आत्माको भी नहीं जान पाता। कारण यह है कि जब सारे ज्ञानावरण मिट गये और ज्ञानका स्वभाव जानने का है और सर्व ज्ञेय इस स्वभाव के कारण ज्ञानमें प्रतिविम्बित होते हैं, कोई यदि यह चाहे कि उन ज्ञेयोंको न जाने और अपने आप को जान जाय तो यह बात नहीं हो सकती। जब जैसे प्रतिविम्ब को न देखते हुए दर्पणको भी देखने वाला नहीं बन सकता, इसी तरहसे सब ज्ञेयोंको न जानते हुए वह केवली अपने आपको भी नहीं जान सकता। जिस ज्ञातामें ज्ञान स्वभावके कारण सर्व ज्ञेयोंका आकार आया, वहां वह सर्व ज्ञेयोंको न जाने तो वह अपने आपको भी नहीं जान सकता।

इस गाथाको इस तरहसे सोचना चाहिये कि केवलीका ज्ञान जो है उसका ज्ञान स्वभाव होने के कारण सर्व ज्ञेयोंका प्रतिविम्ब उसमें आया है। प्रतिविम्ब नहीं आता उसका ग्रहण आता है जिसको ज्ञेया-

कार कहते। उनके ज्ञानमें सब ज्ञेयोंका ज्ञेयाकार आता। इतना मानने के बाद इस गाथाका रहस्य समझो। यदि वह ज्ञानी सर्व ज्ञेयोंको नहीं जानता तो वह अपने आपको भी नहीं जानता। जैसे एक गोले के प्रमाण वाली अग्नि, यदि वह इतने दाह्यको नहीं जलाती है तो वह अग्नि इस समस्त दहनके आकार रूपमें नहीं परिणमन सकती। जैसे समस्त दाह्यको जलाने वाली अग्नि समस्त ईंधन के कारण जो दाह्य आकार बना तब वह इतने आकार की अग्नि कहलाई। इसमें दोनों चीज हैं, जैसे मानो कुछ इतने छोटे कन्डे में आग लगी है उसके पूरे कन्डे में आग लग चुकी है, अब यह जो है यह इतने समस्त एक दहन आकार रूपमें कैसे परिणमी, क्या करती हुई परिणमी? इतने कन्डेको जलाती हुई ही इतने स्वरूप रख पाई। इसी तरहसे समस्त ज्ञेयोंको जानने वाला ज्ञानी समस्त ज्ञेयोंके निमित्त कारणसे समस्त ज्ञेयाकार ज्ञेयोंमें परिणमता, इसी तरहसे ज्ञाता यह आत्मा होनेके कारण अपनी आत्माको परिणमता है। जैसे कल्पना करो कि यदि वह दर्पण खुद जानने वाला होता तो वह दर्पण अपने निज स्वभावको निज परिणाम को तब तक नहीं जान पाता जब तक वह अपने सारे प्रतिबिम्ब को नहीं जान लेता। इसी तरहसे आत्मा तो स्वयं का जानने वाला है ही। यह आत्मा स्वयं का जानने वाला तब तक नहीं बन सकता जब तक कि इसमें समस्त ज्ञेयाकार के ग्रहणको नहीं जान पाया, तब तक वह अपने आपको भी नहीं जान सकता।

इस बातको अपने पर घटाओ। केवलीको छोड़ दो। हम अपने आप को जो अनुभव कर रहे हैं, हम अपने आपके ज्ञानको जो जानते हैं तभी जान पाते हैं कि हमारे ज्ञानमें जो भी आये इसको जानते हुए ही हम अपने आप को जान पाये। जो जैसी अवस्था है उसी अवस्थामें जितना ज्ञेयोंको जानना हो रहा है और जो ज्ञेयाकार जान रहे हैं उनको जाने बिना अपने आपको नहीं जान पाते। यहां तो हमारे में कतिपय ज्ञेयाकार आते हैं और वहां केवलीके ज्ञानमें सर्व ज्ञेयाकार

एक समय में आते हैं।

यहां यह प्रश्न किया कि केवलीकी उस वातको समझनेके लिए यह दृष्टान्त किया, कि ज्ञेयाकार को जानकर भी हम अपने आपको ज्ञान पाते। परन्तु ज्ञेयाकारको जानकर भी अपने आपको नहीं जान पाते ऐसे भी कई व्यक्ति यहां हैं। उत्तर यहां आत्माके साधारण अनुभव से मतलव है। आत्माके अनुभवके विना दुनियां का कोई प्राणी नहीं रहता। मिथ्यादृष्टि सुख दुख रूप से अनुभव करता, सम्यक्दृष्टि अपने आपको ध्रुवज्ञान स्वभावसे अनुभव करता, परन्तु अनुभव करने से अलग कोई नहीं रहता। ज्ञेयाकारों का अनुभव किये विना वह अपने आपका अनुभव नहीं कर सकता। अपने आपके सत्य अनुभव करने की वात नहीं कही है। जैसा भी अनुभव हो उस समय वह ज्ञान उन पर्यायों के अनुभवके विना नहीं हो सकता। निगोद से लेकर सिद्ध पर्याय तक सव जीवोंका यही हाल है। प्रत्येक द्रव्य अपनी ही पर्यायोंका अनुभव करता ही है। ऐसा द्रव्य का स्वभाव है।

यदि मिथ्यादृष्टि अपनी आत्माका अनुभव न करे तो उसे सुख दुख हो ही नहीं सकता। यहां आत्माका अनुभव करने का तात्पर्य सच्ची आत्मा का अनुभव नहीं। आत्माके अनुभवके विना सुख दुखका अनुभव नहीं हो सकता। सुख दुख का भी अनुभव आत्माका ही अनुभव है। सम्यक्दृष्टि तो अपने अन्दर आये हुए पापों की विवेचना करता है और मिथ्यादृष्टि अपने अन्दर आये हुए पापों की विवेचना नहीं कर रहा है, वह तो अपने अन्दर आये हुये पापोंका अनुभव कर रहा है। दोनों जगह अनुभवन चल ही रहा है। जैसे किसी मिथ्यादृष्टि ने किसी स्त्री पुत्रके विषय में ऐसा परिणाम किया कि यही मैं हूं, यह निकृष्ट दरजेका परणाम है। पर पदार्थ के लिये यह सोचना कि यह मैं हूं, यह निकृष्ट परिणाम है। पर पदार्थमें यह मेरा है यह उतना खोटा परिणाम नहीं, परन्तु यह मैं हूं यह तो निकृष्ट परिणाम है। यह मेरा है यह कहता हुआ वह यह तो कह रहा कि इसकी सत्ता न्यारी है

और मेरी सत्ता न्यारी है । यह परिणाम करते हुए उसने उस पदार्थ पर दया तो कर रखी है कि उसको सत्ता से न्यारा रखा इसमें अपनी भी दया आगई। परन्तु 'यही मैं हूं' कहने में तो उसने उसकी सत्ता ही मिटा डाली । ऐसा कहने में कि वह आत्मा वह बन गया इसमें तो उस आत्मा की सत्ता ही मिट जाती। इस परिणामसे तो उसने बिल्कुल अशुद्ध परिणाम का अनुभव किया परन्तु ऐसा होने पर भी उसने अपने विकल्पका ही अनुभव किया न कि परका वह उसको जानता मात्र है। जो केवली जिनका ज्ञान स्वभ.व होने के कारण सर्व ज्ञेय जानने में आये, यदि वह सर्व ज्ञेयोंको नहीं जानें तो अपने आप को भी नहीं जाने।

प्रश्न उठता कि ऐसा समझाने का अभिप्राय क्या है ? अभिप्राय यह है कि कहीं कोई यह धारणा न करले, जैसे कितने ही सिद्धान्त भी ऐसे हैं कि आत्मा तो केवल आत्मा को ही जानता, जैन सिद्धान्त में भी यही सिद्धान्त है, निश्चय से आत्मा आत्माको ही जानता, ऐसा सुनकर कोई जीव इस सन्देहमें न आ जाये कि आत्मा तो केवल आत्मा को ही जानता, और किसी भी पदार्थको नहीं जानता उसका समाधान करने के लिये यह बात बतला रहे हैं कि जो समस्त ज्ञेयोंका समस्त ज्ञेयाकार ग्रहण रूप पर्यायमें आगये, सर्व ज्ञेयाकार उस ज्ञाताके ज्ञानमें गृहीत हैं यह बतलानेके बाद यह बतलाते कि नियम से सर्व ज्ञेयोंके जाने बिना अपने आपको नहीं जान सकते। यह कहते हुये उन के हित के स्वरूप का ज्ञान करा रहे हैं । उस हालतमें वह ज्ञानी भी समस्त ज्ञेयोंको नहीं जानता। समस्त ज्ञेयोंके निमित्त से जो समस्त ज्ञेयाकार पर्यायोंमें परिणति हुई वह ज्ञान है उसे जानता। यदि समस्त ज्ञेयाकारों को नहीं जाना तो उस ज्ञेयाकार स्वरूप आत्माको भी नही जान सका। वह आत्मा भी स्वानुभाव प्रत्यक्ष में नहीं आ सकी। जैसे दर्पण प्रतिबिम्ब के ज्ञानके बिना नहीं देखा जा सकता, इसी तरह से ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा यहां है कि समस्त ज्ञेयोंके आकारसे ज्ञाना-

कार परिणाम रहा है तो वहां भी यह नहीं हो सकता कि समस्त ज्ञेयों को न जाने और अपने आपको जान जावे। इस प्रकार यह बात सिद्ध होगई कि जो अपने आपको नहीं जानते वे सर्वको नहीं जानते और जिसका अभिप्राय था कि आत्मा कैसी है यह बात जब तक जानने में नहीं आयेगी तब तक कि वह अपने आपको नहीं जान जायगा।

सांख्य सिद्धांतमें ऐसा माना है कि यह ज्ञाता आत्मा केवल अपने को द्रव्य रूप करता है, इसके अलावा यह पुरुष और कुछ नहीं कर पाता इसके लिये जिन सिद्धान्त को भी बताता कि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से ज्ञान आता। वह आत्मा जानता नहीं परन्तु ज्ञानावरण का क्षयोपसम आत्मा को जनाता। आत्मा साता है न असाता परन्तु वह तो कर्मों के उदयसे अनुभव करता। यदि वह सुखी है तो उसके साता कर्मका उदय है, वह दुखी है तो उसके असाता कर्मका उदय है। यदि ऐसा ही मानते रहेंगे कि आत्मा केवल द्रव्य रूप को करता, वह और कुछ भी करे वह क्रिया आत्मा को करती ही नहीं, चाहे वह व्यभिचार करे, चाहे वह मांस मदिरा खाये, उस से आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता। वे आत्मा ज्ञानके विषयमें भी यह ही कह सकते कि वह ज्ञान जानता किसी को भी नहीं और केवल अपने आप को ही द्रव्य रूप करता तो ऐसे गलत अभिप्राय को मिटाने के लिये यह गाथा कही गई है कि वह ज्ञान जो ज्ञेयाकार उसमें आये हुये हैं उनके अनुभवके बिना रह ही नहीं सकता। एक ज्ञानमें ज्ञेयाकर पर्यायोंका अनुभव किये बिना ज्ञान रहेगा क्या? और अपनी क्रियाको करेगा क्या? जिसके जैसी पर्याय है उसका अनुभव किये बिना वह उसकी क्रिया होगी क्या? इसलिये केवली भगवान सर्वको नहीं जानते तो अपने आपको भी नहीं जान पाते। इस आत्मासे जब तक सर्वको नहीं जान लिया जाय तब तक वह आत्मा जाना नहीं जा सकता। तो इस गाथा में यह सिद्ध किया गया है कि जो सर्वको नहीं जानता वह आत्माको भी नहीं जानता।

यहां यह प्रश्न हुआ कि हम जिस समय घटको जानते हैं उस घटका ज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान दोनोंका ज्ञान एक साथ हुआ कि क्रमसे हुआ है। उत्तर है कि घटज्ञान और घटज्ञानको एक साथ होते। ज्ञानमें घटज्ञानके ज्ञानके बिना घटज्ञान का या घट का निश्चय नहीं हो सकता। जो जाना वह ज्ञान उसका सच्चा है, यह पदार्थ सच्चा है यह जाननेके साथ उसके उत्तरमें यह प्रतीति बैठी कि उसके जाननेवाला ज्ञान वह भी सच्चा है। तो घटज्ञान और घटज्ञानका ज्ञान दोनों एक साथ ज्ञानमें हुए। इसका कारण यह है कि आत्मा घटको नहीं जानता। इस घटका निमित्त पाकर इसका जो आत्मामें घटाकार प्रगट हुआ उस आकारको ही जानता। ज्ञानको उस घटज्ञानमें ऐसी आवश्यकता नहीं होती कि वह अपने आत्म प्रदेशको छोड़कर बाह्यक्षेत्रोंमें भी कुछ क्रिया करे द्रव्यके किसी गुणमें यह शक्ति नहीं है कि वह अपने प्रदेशको छोड़कर बाहर क्रिया कर सके। एक घटकी क्रियाको पाकर जो यहां घटाकार होता है, उसने उस घटाकारको जाना। इस तरह ज्ञेयाकार और ज्ञानाकारमें जो परिणमन होता है वह एक ही साथ परिणमन होता है छद्मस्तके दो उपयोग एक साथ नहीं होता, परन्तु यहां दो उपयोग ही नहीं। वह तो एक ही उपयोग है। घटज्ञान जो परिणम गया है वह घटज्ञान और बाह्य उपचारसे किया गया घटका ज्ञान वह दोनों तो एक ज्ञान है, प्रकार दो कहलाये। परन्तु वह तो एक ही उपयोग है और वह एक ही उपयोगकी ऐसी क्रिया है। इसलिए ज्ञानको स्वपर प्रकासी कहा है। अर्थात् ज्ञान स्वयंको और परको एक साथ जानता है। वह एक ही विषयको लिये हुए जानता है। अब प्रकासपर आइये इस तरहसे यहां यह बात सिद्ध हो गई कि जो सर्व को नहीं जानता है वह आत्माको भी नहीं जानता है। केवली यदि सर्वको नहीं जानते तो वह अपने आपको भी नहीं जान सकते। अब इसके बादमें यह कहा है कि जो अपने आपको एकको नहीं जाने वह सर्वको भी नहीं जान सकता। जैसेकि आप यदि उस प्रतिबिम्बमय दर्पणको नहीं जाने जिसमें वृक्षका बिम्ब है तो फूल, पत्ती, डाली, वगैराह

इन सबको भी नहीं जान सकते। आप यदि एक दर्पणको नहीं जानसकेंगे तो सारे पेड़को भी नहीं जान सकते। इसी तरहसे केवली एक उस आत्माको नहीं जाने तो सर्वको भी नहीं जान सकता। इसके कहनेका क्या प्रयोजन ? इसके कहनेका एक प्रयोजन है कि जैन धर्म अनेकान्तमें सेनिकले हुए सिद्धान्त को रखता है। उस अनेकान्त धर्ममें से निकले हुए एक ही सिद्धान्तको हठ करके माननेवाले जगतमें वुद्ध अनेक हैं। किसीने ऐसा समझ रखा कि ज्ञान तो अपने आपको ही जानता और किसीको भी नहीं जानता, इसलिए यह शंका होगई कि वह दोनों उपयोग एक साथ कैसे होगये। दुनियां भर को तो जान गया पर अपनेको नहीं जान रहा ऐसी शंका यहां भी हम कर रहे हैं। पर वहां भी अपने आप को जानन अनुभव विना उसके सर्व का जानना नहीं हो सकता। जिन का यह सिद्धांन्त है कि ज्ञान परको ही जानता है उनका यह खंडन है कि वह खुद को नहीं जाने तो पर को भी नहीं जान सकता। केवली यदि निजको भी नहीं जान सकते तो सबको भो नहीं जान सकते। जो दुनियां भरके लड़कोंको जिनमें वह परकीय बुद्धि करता नहीं जानता तो वह अपने लड़केको भी नहीं जानता। वह यदि अपने लड़केको यह मेरा लड़का है ऐसा नहीं जाने तो दुनियां भर के लड़कोंको भी ऐसा नहीं जानसकता कि ये परके लड़के हैं। जिसने केवल अपना ही लड़का देखा है और दुनियांके और लड़कोंको नहीं देखा तो उसको यह बुद्धि नहीं हो सकतो कि यह लड़का मेरा है और जो अपने लड़केको अपना नहीं जानता, वहां परके लड़कों को भी यह दूसरेके हैं ऐसा नहीं जान सकता। यहां यह शंका उठेगी कि कोई आदमी जिसके लड़का नहीं है तो यह कैसे जानेगा कि यह परका लड़का है। इसका उत्तर है कि वह यह भी तो जानेगा कि मेरे लड़का नहीं है। ऐसा सोचनेमें भी उसने अपना लड़का बना ही तो लिया। जब अपना लड़का बन गया तब यह कहा जाता कि यह दूसरे का लड़का है। साधु जनोंके यह विकल्प ही नहीं होता कि यहदूसरोंका लड़का है क्योंकि खुदका लड़का माने विना यह विकल्प नही हो सकता

यह तो विकल्प आजायगा कि यह इसका लड़का है परन्तु यह विकल्प नहीं आयगा कि यह परका लड़का है। यह तो बात की संगतिमात्र कहो मोहियो की लीला का उदाहरण है यहां तो आत्मा व ज्ञेयाकार का व्यापक व्याप्य सम्बन्ध है।
अब श्री मत्कुकुंदकुंदाचार्य यह निश्चय करते हैं कि जो एक निजआत्मा को नहीं जानता वह सर्व को भी नहीं जानता है।

दव्वं अणंत पज्जय मेक्कमणंताणि दव्व जादाणि ।
णविजाणदि जदिजुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि ॥४७॥

निज आत्मा अनंत पर्याय करि त्रिकालमें सहित है और वर्तमान काल में निजकी समस्त अनन्त शक्तियों के पर्याय करि संयुक्त है और शुद्ध आत्मा में भी स्वरसतः सर्वज्ञेयो का भास है जिससे उन उनके ग्रहण रूप आकार पर्याय से संयुक्त है ऐसे अनंत पर्याय वाले निज आत्मायु को जो नही जाने तो अनंत पर्याय वाले अनंत द्रव्यों को सबको एक साथ फिर कैसे जाना जा सकता है।

यह आत्मा ज्ञानमय है, स्वयं ज्ञानमय है क्योंकि ज्ञाता द्रव्य है अतः आत्मा ज्ञान ही है। आत्मा का ज्ञान असाधारण गुण है वह प्रत्येक आत्मा में समानस्वभाव को लिए हुए है। त्रैकालिक है अंतः प्रतिभासमय होते हुए भी महासामान्य रूप है। प्रतिभास का स्वरूप पदार्थ विषय जानन है। कुछ भी ज्ञेय न हो तो जानन ही क्या। जानन का अर्थ जानना ही ये है। निरावरण निर्मल ज्ञान स्वरसतः सर्व ज्ञेयों के जानन रूप है अतः ज्ञान ज्ञातस्वभाव को अपेक्षा एक होकर भी प्रतिभास क्रियोद्यत अनंत ज्ञान विशेषों में कायता है। ज्ञान के ये अनंत विशेष नाना विध मति विविधश्रुत विविध अवधि विविधमनः पर्याय म एक विध केवल ज्ञान के प्रकार से अनन्त हैं। उनमें आदि के ४ ज्ञान तो कतिपय द्रव्यपर्याय विषयक प्रतिभास हैं और केवल ज्ञान सर्व द्रव्य पर्याय विषयक प्रतिभास है। जो प्रतिभास है सो प्रतिभास सामान्य को

व्यक्ति है। आत्मा प्रतिभास सामान्य लक्षणक है। प्रतिभास सामान्य प्रतिभासमयं अनन्त विशेष पर्यायों में व्यापी है। प्रतिभासमय विशेष अर्थात् ज्ञान स्वभाव की केवलज्ञान पर्याय अनन्त सर्व द्रव्य पर्याय नि-बन्धनक है, तब जो आत्मा सर्व द्रव्य पर्याय जिसके विषय हैं ऐसे प्रतिभास विशेषोंमें व्यापी प्रतिभास सामान्यरूप निज आत्मा को नहीं जानता है. वह ज्ञान सामान्यमें व्याप्य जो निजके ज्ञान विशेष हैं उसके विषयको अर्थात् सर्व द्रव्य पर्यायों के कैसे जान सकता है। जैसे दर्पण में बहुत से मनुष्यों का प्रतिबिम्ब है तो दर्पण को देखे बिना प्रतिबिम्ब कैसे दीखेजा सकते हैं। इसी प्रकार आत्मा ज्ञान सामान्य स्वरूप है उसकी पर्यायें ज्ञान विशेष हैं ज्ञान विशेष का निर्माण पदार्थ के जानन रूप अभेद हेतु से ही हुई है अर्थात् ज्ञानविशेष ज्ञेयभूत अनंत द्रव्यपर्या-यों के जानने वाले हैं। यहां यदि कोई ज्ञान सामान्यात्मक एक निज आत्मा को न जाने तो वह इस निज के चित्राम स्वरूप सर्व ज्ञेयाकारों को कैसे जाने और जो ज्ञेयाकार न जाने तो यह व्यवहार कैसे बने कि सर्व द्रव्य पर्याय उसके प्रत्यक्ष है। अतः यह बात निर्विवाद है कि जो एक निज को नहीं जानता है वह सर्व को नहीं जानता है। पहिली गाथा में तो यह बताया था कि जो सर्वको नहीं जानता है वह एक निज आत्माको भी नहीं जानता है। यहां यह कहा जारहा है कि जो एक निज एक आत्माको नहीं जानता है वह सर्व को नहीं जानता है।

प्रश्न—जो सब को नहीं जानता है वह निज को नहीं जानता है यह कैसे ठीक हो सकता जब कि छद्मस्थ अवस्था में सम्यग्दृष्टि भक्त सबको नहीं जानते परन्तु निज को जानते हैं ?

उत्तर—यहाँ से कम ज्ञान में भी जीव अजीवादि के परिज्ञान में परोक्षप्रमाण रूप श्रुतज्ञान के द्वारा सब पदार्थ जान लिये जाते हैं। अथवा छद्मस्थ के ज्ञान विशेष में प्रतिभस्यमन जो कुछ है उस सबको जाने बिना निजआत्मा को जो कि ज्ञान विशेष में व्यापक प्रति आत्म

सामान्य रूप है नहीं जान सकता।

प्रश्न—जो कुछ ज्ञेय हो रहा है उस रूपमें व्यापी निज को जाने तः जानो इससे सर्वज्ञ तो नहीं हो जायगा ?

उत्तर—छद्मस्थ अवस्था में स्वसंवेदन रूप से आत्मा जाना जाता है उससे स्वभाव रूप आत्मा की भावना रहती है उस निर्विकल्प प्रतिभा समय निजकी भावनासे केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इस केवलज्ञान अवस्थामें ज्ञान की सीमाका हेतु ज्ञानावस्था न रहने से यह ज्ञान निज शक्तिसे सबके ग्रहण रूप परिणमता है। यह सब ज्ञानका स्वरूप है तभी यहां ऐसा प्रतीत होता है कि मानों सर्वविश्व इस ज्ञानमें जम गया हो। क्योंकि आत्मा ज्ञानमय है स्वसंचेतक है यह स्व ज्ञान विशेष रूप परिणमता ही रहता है ज्ञान विशेष ज्ञेयके ग्रहण रूप है। यहां मानों ज्ञाता ज्ञेय का परस्पर संवलन हो गया सः चाहे इसका विवेचन करना अशक्य हो तो भी वस्तुतः देखो ज्ञाता ज्ञय अत्यन्त पृथक ही है। प्रतिभास्यमान ज्ञेय ज्ञान की अवस्था है जिस वाह्य ज्ञेयके अनुरूप यह प्रतिभास्यमान ज्ञेय है वह वाह्य ज्ञेय अत्यंत प्रथक परद्रव्य रूप है सो भी प्रतिभास में निजवृत्तिरूप प्रतिभास्यमान ज्ञेयतन्मय है यदि ऐसा न हो तो ज्ञान उस सर्व परिपूर्ण निज आत्मा को न जानेगा तब परिपूर्ण आत्मा का ज्ञान ही सिद्ध न होगा। अतः यह बात निर्विवाद प्रतीत करना चाहिये कि एक निजआत्माको जो नजानेतो सर्वको भी नहीं जानेगा।

यहां कोई यह तर्क करे कि सर्वज्ञ तो हो सकता है परंतु क्रम क्रम से,एक एक को जान जान कर जब सब को जान लेता तब वह सर्वगत बन सकता तो इसके उत्तर में श्रीमत्कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि यदि क्रम क्रम से अर्थ को जानने वाले की कल्पना करोगे तो इस प्रकार वह सर्वज्ञ सिद्ध हो ही नहीं सकता

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसोअत्थे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगयं ॥ ५० ॥

यदि क्रम क्रम से एक एक अर्थ को आलम्बन करके ज्ञानी के ज्ञान उत्पन्न हो तो वह न अविनाशी रह सकेगा न क्षायिक न सर्वव्यापी। क्योंकि जब ज्ञान क्रम क्रम से एक एक अर्थ का अवलम्बन कर प्रवर्तेगा तो जो किसी एक अर्थ के अवलम्बन से उत्पन्न हुआ था वह आगे अन्य अर्थ का अवलम्बन लेने पर नष्ट होगया। अर्थ के अवलम्बन में जिस अर्थ का अवलम्बन हो उसी अर्थ का ज्ञान प्रवर्तेगा। इस तरह पूर्व विज्ञात अर्थ ज्ञान एक भी न रहेगा। इसीप्रकार जब एक २ अर्थ को जानकर क्रमसे अन्य अन्य अर्थ को जानेगा तो वह ज्ञान क्षायिक नहीं हो सकता समस्त ज्ञानावरण का क्षय हो जाने पर अब ज्ञान की सीमामें बांधने का क्या हेतु रह गया। सीमित और क्रमज्ञ ज्ञान क्षायिक-निर्मल नहीं होता। इन दो दोषों के अतिरिक्त तीसरा यह दोष है कि वह ज्ञान सर्व गत हो ही नहीं सकेगा क्योंकि क्रम क्रम जानने का जिसका व्यापार चल रहा हो वह अनन्त द्रव्यों को व अनन्त द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप से सब को जान ही नहीं सकता। प्रथम तो क्रम क्रम से जानते रहने से उपयोग वर्तमान अर्थावलम्बन सम्बन्धी रहेगा वह सदा हो मात्र एक वर्तमान संयोगागत अर्थको ही जानेगा। संचय की भी अपेक्षा से सब को नहीं जानेगा। कदाचित ऐसा भी कहा जावे कि जिन भगवंतों को अनन्त काल विशुद्ध हुए व्यतीत होगया उनके तो अनन्त द्रव्यों के परिज्ञान का क्रम क्रम से करके भी संचय हो गया हो सो भी युक्त नहीं है क्योंकि यदि सर्व का संचय हो गया हो तो फिर इसके बाद आलम्बन के लिये कोई अर्थ तो अवशिष्ट रहा नहीं फिर तो व्यापार रुक जाने से ज्ञानशून्यता हो जायगी। यदि कोई अर्थ शेष है जानने के लिये सो इनके सर्वज्ञता नहीं रहेगी। इस तरह क्रमसे क्रमसे ज्ञान को जानते रहने के कारण ज्ञान को सर्वगत रख देने का जिनके विकल्प हो वह विकल्प यथार्थ नहीं है। क्योंकि इस परिस्थिति में ज्ञान पराधीन हुआ क्षयो-पशमाधीन हुआ व सामर्थ्य विहीन हुआ ज्ञान अर्थ का अवलम्बन ले

कर जाने तो पदार्थ का विनाश होने पर ज्ञान विनाश होगया क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ती का निमित्तभूत पदार्थ था उसका विनाश होने पर ज्ञान कैसे सत् रहेगा इस तरह ज्ञान पराधीन होने से नित्य न रहा ज्ञान क्रम क्रम से एक एक को जानते तो इसका हेतु ज्ञानावरण का क्षयोपशम मुख्य है। क्षयोपशम में प्रकृतियों का स्वदेशाभावोक्षय व उपशम तथा उदय रहना है जिसके ज्ञान की वृत्ति तो चलती है परन्तु अटक बनी रहती है तभी ज्ञान क्रम क्रम से एक एक पदार्थ को जानने की वृति रखता है ऐसा ज्ञान क्षायोपशमिक हुआ क्षायिक नहीं है। जो ज्ञान एक एक अर्थ को जानता है वह अनन्त के विज्ञान की सामर्थ्य से विहीन होने से से सर्वगत नहीं हो सकता। अतीन्द्रिय केवलज्ञान की सर्वज्ञता क्रम क्रम से जानने में नहीं रहती। भगवत केवली प्रभू का ज्ञान युगपत् ही सर्व लोका लोक को अनन्त पर्यायों सहित है। ज्ञान की स्वभाववृत्ति ऐसी ही है। ऐसा ही वर्तने का मेरा स्वभाव है। यह निर्मलपरिणति प्रभाव स्वभाव दृष्टि का परिणाम है। स्वभाव दृष्टि की निर्मलता से निर्मल स्वभाव वर्तन होता है। अनन्त सिद्ध महंत भगवतोंने इसी प्रक्रिया से नैर्मल्य अपना किया है कारणसमयसार चेतन्य स्वभावप्रति भासमय में रहो इस प्रकार निषेधरूप से क्रमकृत प्रवृत्ति का खंडन करके अब युगपत् ज्ञानवृत्ति से ही सकलज्ञान की सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं

तेकालणिच्चविसमं सकलं सव्वत्थ संभवं चित्तं ।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्य माहप्पं ॥५१

जिनेन्द्र प्रभुका ज्ञान नाना प्रकार के सब अर्थों को एक साथ जानता है। वह ज्ञान इस निज ज्ञान की जाती का है अहा ज्ञानका माहात्म्य बहुत ही उत्तम है। जिनेन्द्र प्रभुका ज्ञान जिन सब अर्थों को जानता है वे सब अर्थ कैसे हैं। तीनों कालों में सदा अपने अपने समय के व्यतिरेकी पर्यायों से परिणत हुए हैं। समस्त लोक में उत्पन्न व स्थित हैं ऐसे समस्त अर्थ ज्ञान को जैन ज्ञान जानता है। यहां जैन ज्ञान से तात्पर्य अरहंत और सिद्ध प्रभुके केवल ज्ञान से है। ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से उत्पन्न हुए का ऐसा ही अपूर्व परम माहात्म्य है। यह क्षायिक ज्ञान

एक साथ ही सर्व अर्थों को आलम्ब करके प्रवर्तता है यहां अर्थों के अलंबन का तात्पर्य इतना ही है जो क्षयिक ज्ञान सम्भूत अर्थों को जानता है असत् को नहीं जानता। वस्तुतः अर्थों को नहीं जानता किन्तु सन् अर्थ के ग्रहण रूप निज ज्ञेयाकार को जानता है। यहीं ग्रहण उसी विषय का होता जो कि सत् है, था, व होगा। यही अर्थों का आलम्बन है। यह क्षायिक ज्ञान नित्य है। यद्यपि यह ज्ञान भी वस्तुभूत होने से प्रति समय वर्तन करता रहता है तथापि निरुपाधि, अत्यन्त शुद्ध होने से प्रत्येक वर्तनायें समान होती हैं अर्थात् सर्वज्ञ भगवान जो पहिले समय में जानते हैं वही दूसरे समय में जानते है वही वही प्रति समय में जानते हैं अतः समस्त वस्तु का ज्ञेयाकार प्रतिसमयमें है से टंकोत्कीर्णवर्ण सकलज्ञ में निखात (गढ़ गये की तरह) हो गये हैं अतः नित्य है। केवल ज्ञान समस्त सत् को जाना है अतः स्वभावका पूर्ण विकास यहीं है। ज्ञानका स्वभाव जानना है और जानना भी पूर्ण। इसकी पूर्णता समस्त अर्थों की ज्ञेयाकारता में है। यही स्वभावकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। यह समस्त ज्ञानावरण के क्षय से प्रकट होता है सो यह केवल ज्ञान क्षायिक भाव है ज्ञान का स्वभाव वर्तन कितना है जितना समस्त सत् का परिच्छेदन है। इस परिपूर्ण ज्ञान स्वभावको प्रकट करनेवाला क्षायिक भाव केवल ज्ञान है। यह ज्ञान समस्त अर्थो का ज्ञान करता है ये अर्थ भी सब एकसे सरल सीधे नहीं हैं किन्तु तीनों काल विषम परिणमन करते रहने वाले हैं ऐसे सर्व विषम वस्तुवोंको और समवस्तुवों को जो कि अनेक प्रकारके हैं सबको जानता है। यह जानना भी क्रम से क्योंकि क्रमसे जानते रहने में किसी भी समय सर्वका जानना होता ही नहीं है अथवा क्रमसे जानने वाला ज्ञान अपूर्ण है यहां तो समस्त विघ्न निमित्तों का अभाव है और वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधि के मुख्य कारण स्वरूप समयसार की अनन्य दृढ भावनासे पूर्व योग्यताका विकास हो गया है फिर क्रमसे जानते रहने की अशक्ति कैसे संभव है। यह केवल ज्ञान तो समस्त द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप से व्यवस्थित

समस्त अर्थोंको एकसाथ जाननेरूप आक्रमण करता है। अहा जिनेद्र प्रभुके ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। यह ज्ञान सर्व, नहीं है इस में कोई सन्देह नहीं है। केवलज्ञान और यह हमारा ज्ञान एक ही जातिका है पुराण पुरुषों की तरह हम भी स्वभाव का दृढ़ अवलम्बन लें यही हमारा हित है। हे सर्वगतस्वभाव! जयवंत प्रवर्तो।

आज ज्ञानाधिकारकी अन्तिम गाथा है। यह अन्तराधिकार है। प्रवचनसारमें ३ महाधिकार है। ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार और चरित्राधिकार। पहला जो ज्ञानाधिकार है जिसका दूसरा नाम ज्ञानतत्वप्रज्ञापन है उसके भी कई छोटे अन्तराधिकार है, उनमें छोटा ज्ञानाधिकार आज समाप्त होता है। तीन हिस्से वाला ज्ञानाधिकार समाप्त नहीं होता परन्तु उस ज्ञानाधिकारका छोटा ज्ञानाधिकार आज समाप्त होता है। इस ज्ञानाधिकारके अन्तमें यह बतलाते हैं कि दुनियां में जो बन्ध होते हैं, जिन जीवोंके जो बन्ध होते हैं, वे बन्ध ज्ञानसे नहीं होते, किन्तु ज्ञेयार्थपरिणमन क्रियासे होते हैं। ज्ञेय पदार्थोंके अनुकूल जो अपना परिणमन है उस क्रियासे बन्ध होता है।

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूत बंधं प्रतिषेधय न्नुपसंहरति-अब ज्ञानी जीवके ज्ञप्ति क्रिया मौजूद होनेपर भी उसकी क्रियाका फल बन्ध होता है, तो वह बन्ध ज्ञानी जीवकी ज्ञप्ति क्रियासे नहीं होता है, ऐसा कहते हुए इस प्रकरणको समाप्त करते हैं।

णवि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

यह ज्ञानी आत्मा न तो पदार्थमें परिणमता है, न पर पदाथ को ग्रहण है और न पर पदार्थमें उत्पन्न होता है, किन्तु वह उन परको जानता हुआ और निश्चयसे उन पदार्थोंके निमित्तसे होने वाले ज्ञानकी तरंग रूप ज्ञेयाकारसे बन्धा हुआ वह ज्ञानी अबन्ध ही कहा गया है। पहले यह बताया गया था कि केवलज्ञानीका ज्ञान एक साथ तीन लोक तीन काल के सर्व पदार्थोंको जानता है। यह है ज्ञानकी ज्ञप्ति क्रियाका उत्कृष्ट आ-

दर्शी। जिस ज्ञानमें उतनी पूरी वात नहीं आती, एक वीतरागी ११ वें १२ वें गुणस्थानको छोडकर यह कहा जा सकता कि वहां कोई न कोई राग अवश्य है। एक पदार्थको छोडकर दूसरे पदार्थको जाननेकी प्रवृत्ति रागको प्रेरणाके कारण होती। परन्तु अर्हन्त देवमें इच्छाका अत्यन्त अभाव है, इसलिये उनमें ऐसी क्रमप्रवृत्ति नहीं होती जानन की। वहां तो जो जाना सो जाना। वहां राग की प्रेरणा नहीं होती। वे तो एक साथ समस्त पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके कारण सर्वज्ञ कहलाते हैं, ऐसी वात जानकर हमको करना क्या चाहिए? हमको यह करना चाहिए कि मूर्ख जीवों के चमत्कार कर देनेके कारण जो मंत्र विद्या, ज्योतिष विद्या, जो जो कि खंड ज्ञान है, ऐसे खंड ज्ञानोंसे जो कि परमात्माकी भावनाके नाश करनेके ही कारण है, जिनसब का उद्देश्य पर पदार्थ ही रहता है, जो पर पदार्थके लक्ष्यके कारण परमात्मा की भावनाका घात रहा उनसे विमुख होकर एक निज सहज शुद्धसंवेदन में भावना करें।

यहां यह प्रश्न हुआ कि ज्योतिष विद्या, मंत्र विद्या, आदि जो कि परमात्माकी भावनाको नष्ट कर वाले कहते हैं तो क्या ये द्वदशांग में नहीं आते। इसका उत्तर यह है कि द्वादशांगमें तो सब ही आते हैं पाप भी मिथ्यात्व भी द्वादशांगमें आते हैं और उक्त मध्यमविद्यायें भी किन्तु सबके उपयोगका विवेक कर ना चाहिये।

हां तो कहते कि मुमुक्षुको यह चाहिये कि वह इन खंड विद्याओं या खंड ज्ञानोंको छोडकर केवल शुद्ध स्वरूप वांछा रखे और यह विचारे कि राग द्वेष रहित केवल प्रतिभासकी स्थिति ही हित है उसकी ओर ही उसका लक्ष होना चाहिए। ऐसे ज्ञानी जीव इन मूढ़ जीवोंके चमत्कार आदिमें अपने चित्त नहीं लाते हैं। उनके तो केवल एक निज शुद्ध आत्माकी भावनामें ही चित्त रहता है। यहां जो हमने समझा और लोगोंने समझा, उस वल से तो निषेध कर रहे कि दुनियांके किसी भी अन्य काम में अपनी भावना नहीं कनरा चाहिये और भावना यहां

ही करना चाहिए अर्थात् सहज शुद्ध आत्मा के ज्ञानमें भावना करना चाहिए बस यही चीज निरंतर रखे। अर्थात् सहज शुद्ध आत्मा आत्मा के त्रैकालिक अखंड एक स्वरूप जो ज्ञान स्वभाव है उस ज्ञान स्वभावमें अपने आप को अभेद करके यही मैं हूं, इस तरहसे कल्पना की, उस कल्पना के द्वारा या उस कल्पना करनेके अनन्तर एक जो सहज शुद्ध आत्मामें रुचि स्थिति होती है, उस स्थितिकी भावना करना चाहिए। वह अभेद ज्ञान कैसा है ? सारे रागादि विकल्प जालोंसे रहित है। एक यह काम करनेसे यह अनुभव होता कि जो पहले जैन ज्ञानका वर्णन किया, पूर्ण ज्ञानका वर्णन किया, केवलज्ञान का वर्णन किया, उस ज्ञान की उत्पत्ति होती ही है। वह केवलज्ञान क्या ? चाहे सर्वज्ञ कहदो, चाहे सर्वज्ञान कहदो, चाहे केवलज्ञान कहदो, जो कि एक साथ सर्व वस्तुओं का प्रकाशक है, अखंड एक प्रतिभास रूप है, ऐसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति का कारणभूत जो आत्माका शुद्ध निज अभेद ज्ञान है' उसकी भावना करो। जिस केवलज्ञानके विषयमें हमने अब तक समझा, जिस केवल ज्ञान का स्वरूप समझा' उस केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है तो वह केवल निज सहज शुद्ध त्रैकालिक ज्ञान स्वभाव आत्माका अभेद ज्ञान है। भीतरसे यह मैं, एक यह आवाज निकलती। अहं अहं का सर्व जीवोंको प्रत्यय है। कितने ही जीव उस प्रत्ययको शरीर में लगाते। कुछ बुद्धि पर ही तो कहते हैं कि शरीर मेरा है। शरीर मैं हूं, ऐसा नहीं यदि ऐसा कह दिया तो भेद बुद्धि होगी। वहां तो मैं शरीर नहीं बन पाया। शरीर को देखा तो ऐसा प्रत्यय किया कि यह मेरा है, बाह्य पदार्थोंको देखा तो उनमें प्रत्यय किया। तो अपने आपमें जो कषायोंका कालुष्य पड रहा' उनका अनुभव किया' वहां मैं का प्रत्यय किया, कुछ हमने खंडज्ञानका अनुभव किया उनमें भी प्रत्यय किया। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव शरीरमें, कषायोंमें, खंडज्ञानमें अहं का प्रत्यय नहीं करके एक सामान्य तत्त्व जो अखंड त्रैकालिक है, उसमें मैं का अनुभव करता। विकल्प नहीं उसका अनुभव करनेके बाद जब अभेदज्ञान होजाता है तो

वह अभेद ज्ञानकी स्थिति केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है। किसी पदार्थको सोचते सोचते एकाग्र चित्तसे सोचने पर उस पदार्थ में अभेद पना आजाता। इस विषयमें कुछ लौकिक दृष्टान्त भी कुछ अंशों तक घटित होते हैं। जैसे कोई मनुष्य ऐसा ध्यान करता है कि मैं गरुड हूं, ऐसा अपने में गरुडका अभेद करनेसे जैसे उसे अपना मनुष्यत्वका पता नहीं रहता परन्तु गरुडरूपसे अपना अनुभव होने लगता। एक देहाती एक भूत, व्यन्तरके चबूतरेपर चढकर अपने आपमें यह अभेद करता कि मैं भूत हूं। जब वह ऐसे अनुभवमें एकाग्र चित्त होजाता कि मैं भूत हूं और अपना मनुष्यका रूप भुला देता है, तो वह भूतोंकी सी चेष्टाएं ही करने लगता। समयसारमें बताया कि एक मनुष्य यह एकाग्र चित्त हो कर सोचता कि मैं बड़े सींगों वाला ४ हाथ वाले सींगों वाला भैंसा हूं और उसमें इतना एक चित्त होकर ध्यानमें लग गया कि वह अपना मनुष्यपना भूल गया और यह ही अनुभव हुआ कि मैं भैंसा हूँ। इतना सोचते सोचते उसका ध्यान दरवाजेकी ओर जो डेढ हाथ चौडा था, उसको ओर गया। भैंसेका तो प्रत्यय हुआ ही और उसके साथ दरवाजे पर दृष्टि पडी कि डेढ़ हाथ दो हाथ चौड़ा दवर्जिमें मैं कैसे आंऊगा, वह घबरा गया कि मैं दरवाजेमें से कैसे निकलूंगा। यह लौकिक उदाहरण है। यहां इससे ऐसा मतलब समझना है कि जो ऐसी सहज शुद्ध आत्मामें अहं अहं करके अभेदज्ञान करता है उसको जिसकालमें ऐसी प्रवृत्ति मिलती है कि वह अनेक कर्मोंको नष्ट कर देता है। दृष्टान्त में तो असत् में कल्पना हुई यहाँ सत्में प्रत्यय हुआ उस निज शुद्ध सामान्य तत्व, जिसे परमात्माका भाव भी कहते ऐसे उस ज्ञान स्वभावमें अहं का अनुभव ऐसा प्रत्यय करते करते उसमें अभेदज्ञानरूपसे अवस्थित रह जाता, उसकी मोटी पहिचान क्या ? कि निज के उपयोगके उस परिणमनके दुवारा उसके उस कालमें दूसरा कोई खयाल नहीं रहता न उसे क्षेत्र का ध्यान रहता और न शरीरका ध्यान रहता और न सम्बन्धका भान रहता और न कोई मानसिक भान रहता। ऐसे उस अभेद ज्ञानके अनु-

भवसे जितने कर्म खिरे उन्हें अज्ञानी जीव करोड़ों जन्म तक तप करे तो भी नहीं खिरा सकता। ऐसा वह महान अनुभव है कि अज्ञानी जीव करोड़ों वर्ष तक तप करनेके बाद भी वह अनुभव ग्रहण नहीं कर सकता ज्ञानी उस अनुभवको कुछ ही समयमें ग्रहण कर लेता है। ऐसे इस सहज शुद्ध आत्माके अभेदज्ञानमें भावना करो तो उसके द्वारा भविष्य में केवलज्ञानकी उत्पत्ति होगी और अनन्त सुख होगा और दुखोंका नाश होगा। जहां जैसी अवस्थामें हम हैं उसी अवस्थामें यह भावना होनी चाहिए। जितना यह किया उतना तो धर्म और जितना पर लक्ष्य किया उतना अधर्म। धर्म जो है वह चरित्र है और चरित्र है जो निज आत्मा में सहज स्वभाव में अवस्थामें है और निज आत्मा का सहज स्वभाव राग द्वेष मोहसे रहित है और वह ही धर्म है। उसीको कुन्दकुन्द भगवानने धर्म बतलाया और धर्ममय उसी सहजस्वभावी आत्मामें परम शान्ति होती है। धर्म शान्ति होती है यह भी कहने से धर्मकी निन्दा होती है। धर्म ही शान्ति है। धर्म ही स्वयं शान्ति है। धर्म भाव और शान्ति भाव अलग अलग चीज नहीं हैं। यहाँ यह वर्णन चलरहा है कि निज सहज शुद्ध आत्माका जो अभेद ज्ञान है वह केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है। यह आत्माकी निर्मलता का कारण है। यही निश्चय धर्म है इसके अलावा और और क्रियाओं और और बातोंमें ऐसा ज्ञानी जीव जब शुभ राग भावका उदय कर लेता है तो यह यहचेष्टायें होती हैं इसलिये यह व्यवहार धर्म है प्रश्न व्यवहार से धर्म ऐसा क्यों कहा? क्या व्यवहारधर्ममें कुछ सम्बन्ध नहीं है? तो पशुकी हिंसाको व्यवहार धर्म क्यों नहीं कह दिया। भगवानकी पूजा ही को व्यवहार धर्म क्यों कहा। यदि व्यवहार धर्म झूंठा धर्म है तो वह तो कहीं भी हिंसा झूंठ आदिमें भी तो चिपट सकता है। उत्तर इनसे उसका कुछ औपचारिक सम्बन्ध है। वह कितना है और कितना नहीं है यह भी वर्णन प्रारम्भसे ही चल रहा है। भगवानकी पूजा आदिमें व्यवहार धर्म नाम क्यों पड़ा। देखो जिसके शुरुसे हृदय में धर्म है-नहीं, वह पूजा

भी रखता नहीं है। इसलिए यह धर्म जिस स्वभावका नाम है या जो उसका स्व रूप है उसको धर्म का लौकिक स्वरूप कह सकते इसलिए निश्चय और व्यवहार साथ साथ भी चलते हैं। यदि निश्चय को छोड़दो तो तत्व छूट जाय और व्यवहारको छोड़दो तो तीर्थ छूट-जाय।

कररहा है लोक पूजा करता है, फिर कुछ शुभ परिणाम होते रहे, कुछ वढ़िया सी वात हुई और कुछ सुभोपयोगका अवसर मिला और वह पूजा कर रहा है अभी सहज शुद्ध आत्माका अभेद ज्ञान उसमें नहीं आत्मामें त्रकालिक सामान्य तत्वमें अभेद रूप रहने-की स्थिति वाला धर्म अभी उनमें नहीं आया। खैर ऐसा करते हुए उसमें कोई ऐसा भा आ सकता है कि इनका लक्ष छूट कर सहज शुद्ध आत्माकी वुद्धि में आ जाय, इसलिए इसे व्यवहारधर्म कहा है। निश्चयसे धर्मका स्वरूप नहीं वताते। परन्तु कुछ लाभ हो रहा है। जो यह सहज शुद्ध आत्माके अ-भेद ज्ञानकी कल्पना चलने लगे, इसलिए वह व्यवहार धर्म है। अव यहांके ज्ञाता स्वरूप दृष्टिसे यह देखते हैं कि धर्म तो केवल इतना है। दूसरे, ऐसे अभेदज्ञानीके जव राक आये तव राग आने पर कवड्डी तो नहीं खेलने लगेगा। ज्ञानी को राग आवेगा तो ऐसी क्रियाओं को आ-श्रयमात्र करके उठकर आया कि व्यवहारधर्मके परणामों को लेकर आ-यगा इसका सम्वन्ध वतानेकेलिए ही इसका नाम व्यवहार धर्म है। प्रायोगिक से धर्ममें व्यवहार धर्मका सम्वन्ध भी छोड़ो। यह क्रिया रूप परिणाम स्वर्ग धर्मका स्वरूप है। धर्म तो सहज शुद्ध आत्मा के अभेद ज्ञान व उसकी स्थिरताको कहते हैं।, इसलिए यह धर्मका स्वरूप नहीं है। परन्तु यह व्यवहारधर्म ही वह धर्म है ऐसी श्रद्धा भी रखता

व्यवहार धर्मकी दो किस्म वतलाई। व्यवहारधर्मकी तीसरी किस्म भी लो। द्रव्यकी जो भी पर्यायकी तरंग होती है वह तरंग व्यव-हार धर्म है अर्थात् तीसरी वात यह है कि जो सामान्य तत्त्व है वह तो निश्चय है क्योंकि ध्रुव एक स्वरूप है और जो विशेष तत्त्वपरिणमनरूप

हैं वह व्यवहार है उक्त कथन में अपने अपने स्थान में सब समर्थ हैं। इन तीन प्रकार के व्यवहार धर्मोंमें से सबसे नीचे नम्बरका व्यवहार धर्म यह है जिसके विषय में शंका हुई है। उससे ऊंचे दर्जेका व्यवहार धर्म रागके उदयसे सब पदार्थो को क्रिया जाननेका व्यवहार धर्म है और ज्ञानीके जो आत्मामें है, वह वर्तमान को जो तरंग है वह भी व्यवहार धर्म है, परन्तु वह सबसे ऊंचा कथनरूप व्यवहार धर्म है।

केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण वह सहज शुद्ध आत्माका अभेद ज्ञान है। छद्मस्थ ज्ञानीके भी और ऐसे पूर्ण ज्ञानी केवलज्ञानीके भी ज्ञप्ति क्रिया मौजूद है। फिर भी उसके क्रियाके फल स्वरूप जो बन्ध है उसका निषेध करते है कि ज्ञानीके ज्ञान से कर्मका बन्ध नहीं होता। पहले कह दिया कि अज्ञानी ही ऐसे हैं जो कि उदय में आएं, उनमें रागादि भाव करते हैं वे तो बन्ध का अनुभव करते हैं, परन्तु कर्मके उदयमें जो होता है, वह होता है उनमें जो रागादि भाव नहीं करते, वे कर्मका बन्ध नहीं करते। केवलज्ञानी जीवके कर्मका उदय होता है। समवशरण, विहार, दिव्यध्वनि, खड़े होना बैठना, सब कुछ कर्मके उदयसे होता है। परन्तु उनमें रागादि भाव नहीं होनेके कारण वे कर्म बन्ध को नहीं करते। जानने में आये हुए पुद्गल कर्मके अंश हैं ऐसा होने पर भी जो आत्माका संचेतन करते हैं तो वे ज्ञेयार्थपरिणमन क्रियासे युक्त मोहादि भावसे युक्त क्रिया होती है तो उस क्रियासे फलभूत जो क्रिया दे उससे बन्धका अनुभव करते ज्ञानक्रियासे अनुभव नही करते। पहले प्रकरणमें एक गाथा आई जिसका अर्थ है कि ज्ञानी और ज्ञान न पर पदार्थ को ग्रहण करता और न पर पदार्थको छोड़ता वह तो पर पदार्थका मात्र ज्ञाता ही है। किसीने रुपयेका त्याग कर दिया तो वह रुपये उसमें लगे हुए ही कब थे। उसमें उन रुपयोंमें मात्र विकल्प कर रक्खा था, अब उनमें का विकल्प जो था उसका त्याग कर दिया, वह तो उसका था ही कब? कोई आदमी कहे कि मैं मेरे रुपयोंको इसलिए त्यागता हूं कि इनका सदुपयोग हो। ऐसा

कहने वाले आदमीने तो विकल्पका त्याग करनेके बजाय एक विकार अपनेमें और लगा लिया कि यह सदुपयोगमें जाना चाहिए। और पता क्या उस त्यागके स्रोत में क्या क्या विकल्प हुए हां उस विकारके कारण जो बात बनी उससे लोग यह कहते हैं कि इनसे १० हजार रुपयें का त्याग किया। पदार्थ हममें है ही नहीं तो उसको छोड़ा क्या ? इस प्रकार अर्थोंमें परिणमन क्रिया जिस ज्ञानीकी आत्मामें नहीं है वह अर्थोंको न ग्रहण करता और न अर्थोंमें उत्पन्न होता। वहां तो एक केवल ज्ञप्ति क्रिया ही होती और वह उस क्रियाका बन्धका अनुभव नहीं करता।

एक पुरुष बारह वर्षके लिए अपनी स्त्री और बच्चेको छोड़कर परदेश गया। बारह वर्ष बाद स्त्रीने पत्र डाला कि जल्दी आओ। वह बोला कि मैं कोई खास काम में फंसा हुआ हुं मौका मिलते ही आऊंगा उसका पुत्र जब वह गया था तो बिल्कुल छोटा था। वह अब बड़ा हो गया और स्त्रीने अपने पुत्रको कहा कि जा और अपने पिताको फलां जगहसे जाकर लेआ। रास्तेमें किसी धर्मशालामें वह पुत्र ठहरा और उसी धर्मशालामें रात बितानेकेलिए पिता भी उस लड़केके बराबरवाले कमरेमें ही ठहरा। आधी रातको लड़केके पेटमें बड़ जोरका दर्द चला। सर्दीकी रात थी। उस पेटके दर्दसे वह लड़का चिल्ला चिल्ला कर रोया। बाप के पास पेटके दर्दकी अचूक दवा भी थी, परन्तु उसने सोचा कि यह आधी रातको हमको कौन तंग करता है वह चौकीदारके पास गया और उससे बोला कि हमने तुमको दश रुपये इनामके इस बातके दिये हैं कि हमें रात को आराम मिले, परन्तु न जाने यह कौन लड़का है जो हमको तंग करता है, इसे यहांसे निकालो यदि नहीं निकालते होतो मैं तुम्हारे मंत्रीजीसे शिकायत कर दूंगा कि इसने मेरेसे १० रु० रिश्वतके लिए। इतने ही में उस लड़केके पेटमें दर्द बढ़ गया और वह मर गया। सुबह उठकर बाप अपने घरके लिए रवाना हुआ। घर पहुंचकर उसने अपनी स्त्रीसे पूछा कि

०३६

लड़का कहां है तो स्त्रीने कहा कि वह तो तुम्हें ढूंढनेकेलिए गया है। बापफेर लड़के को ढूंढने गया। वह उसी धर्मशालामें पहुंचा और चौकीदारसे पूछा कि यहां इस नामका कोई लड़का कभी ठहरा था क्या? रजिस्टर देखा गया और बताया गया कि जिस दिन ठहरा था उसी दिन उसके बराबरके कमरेमें ही इस नामका लड़का ठहरा हुआ था जो उस दिन पेटमें दर्द होनेके कारण मर गया ज्योंहि बापने यह सुना तो वह बेहोश होगया। देखो यह लड़का मरा तो उसके सामने ही था, उसने उसे निकालनेके लिये भी उस समय कहा था, परन्तु उस समय तो वह बेहोश नहीं हुआ, पर अब बेहोश होगया। कारण यह था कि उस समय उसे यह पता नहीं था कि यह मेरा ही लड़का है और उसके आत्मामें तद्विषयक मोह भाव नहीं था, परन्तु अब जब पता लगा कि वह जो मरा था वह मेरी आंखोंके सामने ही मेरा ही लड़का मरा था, इसलिए उसे मोह पैदा होनेके कारण वह बेहोश होगया इसे कहते हैं कि ज्ञेय परिणमन कर लिया। उस समय क्यों नहीं बेहोश होगया, क्योंकि वहांपर प्रेम नहीं दौड़रहा था क्योंकि उस राग नहीं था, उसे पता नहीं था और जिस समय यह मालूम हुआ कि उसका ही लड़का था, वहाँ बेहोश होगया। हम ही अपने अन्तरमें ऐसा विकल्प उठाते कि मेरा है, जब तो बन्ध होता है। जब मरनेका ज्ञान था तब तो राग नहीं था और उस समय राग न होनेके कारण दुःख नहीं था, परन्तु वह मरनेका दृश्य सामने नहीं है फिर भी उसको दुःख होरहा है क्योंकि वहाँ राग है। इसलिए उपदेश यह दिया जाता कि भाई राग मत करो।

जिसने कर्मको नष्ट कर दिया, मोहको नष्ट कर दिया, घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया, वह एक साथ सारे विश्वको जानते हुए, वर्तमान और भविष्य और भूतको जानता है, सर्व कुछ एक साथ जानता होता, मोहके अभावमें जिस समय यह आत्मा इस प्रकारका जानने वाला हुआ है वह पर पदार्थरूप परिणमन नहीं करता। इसलिए

यह तीन लोकको जानता होता । वह ज्ञान मूर्ति कैसी है । वह तीन लोक जिसका कि बड़ा विस्तार है और जिस विस्तारके कारण ज्ञप्ति क्रिया में भी ऐसा विस्तार आया है कि सारे ३ लोक के आकारों को जिसने पी लिया है, निश्चय से यह आत्मा अपने ही प्रदेशमें रहकर जो असंख्यात प्रदेशों में जो ज्ञान है उसकी क्रियाको जानता है । तीन लोक के तीन कालके सारे द्रव्य गुण पर्याय जिसने पी लिये हैं, ऐसा यह ज्ञान तीन लोकको, पृथक पृथक देखता हुआ वह भी ज्ञान मूर्ति पर-पदार्थ रूप नहीं परमणता ।

इस प्रकार आज ज्ञानका अथवा केवलज्ञानका वर्णन समाप्त हुआ कलसे आनन्दका प्रकरण आरम्भ होगा । यह स्वाभाविक ज्ञानका वर्णन है इससे हमें यह उपदेश मिलता है कि हे आत्मन् तू स्वभावसे ऐसी परिस्थितिवाला है देखो देखो इस स्वाभाविक ज्ञानमें न तो अपूर्णताका नाम है न आकुलताका रंच काम है, परम आनंदका सधाम है, इसकी प्राप्तिका पहिला यत्न मोक्षी थाम है, इसकी लीनताके लिये ही योगियोंके आठों याम है, यही अभिरामोंमें अभिराम है, यही सत्य विश्राम है, यहीं ही वास्तविक आराम है । अस्वाभाविक अपूर्ण ज्ञानपर इतराना मूढोंका ही काम है । हे मुमुक्षिन् ! अब सर्व विकल्प विसार कर एक सर्वज्ञानपर्यायोंके स्रोतरूप निज स्वभावकी ओर ही रहो यही सर्व कल्याणका पिता है । निज स्वभावदृष्टि से निजस्वभावको कारणरूपसे उपादानकरके स्वयं प्रवेश [illegible] पर्यायों के प्रवाह चल पड़ेंगे जो पूर्ण सुखोंकरि व्याप्त है । हे ज्ञानमूर्ति जयवंत होओ ।

इस प्रकार अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमत्सहजानन्द महाराज ने सन् १९५३ जयपुर वर्षायोगमें जो प्रवचन किया था उसमें से—प्रवचनसारके ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन अधिकारके ज्ञानप्रपञ्चनामक अन्तराधिकार तक प्रवचन समाप्त । ॥ इति शुभम् ॥

अर्जुन प्रिंटिंग प्रैस, सोती गंज मेरठ में मुद्रित ।